श्रीमद्-अमितगति आचार्य विरचित

योगसार (अध्यात्मतरङ्गिणी)

जीवाधिकार (१)

हिन्दी पद्यानुवाद एवं अनुवाद सहित

अनुष्टुप छंद

विविक्त-मव्ययं सिद्धं, स्वस्वभावोपलब्धये।
स्वस्वभावमयं बुद्धं, ध्रुवं स्तौमि विकल्मषं।।१।।
जो विविक्त अव्यय अविनाशी, स्वस्वभाव उपलब्धि स्वरूप।
स्व स्वभावमय बुद्ध रहा ध्रुव, विरहित पाप नमूँ शिवरूप।।१।।

अर्थ—विविक्त-कर्मों के सम्बन्ध से रहित, अव्यय-समान अवस्थित, आत्मिक-स्वभाव स्वरूप, बुद्ध, अविनाशी, पाप रहित श्रीसिद्धपरमेष्ठी को मैं (ग्रन्थकार अमितगति आचार्य) अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—जो सिद्ध-परमात्मा, कर्मों से रहित होने के कारण विविक्त हैं, चरमशरीर से किञ्चित् ऊन परिमाण से घट बढ़ नहीं सकते इसलिये अव्यय-अवस्थित हैं, सम्यग्दर्शन आदि आत्मिक गुणस्वरूप होने से स्व स्वभाव स्वरूप हैं, विद्वान् लोग उनके अनुपम बोध की स्तुति और प्रशंसा करते हैं एवं समस्त पदार्थों के जानने वाले हैं इसलिये बुद्ध, अविनाशी होने से ध्रुव और पापों से रहित होने के कारण विकल्मष हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा को उनके स्वरूप की प्राप्ति के लिये मैं ग्रन्थकार नमस्कार करता हूँ।।१।।

जीवाजीव द्वयं त्यक्त्वा, नापरं विद्यते यतः।
तल्लक्षणं ततो ज्ञेयं, स्वस्वभाव बुभुत्सया।।२।।
जीव अजीव छोड़कर कोई, अन्य पदार्थ नहीं हैं जान।
इनमें ही सब रहे समाहित, दोनों के लक्षण पहिचान।।२।।

अर्थ—संसार में सिवाय जीव और अजीव के दूसरा कोई पदार्थ नहीं है जितने भर इन्द्रिय-

गोचर और अतींद्रिय पदार्थ हैं वे सब अजीव के ही अंतर्गत हैं इसलिये स्वस्वरूपज्ञान की अभिलाषा से जीव अजीव दोनों का लक्षण जानना उचित है।

भावार्थ–जिसमें जानने और देखने की शक्ति मौजूद है वह जीव और जिसमें यह शक्ति विद्यमान न हो वह अजीव कहा जाता है तथा यह लोक जीव अजीवमय ही है जीव अजीव से भिन्न नहीं इसलिये इन जीव और अजीव दोनों पदार्थों के लक्षण स्वस्वरूप के ज्ञान के लिये अवश्य जानने चाहिये। क्योंकि–

यो जीवाजीवयोर्वेत्ति, स्वरूपं परमार्थतः।
सोऽजीव परिहारेण, जीवतत्त्वे निलीयते।।३।।
जीवाजीव का लक्षण जो भी, जाने भाई भली प्रकार।
वह अजीव को छोड़ जीव में, रत हो जाए अपरंपार।।३।।
जीवतत्त्वविलीनस्य, रागद्वेष परिक्षयः।
ततः कर्माश्रवच्छेदस्-ततो निर्वाण संगमः।।४।।
क्योंकि रागद्वेष नश जाते, उन जीवों के क्षण में जान।
जिनके नशते ही अजीव के, नशते होवे पद निर्वाण।।४।।

अर्थ–जो महानुभाव वास्तविक रीति से जीव और अजीव के स्वरूप को जानता है वह अजीव तत्त्व को छोड़कर जीवतत्त्व में लीन होता है, जीवतत्त्व में लीन होने पर उसके राग और द्वेष का सर्वथा नाश हो जाता है राग द्वेष के नष्ट हो जाने पर अजीवकर्म भी नहीं रहते और समस्त कर्मों के नाश हो जाने पर उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।।३-४।।

भावार्थ–लोक कांच को देखकर रत्न की ओर और पीतल को देखकर सुवर्ण की ओर ऋजु होते हैं तो जिस प्रकार रत्न को उत्कृष्ट मानकर उसके अपनाने में कांच और रत्न दोनों का ज्ञान कार्यकारी है और सुवर्ण को उत्तम मान उसके अपनाने में पीतल और सुवर्ण दोनों का ज्ञान उपयोगी है बिना कांच और पीतल के जाने रत्न और सुवर्ण दोनों पदार्थ उत्कृष्ट नहीं मालूम पड़ सकते उसी प्रकार अजीव पदार्थ को जानकर और उसके गुणों को पहिचान कर ही जीव पदार्थ की ओर ऋजु हुआ जाता है इसलिये जीव पदार्थ में लीनता होने के लिये जीव अजीव दोनों ही पदार्थों का ज्ञान कार्यकारी है बिना अजीव पदार्थ को जाने जीव पदार्थ अपनाया नहीं जा सकता और जो मनुष्य जीवतत्त्व में लीन हो जाता है उसके राग और द्वेष सर्वथा नष्ट हो जाते हैं रागद्वेष के नाश से कर्मों का भी बंध नहीं होता क्षय ही होता है और समस्त कर्मों के क्षय से उसे मोक्ष

की प्राप्ति होती है इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि स्व स्वभाव के जानने के लिये जीव अजीव दोनों ही पदार्थों का ज्ञान कार्यकारी है।।३-४।।

परद्रव्यबहिर्भूतं, स्वस्वभाव-मवैति यः।
परद्रव्ये स कुत्रापि, न च द्वेष्टि न रज्यति।।५।।
अन्य द्रव्य से बहिर्भूत जो, मान रहा निज का स्वभाव।
रागद्वेष पर द्रव्यों में ना, होवे उसको है यह भाव।।५।।

अर्थ—जो महानुभाव आत्मिक स्वभाव को अन्य द्रव्यों से बहिर्भूत-भिन्न मानता है उसे परद्रव्यों में न कभी द्वेष होता है और न राग ही होता है।

भावार्थ—जब तक यह जीव अपने स्वभाव को नहीं पहिचानता मोह से मूढ हो पर द्रव्यों को ही अपनाता है तब तक स्त्री पुरुष आदि पदार्थ मेरे हैं ऐसा मानकर उनसे राग करता है और बैरी सर्प कांटे आदि पदार्थों को दुःखदायी जानकर उनसे द्वेष करता है परन्तु जिस समय इसे यह ज्ञान हो जाता है कि मैं ज्ञानदर्शन आदि स्वस्वभाव स्वरूप हूँ यह मेरा स्वभाव परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न है—पर द्रव्य कभी मेरे निज नहीं हो सकते हैं उस समय वह स्त्री पुत्र आदि को हितकारी जान न कभी उनमें राग करता है और न बैरी सर्प आदि पदार्थों को अहितकारी जान उनमें द्वेष करता है किन्तु दोनों में समता भाव रखता है।।५।।

उपयोगो विनिर्दिष्टस्-तत्र लक्षण-मात्मनः।
द्विविधो दर्शन-ज्ञान-प्रभेदेन जिनाधिपैः।।६।।
है उपयोग जीव का लक्षण, ऐसा कहते हैं भगवान।
दर्श ज्ञान उपयोग भेद दो, ऐसा मानो हे विद्वान्!।।६।।

अर्थ—आत्मा का लक्षण उपयोग (चेतना के साथ-साथ रहने वाला आत्मा का परिणाम) है तथा वह दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के भेद से दो प्रकार का है।।६।।

चतुर्धा दर्शनं तत्र, चक्षुषोऽचक्षुषोऽवधेः।
केवलस्य च विज्ञेयं, वस्तुसामान्य वेदकं।।७।।
चक्षु अचक्षु अवधि दर्श शुभ, केवल दर्शन हैं ये चार।
ग्रहण करे दर्शन पदार्थ के, कहा गया सामान्य आकार।।७।।

अर्थ—चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेद से दर्शनोपयोग चार प्रकार का है और वह पदार्थ के सामान्य आकार को ग्रहण करता है।

भावार्थ—जिसके द्वारा पदार्थ का विशेष ग्रहण न होकर सामान्य ग्रहण हो वह दर्शनोपयोग है और उसके चार भेद हैं। केवल चक्षु से पदार्थ का सामान्य ग्रहण होना चक्षुर्दर्शन, नेत्र के सिवाय शेष इंद्रियों से सामान्य ग्रहण होना अचक्षुर्दर्शन, अवधिज्ञान से पूर्व अवधि को लिये। केवल रूपी पदार्थों का सामान्य ग्रहण होना अवधिदर्शन और मूर्तिक अमूर्तिक समस्त पदार्थों का अवलोकन केवलदर्शन है।।७।।

मतिः श्रुतावधी ज्ञानं, मनःपर्ययकेवले।
सज्ज्ञानं पञ्चधाऽवाचि, विशेषाकारवेदनं।।८।।
मति श्रुत अवधि मनः पर्यय शुभ, केवलज्ञान हैं सम्यक्ज्ञान।
समीचीन वस्तू के ग्राहक, तीन लोक में रहे महान्।।८।।
मत्यज्ञानश्रुताज्ञान-विभंगज्ञानभेदतः ।
मिथ्याज्ञानं त्रिधेत्येव-मष्टधा ज्ञान-मुच्यते।।९।।
मति श्रुत अवधि विपर्यय तीनों, ज्ञानोपयोग आठ पहिचान।
सत् या असत् के भेद रहित हैं, भ्रमण कराएँ सर्व जहान।।९।।

अर्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मन: पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच सम्यग्ज्ञान, कुमति-कुश्रति-और कुअवधिज्ञान ये तीन प्रकार के मिथ्याज्ञान मिलकर आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग है।

भावार्थ—मूल में ज्ञानोपयोग के दो भेद हैं एक सम्यग्ज्ञानोपयोग और दूसरा मिथ्याज्ञानोपयोग। मतिज्ञान आदि के भेद से सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का है और मिथ्याज्ञान के कुमति आदि तीन भेद हैं। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों की सहायता से हो वह मति, केवल मन की सहायता से होने वाला श्रुत, अवधि को लिये केवल रूपी पदार्थों का ग्रहण करने वाला अवधि, पर के मन में स्थित केवल रूपी पदार्थों का जानने वाला मन:पर्यय और समस्त रूपी अरूपी पदार्थों को मय उनकी समस्त गुण और पर्यायों के जानने वाला विशद ज्ञान (केवलज्ञान) है। सच्चे और झूठे कुछ भी विवेक न कर पांच इंद्रिय और मन से होने वाला ज्ञान कुमतिज्ञान, केवल मन से होने वाला कुश्रुतज्ञान और अवधि को लिये केवल रूपी पदार्थों का कुज्ञान कुअवधिज्ञान कहा जाता है। एवं इन समस्त ज्ञानों में वस्तु का विशेषकार प्रतिफलित होता है।।८-९।।

उदेति केवलज्ञानं, तथा केवलदर्शनं।
कर्मणः क्षयतः सर्वं, क्षयोपशमतः परं।।१०।।
इन दोनों उपयोग में केवल, दर्शन और ज्ञान उपयोग।
कर्मों के क्षय से होते हैं, अन्य में होय क्षयोपशम योग।।१०।।

अर्थ—उपर्युक्त दोनों प्रकार के उपयोगों में केवलज्ञान और केवलदर्शन तो कर्म के क्षय से होते हैं और मति आदि शेष ज्ञान वा चक्षुदर्शन आदि शेष दर्शन कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं।

भावार्थ—कर्म के नाश का नाम क्षय है और वर्तमान निषेक में (एक समय उदय में आनेवाले परमाणुओं के समूह में) सर्वघाती स्पर्धकों का (कर्मवर्गणाओं के समूह का) उदयाभावीक्षय (बिना फल दिये ही आत्मा से कर्मों का संबंध छूट जाना) देशघाती स्पर्धकों का उदय और आगामीकाल में उदय आने वाले निषेकों का सद्वस्थारूप उपशम होने रूप कर्म की अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं। ज्ञान का विरोधी कर्म ज्ञानावरण और दर्शन का विरोधी दर्शनावरण कर्म है जब तक इन कर्मों का संबंध आत्मा से रहता है तब तक ये ज्ञान और दर्शन को नहीं होने देते किन्तु इनकी क्षय वा क्षयोपशम अवस्था से ज्ञान दर्शन की प्रकटता में यथासंभव व्याघात नहीं होता। ज्ञानावरण कर्म के मतिज्ञानावरण आदि और दर्शनावरण के चक्षुर्दर्शनावरण आदि भेद हैं आत्मा का केवलज्ञान गुण अपने विरोधी केवलज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय से और केवलदर्शन केवलदर्शनावरण कर्म के क्षय से होता है इसलिये केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्मा के क्षायिकभाव हैं। किंतु इनसे भिन्न मतिज्ञान आदि ज्ञान और चक्षुर्दर्शन आदि दर्शन अपने विरोधी मतिज्ञानावरण आदि वा चक्षुर्दर्शनावरण आदि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं इसलिये ये आत्मा के क्षायोपशमिक भाव कहे जाते हैं।।१०।।

यौगपद्येन जायेते, केवलज्ञान-दर्शने।
क्रमेण दर्शनं ज्ञानं, परं निश्शेष-मात्मनः।।११।।
केवलज्ञान और दर्शन ये, दोनों युगपत होते भ्रात!।
अन्य सभी क्रमशः होते हैं, ऐसा आगम में विख्यात।।११।।

अर्थ—केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो तो एक साथ होते हैं परन्तु इनसे भिन्न जितने ज्ञान और दर्शन हैं–क्रम से होते हैं वहाँ दर्शनों के बाद ही ज्ञान होते हैं ऐसा नियम है।

भावार्थ—जब तक ज्ञान और दर्शन दूसरों के अधीन रहते हैं तब तक वे युगपत् नहीं हो सकते परन्तु अधीनता के दूर होते ही वे एक साथ होने लगते हैं। मतिज्ञान आदि ज्ञान और

चक्षुर्दर्शन आदि दर्शन अपने विरोधी कर्मों के परतंत्र हैं इसलिये वहाँ दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होते हैं यह नियम है अर्थात् छद्मस्थ (केवलज्ञान और केवलदर्शन के सिवा अन्य ज्ञान और दर्शन के धारक) मनुष्य पहिले देखते हैं तब पदार्थों का ज्ञान करते हैं परन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन कर्मों के अधीन नहीं हैं, वे-स्वतंत्र हैं इसलिये वे एक ही साथ होते हैं केवली भगवान पदार्थों का दर्शन और ज्ञान एक ही साथ करते हैं।।११।।

मिथ्याज्ञानं मतं तत्र, मिथ्यात्व-समवायतः।
सम्यग्ज्ञानं पुनर्जैनैः, सम्यक्त्व-समवायतः।।१२।।
मिथ्या योग से ज्ञान हो मिथ्या, सम्यक् योग से सम्यग्ज्ञान।
जैनागम में कथन किए हैं, ऐसा ही श्री जिन भगवान।।१२।।

अर्थ—मिथ्यात्व के सम्बन्ध से ज्ञान, मिथ्याज्ञान और सम्यक्त्व के संबंध से सम्यग्ज्ञान होता है। अर्थात् जब तक आत्मा में मिथ्यादर्शन की सत्ता है तब तक ज्ञान मिथ्याज्ञान रहता है परन्तु ज्यों ही सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ कि तत्काल सम्यग्ज्ञानरूप परिणत हो जाता है।।१२।।

वस्त्वन्यथा परिच्छेदो, ज्ञाने संपद्यते यतः।
तन्मिथ्यात्वं मतं सद्भिः, कर्मारामोदयोदकं।।१३।।
होय अन्यथा ज्ञान वस्तु का, प्रतिभावित हो अन्य स्वरूप।
मिथ्यादर्शन कहलाए वह, कर्मोपवन को है जल रूप।।१३।।

अर्थ—जिसके द्वारा वस्तु का अन्यथा ज्ञान हो, और का और ही प्रतिभाषित हो उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं वह कर्मरूपी आराम (बगीचा) के उदय में जलस्वरूप है अर्थात् जिसप्रकार उपवन के वृक्षों के उगने बढ़ने आदि कार्यों में कारण जल है जल से वे उदित होते हैं उसी प्रकार कर्मों के उदय में कारण मिथ्यात्व है मिथ्यात्व के कारण नियम से कर्मों का उदय आत्मा में होता है।।१३।।

उदये दृष्टिमोहस्य, गृहीत-मगृहीतकं।
जातं सांशयिकं चेति, मिथ्यात्वं तत्त्रिधा विदुः।।१४।।
गृहीतागृहीत मिथ्यात्व सांशयिक, बतलाए हैं तीन प्रकार।
कर्मोदय से दर्श मोह के, होंय जीव को बारंबार।।१४।।

अर्थ—गृहीतमिथ्यात्व अगृहीतमिथ्यात्व और सांशयिकमिथ्यात्व ये तीन प्रकार के मिथ्यात्व हैं वे दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं अर्थात् इनकी उत्पत्ति में कारण दर्शनमोहनीय

कर्म है।

भावार्थ–जो मिथ्यात्व ग्रहण किया हुआ हो अर्थात् पहिले से न रहने पर भी कुगुरु आदि के उपदेश से उदित हुआ हो वर्तमान में ग्रहण किया गया हो वह गृहीत मिथ्यात्व है। जो गृहीत न हो वह अगृहीतमिथ्यात्व है (इसका उदय स्थावर आदि जीवों में रहता है) और गुरु आदि सग्रन्थ हैं वा निर्ग्रन्थ इत्यादि संदेह रूप मति को सांशयिक मिथ्यात्व कहते हैं तथा दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से इनकी उत्पत्ति होती है।।१४।।

अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं, जीवो मिथ्यात्व भावितः।
अस्वर्ण-मीक्षते स्वर्णं, न किं कनक मोहितः।।१५।।
ज्यों धत्तूरक खाने वाला, लोह को माने स्वर्ण समान।
मिथ्यात्वी माने अतत्त्व को, तत्त्व रूप ऐसा पहिचान।।१५।।

अर्थ–जिस प्रकार धतूरे का खाने वाला मनुष्य कङ्कर पत्थर को भी सुवर्ण समझता है उसी प्रकार जो जीव मिथ्यात्व से मूढ़ है–मिथ्यादृष्टि है वह अतत्त्व को भी तत्त्व मानने लगता है उसे तत्त्व अतत्त्व का जरा भी बोध नहीं होता।।१५।।

यथा वस्तु तथा ज्ञानं, संभवत्यात्मनो यतः।
जिनै-रभाणि सम्यक्त्वं, तत्क्षमं सिद्धिसाधने।।१६।।
वस्तु स्वरूप रहा जैसा जो, वैसा माने सम्यक्ज्ञान।
है सम्यक्त्व मोक्ष में कारण, सम्यकत्वी पावे निर्वाण।।१६।।

अर्थ–जिसके द्वारा पदार्थ जैसा है उसका उसी रूप से ज्ञान होता है जरा भी ज्ञान में उसके स्वरूप का हेर फेर नहीं होता है वह सम्यक्त्व है और वह मोक्ष की सिद्धि में समर्थ कारण है–सम्यग्दृष्टि जीव को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है मिथ्यादृष्टि को नहीं।।१६।।

मिथ्यात्व मिश्र सम्यक्त्व, संयोजन चतुष्टये।
क्षयं शमं द्वयं प्राप्ते, सप्तधा मोहकर्मणि।।१७।।
मिथ्या सम्यक् मिश्रप्रकृतियाँ, काषाय अनंतानुबंधी चार।
उनके उपशम से हो उपशम, क्षय से क्षायक भली प्रकार।।१७।।
क्षायिकं शामिकं ज्ञेयं, क्षायोपशमिकं त्रिधा।
तत्रापि क्षायिकं साध्यं, साधनं द्वितयं परं।।१८।।

होय क्षयोपशम क्षय उपशम से, क्षायक जिनमें साध्य विशेष।
साधन दोनों अन्य रहे दो, ऐसा कहते वीर जिनेश।।१८।।

अर्थ–मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व और अनंतानुबंधी क्रोध अनंतानुबंधी मान अनंतानुबंधी माया और अनंतानुबंधी लोभ ये सात प्रकृतियाँ (भेद) मोहनीयकर्म की हैं। जिस समय इन सातों प्रकृतियों का क्षय हो जाता है उस समय क्षायिकसम्यक्त्व, सातों प्रकृतियों का उपशम हो जाने से औपशमिकसम्यक्त्व और इन्हीं सातों प्रकृतियों के क्षयोपशम से अर्थात् छैः प्रकृतियों के अनुदेय और सम्यक्त्व प्रकृति नामक मिथ्यात्व के उदय से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है इस प्रकार क्षायिक औपशमिक और क्षायोपशमिक के भेद से सम्यक्त्व तीन प्रकार का है एवं यहाँ क्षायिकसम्यक्त्व तो साध्य है और औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उसके साधन हैं औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के बाद नियम से क्षायिक सम्यक्त्व की प्रटकता होती है।

भावार्थ–मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों के उपशम आदि औपशमिक आदि सम्यक्त्वों में कारण हैं जब तक इनके उपशम आदि नहीं होते तब तक औपशमिक आदि सम्यक्त्व हो नहिं सकते जिसके उदय से आप्तभाषितमार्ग से पराङ्मुखता, तत्त्वार्थ श्रद्धान में निरुत्सुकता वा निरुद्यमता तथा हिताहित की परीक्षा में असमर्थता हो वह मिथ्यात्व प्रकृति है। जब शुभ परिणामों के प्रभाव से मिथ्यात्व का रस हीन हो जाता है और वह शक्ति के घटने से असमर्थ होकर आत्म के श्रद्धान को नहीं रोक सकता अर्थात् सम्यक्त्व को बिगाड़ नहीं सकता किंतु चल मल आदि दोष उत्पन्न कर देता है तब जिसका उदय होता है सम्यक्त्व प्रकृति है और जिसके उदय से तत्त्वों के श्रद्धानरूप दोनों प्रकार के भाव दही गुड़ के मिले हुये स्वाद के समान मिले हुये हों उसे सम्यगमिथ्यात्व कहते हैं एवं जो आत्मा के स्वरूपाचरण चारित्र को घातैं वे अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ हैं।।१७-१८।।

ज्ञानप्रमाण-मात्मानं, ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदुः।
लोकालोकं यतो ज्ञेयं, ज्ञानं सर्वगतं ततः।।१९।।
आतमज्ञान प्रमाण कहा है, ज्ञान कहा है ज्ञेय प्रमाण।
लोकालोक ज्ञेय होने से, ज्ञान सर्वगत रहा महान।।१९।।

अर्थ–आत्मा ज्ञानप्रमाण है, जितना प्रमाण-ज्ञान का है उतना ही आत्मा का है और ज्ञान ज्ञेय (जानने के योग्यपदार्थ) प्रमाण है तथा वह ज्ञेय लोकालोक है इसलिये इस रीति से ज्ञान

सर्वगत सर्वव्यापक है।

भावार्थ–ग्रंथकार ने इस श्लोक से ज्ञान की सर्वव्यापकता की सिद्धि की है क्योंकि आकाश सर्वव्यापक है और उसके भेद लोकाकाश और अलोकाकाश हैं–ज्ञान लोकाकाश और अलोकाकाश को पूर्णरूप से जानता है इसलिये इस युक्ति से ज्ञान सर्वगत है तथा गुण और गुणी समान अंशों में रहते हैं इस युक्ति से आत्मा को भी ज्ञानप्रमाण कहा है इसलिये ज्ञान के सर्वगत होने से आत्मा भी सर्वगत सिद्ध होता है।।१९।।

यद्यात्मनोऽधिकं ज्ञानं, ज्ञेयं वापि प्रजायते।
लक्ष्य-लक्षण भावोऽस्ति, तदानीं कथमेतयोः।।२०।।
ज्ञान अधिक आतम से माने, अधिक ज्ञेय से माना जाय।
तो गुण गुणी स्वभाव बने ना, ऐसा कहते श्री जिनाय।।२०।।

अर्थ–यदि ज्ञान को आत्मा से अधिक मान लिया जायेगा अथवा ज्ञेय को अधिक स्वीकार कर लिया जायेगा तो ज्ञान और आत्मा का लक्ष्य-लक्षण भाव-गुणगुणीस्वभाव न बन सकेगा।

भावार्थ–यह बात ऊपर बतलाई गई है कि गुण अपने गुणी के समान प्रदेशों में व्याप्त रहता है यह कभी नहीं हो सकता कि वह गुण के प्रदेशों से अधिक स्थान पर रहे अथवा गुणी के थोड़े से प्रदेश में रहे और शेष प्रदेश गुणशून्य पड़े रहें आत्मा गुणी, और ज्ञान गुण है वह ज्ञान आत्मा का गुण तभी हो सकता है जब कि वह जितने आत्मा के प्रदेश हैं उन्हीं में रहें न उनके कम प्रदेशों में रहें और न आत्मक्षेत्र से अधिक क्षेत्र में रहें यदि आत्मक्षेत्र से अधिक वा कम क्षेत्र में रहेगा तो वह कभी आत्मा का गुण-लक्षण नहीं हो सकता और इस रीति से आत्मा और ज्ञान का गुणगुणी भाव नहीं बन सकता तथा ज्ञेय को भी आत्मा के प्रमाण ही मानना पड़ेगा क्योंकि यदि ज्ञेय को अधिक माना जायेगा तो ज्ञानको ज्ञेयप्रमाण मानने से ज्ञान भी अधिक स्वीकार करना पड़ेगा इसलिये इस रीति से फिर भी आत्मा और ज्ञान का गुण गुणीभाव न सिद्ध हो सकेगा।।२०।।

क्षीरक्षिप्तं यथा क्षीर-मिंद्रनीलं स्वतेजसा।
ज्ञेयक्षिप्तं तथा ज्ञेयं, ज्ञानं व्याप्नोति सर्वतः।।२१।।
क्षीर में नीलमणी पड़ते ज्यों, क्षीर भी दिखता नील स्वरूप।
ज्ञेय पदार्थ का विषयग्राही, ज्ञान व्याप्त करता उसरूप।।२१।।

अर्थ–जिसप्रकार दुग्ध में पड़ा हुआ इंद्रनीलमणि अपनी प्रभा से समस्त दुग्ध को व्याप्त

कर लेता है-उस समय दुग्ध नीला ही नीला जान पड़ने लगता है उसी प्रकार ज्ञेय-पदार्थों को विषय कर लेने वाला ज्ञान भी अपनी प्रभा से समस्त पदार्थों को व्याप्त कर लेता है–सबको जानता है।

भावार्थ–एक चौंड़ें बर्तन को दूध से भर दीजिए और उसमें इंद्रनीलमणि डाल दीजिये तो बर्तन के एक देश में पड़ा हुआ भी वह इंद्रनीलमणि अपनी तीक्ष्ण प्रभा से जिस प्रकार समस्त दूध को व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार यद्यपि लोक और अलोक अनन्त हैं और ज्ञान जहाँ जहाँ आत्मप्रदेश हैं वहीं वहीं है तथापि वह अपने चमत्कार से सबको विषय करता है–समस्त पदार्थों को जानता है।।२१।।

चक्षुर्गृह्णद्यथारूपं,　रूपरूपं न जायते।
ज्ञानं जानन्तथा ज्ञेयं, ज्ञेयरूपं न जायते।।२२।।

रूप ग्राही ज्यों नेत्र नहीं हो, अन्य किसी भी द्रव्य के रूप।
ज्ञान अन्य वस्तू स्वरूप न, होता ऐसा वस्तु स्वरूप।।२२।।

अर्थ–जिस प्रकार रूप को ग्रहण करने वाला नेत्र रूपस्वरूप नहीं हो जाता-अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है उसी प्रकार यद्यपि ज्ञान पदार्थों को जानता है परंतु वह पदार्थ स्वरूप नहीं हो जाता-सदा चैतन्य स्वरूप ही रहता है।

भावार्थ–यदि यहाँ पर कोई ऐसी शंका करे कि जब ज्ञान समस्त पदार्थों को जानता है तो वह पदार्थ के आकार होना चाहिए वा पदार्थ में जो जड़त्व आदि धर्म हैं वे ज्ञान में भी आना चाहिये। उसका समाधान यहाँ ग्रन्थकार ने किया है अर्थात् नेत्र जिस प्रकार छोटे-बड़े पदार्थों को देखता है परंतु उसके आकार नहीं होता और यदि वह शीत पदार्थ को देखता है तो शीतस्वरूप और उष्ण पदार्थ को देखता है तो उष्ण स्वरूप भी नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान भी जैसे पदार्थ को देखता है उसके आकार नहीं होता और न उसमें दृश्य पदार्थ के गुण आते हैं वह सदा चैतन्यस्वरूप ही रहता है।।२२।।

दवीयांस-मपि　ज्ञान, मर्थं　वेत्ति निसर्गतः।
अयस्कांतः स्थितं दूरे, नाकर्षति किमायसं।।२३।।

लोह को चुंबुक खींचे जैसे, ज्ञान का भी है यही स्वभाव।
दूर स्थित है जो पदार्थ को, जाने ज्ञान का है यह भाव।।२३।।

अर्थ–जिसप्रकार चुम्बक पत्थर का यह स्वभाव है कि वह दूर पर स्थित लोहे को अपने पास खींच लेता है उसी प्रकार ज्ञान का भी यह स्वभाव है कि वह दूर भी स्थित पदार्थ को स्पष्ट रूप से जान लेता है।

भावार्थ—यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि ज्ञान कहीं रहता है और ज्ञेय कहीं, फिर ज्ञान इतनी दूर से ज्ञेय को कैसे जान सकता है। क्योंकि ज्ञान का चुम्बक पत्थर के समान स्वभाव है अर्थात् चुम्बक पत्थर जिसप्रकार समीपवर्ती और दूरवर्ती दोनों पदार्थों को अपनी ओर खींचता है उसी प्रकार ज्ञान भी समीपवर्ती दूरवर्ती दोनों प्रकार के पदार्थों को जानता है।।२३।।

ज्ञान-मात्मान-मर्थं च, परिच्छिते स्वभावतः।
दीप उद्योतयत्यर्थं, स्वस्मिन्नान्यमपे-क्षते।।२४।।
ज्यों दीपक स्व पर पदार्थ के, ना प्रकाश की रखता चाह।
ज्ञान का भी स्वभाव यही है, पर की ना करता परवाह।।२४।।

अर्थ—जिस प्रकार दीपक का यह स्वभाव है कि वह स्व और पर पदार्थों के प्रकाशन में अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं करता-सहायता नहीं चाहता उसी प्रकार ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह अपने को भी जानता है और पर पदार्थों को भी-स्वपर पदार्थों के ज्ञान में अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहिं करता।

भावार्थ—यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि यदि पदार्थों को ज्ञान जानता है तो ज्ञान को कौन जानता है? यदि कहा जाय कि उसे अन्य ज्ञान जानता है तो वहाँ पर भी यह प्रश्न हो सकता है कि उस ज्ञान को कौन जानता है यदि वहां भी यह कह दिया जाय कि अन्य ज्ञान उसे जानता है तो फिर भी वहाँ यह शंका हो सकती है उसे कौन जानता है इस रीति से ज्ञान के स्वरूप को ve kqÙkosJeuqe[1] अनवस्था दोष आ सकता है और ज्ञान पदार्थ का स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह उत्तर दिया जाय कि अनेक ज्ञान मान कर अंत में एक ऐसा ज्ञान मान लेवें कि वह पूर्व ज्ञान को भी जनायेगा और अपने को भी जानेगा तब प्रथम ही ज्ञान में स्वपर के जानने की शक्ति स्वीकार कर लेनी चाहिये व्यर्थ अनंत ज्ञान मानने की क्या आवश्यकता? इसी आशय से ग्रंथकार ने दीपक का दृष्टांत देकर ज्ञान को स्व पर प्रकाशक बतलाया है अर्थात् जिस प्रकार बिना किसी अन्य पदार्थ की सहायता के दीपक स्व और पर को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी बिना किसी अन्य पदार्थ की सहायता के स्व और पर को स्पष्ट रूप जानता है।।२४।।

क्षयोपशमिकं ज्ञानं, कर्मापाये निवर्तते।
प्रादुर्भवति जीवस्य, नित्यं क्षायिक-मुज्ज्वलं।।२५।।

---

१. (अप्रामाणिकपदार्थपरंपरापरिकल्पनाविश्रांत्यंभावोऽनवस्था) अप्रामाणिक अनेक पदार्थों का कल्पना करते चले जाना कल्पना का अंत न आना अनवस्था दोष है।

ज्ञानावरण कर्म के क्षय से, क्षायोपशमिक ज्ञान का अंत।
अविनाशी दैदीप्यमान हो, क्षायक ज्ञान प्रकट हे संत!।।२५।।

अर्थ–जिस समय ज्ञानावरणकर्म का सर्वथा नाश हो जाता है उस समय क्षायोपशमिक ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है क्षायोपशमिक ज्ञान की आत्मा में सत्ता नहीं रहती और अविनाशी अत्यंत दैदीप्यमान क्षायिक ज्ञान प्रगट हो जाता है।।२५।।

संत-मर्थ-मसंतं च, काल त्रितय गोचरं।
अवैति युगपज्ज्ञान-मव्याघात-मनुत्तमं।।२६।।
तीन काल के विद्यमान या, अविद्यमान को क्षायक ज्ञान।
युगपत जाने अव्याघात ये, और अनुत्तम अन्य ना जान।।२६।।

अर्थ–यह क्षायिक ज्ञान भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों के विद्यमान अविद्यमान दोनों प्रकार के पदार्थों को एक साथ जानता है अव्याघात है–किसी से इसका व्याघात-रुकना वा नाश नहीं होता और अनुत्तम है सिवाय इसके संसार में कोई भी पदार्थ उत्तम नहीं है।।२६।।

असंतस्ते मता दक्षै-रतीता भाविनश्च ये।
वर्तमानाः पुनः संतस्-त्रिलोक्योदरवर्तिनः।।२७।।
हैं अतीत जो नष्ट हुए या, भावी होने वाले जान।
विद्यमान त्रय लोक में स्थित, वर्तमान में हैं विद्यमान।।२७।।

अर्थ–जो पदार्थ अतीत-नष्ट हो गये और भावी-होने वाले हैं वे अविद्यमान पदार्थ हैं तथा ऊर्ध्व मध्य और अधोलोक में जो वर्तमानकाल में मौजूद हैं वे विद्यमान पदार्थ हैं।।२७।।

अतीता भाविनश्चार्थाः, स्वे-स्वे काले यथाखिलाः।
वर्तमानास्-ततस्तद्-वद्-वेत्ति तानपि केवलं।।२८।।
भूत और भावी पदार्थ सब, अपने काल में जो जिस रूप।
वर्तमान रहते हैं उनको, 'विशद' ज्ञान जाने उस रूप।।२८।।

अर्थ–भूत और भावी समस्त पदार्थ जिस रूप से अपने-अपने काल में (वर्तमान) विद्यमान रहते हैं, केवलज्ञान उन्हें भी उसी रूप से जानता है।

भावार्थ–जो पदार्थ नष्ट हो गये वे अपने काल में जिसरूप से विद्यमान थे और जो होने

वाले हैं वे अपने काल में जिसरूप से विद्यमान रहेंगे उस रूप से और वे जिस रूप से इस समय हैं उस रूप से भी उन्हें केवलज्ञान जानता है। भूत, भावी और वर्तमान पदार्थों की ऐसी कोई भी पर्याय नहीं जिसे केवलज्ञान न जान सके सबको वह स्पष्ट रूप से जानता है।।२८।।

सर्वेषु यदि न ज्ञानं, यौगपद्येन वर्तते।
तदैकमपि जानाति, पदार्थं न कदाचन।।२९।।
सब पदार्थ का एक साथ यदि, जान सके ना केवलज्ञान।
तो वह एक को भी न जाने, क्योंकि अनंत पर्यायोंवान।।२९।।
एकत्रापि यतोऽनंताः, पर्यायाः संति वस्तुनि।
क्रमेण जानता सर्वे, ज्ञायंते कथ्यतां कदा।।३०।।
यदि पदार्थ को क्रमशः जाने, तो सब कैसे जाने ज्ञान।
नहीं कदापि वह जान सकेगा, कैसा भी वह केवलज्ञान।।३०।।

अर्थ—ज्ञान यदि समस्त पदार्थों को एक साथ न जानेगा तो वह एक पदार्थ को भी कभी नहीं जान सकता क्योंकि एक पदार्थ में भी अनंतों पर्यायें हैं यदि ज्ञान उन्हें भी क्रम क्रम से जाने तो कैसे सभी को जान सकता है? कदापि नहीं।

भावार्थ—एक पदार्थ भी अनंतों पर्यायों का पुंज है और उसका पूर्णरूप से ज्ञान उसी समय हो सकता है जब कि उसकी समस्त पर्यायों को जान लिया जाय यदि यह माना जाय कि ज्ञान एक साथ समस्त पदार्थों को नहीं जान सकता तो वह एक पदार्थ को भी एक साथ नहीं जान सकेगा क्योंकि जिसप्रकार एक साथ समस्त पदार्थों का जानना कठिन है उसी प्रकार एक पदार्थ की अनंत पर्यायों का भी एक साथ जानना कठिन है अर्थात् यदि वह एक पदार्थ की पर्यायों को भी क्रम क्रम से जानेगा तो पर्याय अनंतों हैं उन सबको समाप्त कर सकेगा यह निश्चय नहीं और जब तक वह उस पदार्थ की समस्त पर्यायों को न पूर्ण कर सकेगा तब तक उस पदार्थ का पूर्ण रूप से ज्ञान भी बीच में लटकता रह जायेगा अथवा मति आदि जिस प्रकार थोड़ी-थोड़ी पर्यायों को ही विषयकर पदार्थ को जना देते हैं उसीप्रकार केवल ज्ञान भी थोड़ी-थोड़ी पर्यायों को विषयकर पदार्थों को जनायेगा इस रीति से केवल और मति आदि ज्ञान एक से मानने पड़ेंगे। इसलिये यह अवश्य मानना पड़ेगा कि यदि ज्ञान अनंत पर्यायों के धारक पदार्थ को एक साथ जानता है तो वह समस्त पदार्थों को भी अवश्य एक साथ जानता है।।२९-३०।।

घातिकर्म क्षयोत्पन्नं, यद्रूपं परमात्मनः।
श्रद्धत्ते भक्तितो भव्यो, नाभव्यो भववर्धकः।।३१।।
घातिकर्म के क्षय से प्रगटे, परमातम का जो स्वरूप।
भव्य मनाता हो श्रद्धानी, न अभव्य माने उसरूप।।३१।।

अर्थ–घातिया कर्मों के नाश से जो परमात्मा का स्वरूप प्रकट होता है उसे भव्य ही मानता है और भक्तिपूर्वक उसका श्रद्धान करता है अभव्य नहीं, क्योंकि वह भववर्धक-अनादि अनंत काल तक संसार में रुलने वाला होता है।

भावार्थ–जिसको मोक्ष प्राप्ति हो सके वह भव्य और जिसे न हो सके वह अभव्य कहा जाता है जिस समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है उस समय आर्हत्य विभूति प्रकट हो जाती है और घातियाकर्मों के नाश करने से आत्मा परमात्मा हो जाता है। इस परमात्मा को भव्य तो मानता है और भक्तिपूर्वक उसपर श्रद्धान करता है अभव्य नहीं किंतु जिस प्रकार पित्त के बुखार वाले को मीठा भी दूध कड़ुवा लगता है उसी प्रकार अभव्य को सब बातें विपरीत भासने लगती हैं और इसीलिये उसका कभी संसार नहीं छूटता सदा वह इस चतुर्गति रूप संसार में सर्वत्र रुलता ही फिरता है।।३१।।

यत्सर्वार्थवरिष्ठं, यत्क्रमातीतमतींद्रियं।
श्रद्-धत्यात्मनो रूपं, स याति पद-मव्ययं।।३२।।
आत्म स्वरूप सर्व द्रव्यों में, है उत्कृष्ट रहित क्रमवान।
ऐसा जो श्रद्धानी है वह, अव्यय पद पाए निर्वाण।।३२।।

अर्थ–आत्मा का स्वरूप समस्त पदार्थों में उत्कृष्ट है, क्रमातीत है अतींद्रिय हैं इस रूप से जो श्रद्धान करता है वही अविनाशी पद मोक्ष को प्राप्त होता है।

भावार्थ–संसार में किसी भी पदार्थ से आत्मा की तुलना नहीं की जा सकती इसलिये तो यह समस्त पदार्थों में उत्तम है। सब पदार्थों को एक साथ स्पष्ट रूप से जानता है इसलिये व क्रमातीत है। और इंद्रियगोचर नहीं इसलिये अतींद्रिय है इसरूप से जो आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान करता है उसे अविनाशी पद-मोक्ष पद प्राप्त होता है।।

निर्व्यापारी-कृताक्षस्य, यत्क्षणं भाति पश्यतः।
तद्रूपमात्मनो ज्ञेयं, शुद्धं संवेदनात्मकं।।३३।।

रोक इंद्रिय व्यापारों को, अंतर में संवेदन रूप।
स्फुरित हो क्षण को वह जानो, विशद आत्मा का स्वरूप।।३३।।

अर्थ—इंद्रियों के व्यापार को रोककर अंतरंग की ओर देखने वाला मनुष्य के हृदय में जो क्षणभर के लिये शुद्ध और संवेदनात्मक स्वरूप स्फुरायमान होने लगता है वह आत्मा का स्वरूप है।

भावार्थ—जब तक नेत्र आदि इंद्रियों का व्यापार हुआ करता है तब तक आत्मज्ञान की ओर जरा भी ध्यान नहीं जाता समस्त जीव उन्हीं के व्यापारों में ऊहापोह करते रहते हैं परंतु जिस समय बाह्य इंद्रियों का व्यापार सर्वथा रुक जाता है और मन आत्मा के ज्ञान में सर्वथा लीन हो जाता है उस समय जो स्वसंवेदनरूप शुद्ध स्वरूप झलकने लगता है वह आत्मा का स्वरूप है।।३३।।

आत्मा स्वात्मविचारज्ञैर्-नीरागीभूतचेतनैः।
निरवद्यश्रुतेनापि, केवलेनेव बुध्यते।।३४।।
राग-द्वेष विरहित हो केवल, ज्ञानी जाने आत्म स्वरूप।
सब शास्त्रों के ज्ञाता श्रुतधर, श्रुत से जानें आतमरूप।।३४।।

अर्थ—जो पुरुष अपनी आत्मा के जानकार हैं और रागद्वेष से रहित हो गये हैं वे तो केवलज्ञान से ही आत्मा के स्वरूप को जानते हैं और जो निर्दोष समस्त शास्त्र के ज्ञाता श्रुत केवली हैं वे श्रुतज्ञान से ही आत्मा के स्वरूप को जानते हैं।

भावार्थ—यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा केवलज्ञान से ही जाना जाता है उसे आत्मा के विचार के जानकार सर्वथा रागद्वेष से रहित महात्मा ही जानते हैं परंतु कथञ्चित् श्रुतकेवली भी उसके स्वरूप को जानते हैं क्योंकि आत्मा का समस्त स्वरूप श्रुतज्ञान के अंतर्भूत है और जिस प्रकार श्रुतकेवली अन्य पदार्थों को जानते हैं उसी प्रकार आत्म पदार्थ को भी भले प्रकार जानते हैं भेद इतना ही है कि केवलज्ञान से आत्मा का ज्ञान स्पष्ट रूप से होता है क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञान है और श्रुतकेवली के ज्ञान से अस्पष्टरूप से होता है क्योंकि उनका ज्ञान परोक्षज्ञान है।।३४।।

रागद्वेषापराधीनं, यदा ज्ञानं प्रवर्तते।
तदाभ्यधायि चारित्र-मात्मनो मलसूदनं।।३५।।
ज्ञान प्रवृत्ती राग-द्वेष के, न अधीन तब होवे नाश।
चारित होता तब आतम के, कर्ममैल हो जाय विनाश।।३५।।

अर्थ—जिस समय ज्ञान की प्रवृत्ति रागद्वेष के आधीन नहीं होती रागद्वेष सब नष्ट हो जाते हैं, उस समय चारित्र होता है और उससे आत्मा के समस्त कर्ममल दूर हो जाते हैं।

भावार्थ—जब तक सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति में राग द्वेष का अंश बना रहता है तब तक उस प्रवृत्ति को यथार्थ चारित्र नहीं कह सकते हैं। किंतु राग द्वेष से रहित ही सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति सम्यक्चारित्र कहलाती है और सम्यक्चारित्र द्वारा आत्मा से कर्ममलों का सर्वथा नाश हो जाता है।।३५।।

अहिंसा सत्य-मस्तेयं, ब्रह्म संगविवर्जनं।
कषाय विकले ज्ञाने, समस्तं नैव तिष्ठति।।३६।।
ज्ञान कषायों से दूषित हो, तो फिर अहिंसा सत्य अचौर्य।
ब्रह्मचर्य परिग्रह का त्यागी, पंच व्रतों का पाय ना शौर्य।।३६।।

अर्थ—जब तक ज्ञान कषायों से दूषित रहता है तब तक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये पाँच व्रत स्थित नहीं रह सकते हैं।।३६।।

हिंसत्वं वितथं स्तेयं, मैथुन संगसंग्रहः।
आत्मरूपगते ज्ञाने, निश्शेषं प्रपलायते।।३७।।
आत्म रूपगत ज्ञान के होते, रागद्वेष का होय विनाश।
हिंसा झूठ चोरी कुशील अरु, परिग्रह भाव का होवे नाश।।३७।।

अर्थ—परन्तु जिस समय ज्ञान आत्मा के स्वरूप के जानने में लीन हो जाता है राग द्वेष से कलुषित नहीं रहता उस समय हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह पाँचों पाप देखते देखते विलीन हो जाते हैं ज्ञान के आत्मस्वरूप होते ही पाँचों पापों का जरा भी पता नहीं लगता।

भावार्थ—हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाँचों पापों में क्रोध-मान-माया-लोभ कारण हैं जब तक ज्ञान इन कषायों से कलुषित रहता है तब तक अहिंसा आदि का उत्थान नहीं होता किन्तू जिस समय से कषायें नष्ट हो जाती हैं और ज्ञान आत्मस्वरूप के जानने में लीन हो जाता है उस समय हिंसा आदि पाप लापता हो जाते हैं इसलिये पापों के नाशार्थ क्रोध आदि को न कर, अवश्य आत्मा के स्वरूप का मनन करना चाहिये।।३७।।

चारित्रं दर्शनं ज्ञान-मात्मरूपं निरंजनं।
कर्मभिर्-मुच्यते योगी, ध्यायमानो न संशयः।।३८।।

सम्यक्दर्शन ज्ञान चरितमय, आतम का स्वरूप विशेष।
ध्यान करे आतम का योगी, मुक्त कर्म से होय अशेष।।३८।।

अर्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा का निर्दोष स्वरूप है जो योगी इस विशुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान करता है वह अवश्य कर्मबंध मुक्त हो जाता है इसमें संदेह नहीं है।।३८।।

यः करोति परद्रव्ये, रागमात्म पराङ्मुखः।
रत्नत्रयमयो नासौ, न चारित्रचरो यतिः।।३९।।

हो विरक्त आतम स्वरूप से, पर पदार्थ में हो अनुरक्त।
रत्नत्रय स्वरूप होय न, चारित धारी हो न भक्त।।३९।।

अर्थ–जो यति आत्मिक स्वरूप से पराङ्मुख होकर पर पदार्थों में अनुराग करता है–उन्हें अपनाता है वह कभी रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप नहीं हो सकता और वह किसी प्रकार के चारित्र का आचरण करने वाला भी नहीं कहा जा सकता।

भावार्थ–जो यति आत्मस्वरूप में लीन है पर पदार्थों को न अपना कर अपने ही स्वरूप को अपनाता है वही रत्नत्रयस्वरूप और चारित्र का आचरण करने वाला कहा जाता है किन्तु जो पर पदार्थ स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि को अपना मानता है और इनमें गाढ़ अनुराग करता है वह रत्नत्रयस्वरूप और चारित्र का आचरण करने वाला नहीं कहा जा सकता।।३९।।

अभिन्न-मात्मनः शुद्धं, ज्ञानदृष्टिमयं स्फुटं।
चारित्रं चर्यते शश्वच्-चारु चारित्र वेदिभिः।।४०।।

चारित के ज्ञाता आतम से, हैं अभिन्न सद्दर्शन ज्ञान।
स्वरूपी निश्चय चरित का, करें आचरण निश्चय मान।।४०।।

अर्थ–जो महानुभाव निर्दोष चारित्र के जानकार हैं वे निरन्तर आत्मा से अभिन्न शुद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानस्वरूप निश्चय चारित्र का आचरण करते हैं।

भावार्थ–निर्मल चारित्र के धारक मनुष्य यह जानते हैं कि निश्चय चारित्र आत्मा से अभिन्न-आत्मस्वरूप है निर्दोष है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की स्वरूप में लीनतारूप होने से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान स्वरूप है इसलिये वे सदा उसी का आचरण करते रहते हैं।।४०।।

आचारवेदनं ज्ञानं, सम्यक्त्वं तत्त्वरोचनं।
चारित्रं च तपश्चर्या, व्यवहारेण गद्यते।।४१।।

है व्यवहार से अष्ट भेद मय, आचारों का जानन ज्ञान।
है सम्यक्त्व सुरुचि तत्त्वों में, तपाचरण सच्चारितमान।।४१।।

अर्थ—व्यवहारनय से आठ प्रकार के आचारों का जानना ज्ञान है तत्त्वों में रुचि रखना सम्यक्त्व है और पंचाचार एवं तपों का आचरण करना सम्यक्चारित्र है।।४१।।

सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र, स्वभावः परमार्थतः।
आत्मा रागविनिर्मुक्तो, मुक्तिमार्गो विनिर्मलः।।४२।।
जो आतम सद्दर्श ज्ञानमय, सच्चारित स्वभाव स्वरूपी जान।
रागद्वेष विरहित निश्चय से, मोक्षमार्ग निर्दोष महान।।४२।।

अर्थ—जो आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वभावस्वरूप है रागद्वेष से रहित है निश्चय नय से वही निर्दोष मोक्षमार्ग है।

भावार्थ—व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीनों का समुदाय मोक्षमार्ग है परन्तु निश्चयनय से सम्यग्दर्शन आदि स्वभावस्वरूप और रागद्वेष से रहित आत्मा ही निर्मल मोक्षमार्ग है।।४२।।

यश्चरत्यात्मनात्मान-मात्मा जानाति पश्यति।
निश्चयेन स चारित्रं, ज्ञानं दर्शन-मुच्यते।।४३।।
निज से निजका होय आचरण, निश्चय से सम्यक् चारित्र।
निज से निज को ज्ञान जानना, निज श्रद्धा सद्दर्श है मित्र!।।४३।।

अर्थ—निश्चयनय से अपने से अपने को आचरण करना चारित्र, अपने से अपने को जानना सम्यग्ज्ञान और अपने से अपने में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ—निश्चयनय से आत्मा और सम्यग्दर्शन आदि गुण एक हैं इसलिये बाह्य तप आदि का आचरण न कर अपने से अपने का आचरण करना निश्चय सम्यक्चारित्र है। बाह्य पदार्थों का ज्ञाता न बन अपने से अपने को जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान और बाह्य पदार्थों का श्रद्धान न कर अपने से अपने का ही श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है।।४३।।

तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय श्रद्धयात्मा मुमुक्षभिः।
लब्ध्युपायः परो नास्ति, यस्मान्निर्वाणशर्मणः।।४४।।

हैं मुमुक्षु जो निज आतम का, भली प्रकार करें श्रद्धान।
ज्ञानाचार से होवे मुक्ती, अन्य उपाय ना कोई आन।।४४।।

अर्थ—इसलिए जो महानुभाव मुमुक्षु हैं मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे आत्मा का भले प्रकार श्रद्धान ज्ञान कर उसका आचरण करें क्योंकि सिवाय इसके निर्वाण कल्याण की प्राप्ति कराने वाला दूसरा कोई भी उपाय नहीं हैं।

भावार्थ—ज्ञान श्रद्धान के साथ आत्मा की सेवा करना ही मोक्ष की प्राप्ति का परम उपाय है बिना इस उपाय का आश्रय किये मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये मोक्षाभिलाषियों को इसी उपाय का अवलंबन करना चाहिये।।४४।।

निषिध्य स्वार्थतोऽक्षाणि, विकल्पातीत चेतसः।
तद्रूपं स्पष्टमाभाति, कृताभ्यासस्य तत्त्वतः।।४५।।
जो विकल्प से विरहित इंद्रिय, के विषयों का करके रोध।
आत्म स्वरूप का दृढ़ अभ्यासी, आत्म स्वरूप का पाए बोध।।४५।।

अर्थ—जो महानुभाव किसी प्रकार के संकल्प विकल्प नहीं करते और स्पर्श आदि विषयों से स्पर्शन आदि इंद्रियों को रोककर अपने आत्मा के स्वरूप का दृढ़ अभ्यास करते हैं उस महात्मा के अन्तरङ्ग में वास्तविक दृष्टि से आत्मा का स्पष्ट स्वरूप झलकता है—वही आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करते हें।

भावार्थ—जब तक इंद्रियां वश नहीं होतीं संकल्प विकल्प करना नहीं छूटता और दृढ़रूप से आत्मा का अभ्यास नहीं किया जाता तब तक आत्मा के वास्तविक और स्पष्ट स्वरूप का बोध नहीं होता इसलिये जो महानुभाव आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे इंद्रियों को वश कर और संकल्प विकल्पों का सर्वथा त्यागकर आत्मस्वरूप का दृढ़ अभ्यास करें।।४५।।

स्वसंविदित-मत्यक्ष, मव्यभिचारि केवलं।
नास्ति ज्ञानं परित्यज्य, रूपं चेतयितुः परं।।४६।।
स्व संवेदित अतिन्द्रिय एवं, अव्यभिचारी केवलज्ञान।
इन्हें छोड़कर अन्य कोई भी, आत्म स्वरूप न होवे मान।।४६।।

अर्थ—स्वसंविदित अतींद्रिय अव्यभिचारी और केवल ज्ञान को छोड़ कर आत्मा का कोई

भी उत्कृष्ट स्वरूप नहीं।

भावार्थ–जो ज्ञान स्वसंविदित है स्वयं अपने को जानता है (अपने ज्ञान में इंद्रियों की अपेक्षा नहीं करता) अतींद्रिय है पदार्थों के ज्ञान में इंद्रियों की अपेक्षा नहीं करता, व्यभिचार रहित और अद्वितीय है वही आत्मा का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है–सिवाय ज्ञान के आत्मा का कोई उत्कृष्ट स्वरूप नहीं।।४६।।

यस्य रागोऽणुमात्रेण, विद्यतेन्यत्र वस्तुनि।
आत्मतत्त्वपरिज्ञानो बध्यते कलिलै-रपि।।४७।।
पर पदार्थ में राग जरा भी, जिसको होता है वह जीव।
आत्म तत्त्व का जानकार भी, कर्म बंध वह करे अतीव।।४७।।

अर्थ–जिस मनुष्य का पर पदार्थों में जरा भी राग है वह आत्मतत्त्व का जानकार होने पर भी कर्मों से बँधता रहता है–सदा उसकी आत्मा के साथ कर्मों का बंध होता रहता है।

भावार्थ–आत्मतत्त्व के स्वरूप की प्राप्ति में विरोधी कारण राग है जब तक पदार्थों को अपना मानकर उनमें राग बना रहता है तब तक कभी भी आत्मस्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता इसलिये आत्मस्वरूप को पाने के अभिलाषियों को चाहिये कि वे परपदार्थों से सर्वथा राग छोड़ दें।।४७।।

यो विहायात्मनो रूपं, सेवते परमेष्ठिनः।
स बध्नाति परं पुण्य, न कर्मक्षय-मश्नुते।।४८।।
निज को छोड़ ध्यान परमेष्ठी, का करके हो पुण्य सुबंध।
कर्मों का क्षय होय न उसको, होय शुभाश्रव उसे अमन्द।।४८।।

अर्थ–जो महानुभाव अपने स्वरूप का ध्यान न कर परमेष्ठी के स्वरूप का ध्यान करता है उसके उत्कृष्ट पुण्य का बंध तो होता है परन्तु कर्मों का क्षय नहीं होता। उसके अशुभ कर्मों का वियोग और शुभ कर्मों का सदा आस्रव होता रहता है।

भावार्थ–शुभ राग और अशुभ राग के भेद से राग दो प्रकार का है। स्त्री पुत्र धन धान्य आदि पदार्थों में जो राग होता है वह अशुभ राग कहा जाता है और अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय आदि शुभ पदार्थों में किया हुआ राग शुभ राग कहलाता है। इनमें अशुभ राग से अशुभ-कर्म का बंध और शुभ राग से शुभ कर्मों का बंध होता है इसलिये जो महानुभाव परमेष्ठी के स्वरूप का

ध्यान करते हैं उनके शुभ कर्म का बंध होता है उनके कर्मों का नाश नहीं होता परंतु जो अपनी आत्मा के स्वरूप का ध्यान करते हैं उनके शुभ अशुभ किसी प्रकार के कर्मों का बंध नहीं होता और समस्त कर्मों का नाश हो जाता है इसलिये कर्मों से मुक्त होने की अभिलाषा रखने वाले मनुष्यों को चाहिये कि वे अपने ही स्वरूप का ध्यान करें परमेष्ठियों के स्वरूप का ध्यान न करें। परंतु जब तक आत्मस्वरूप का भले प्रकार ज्ञान न हो वा उसके ध्यान करने में किसी प्रकार की असमर्थता हो तब तक तो परमेष्ठियों के गुणों का चिंतवन अवश्य करें।।४८।।

नागच्छच्छक्यते कर्म, रोद्धुं केनापि निश्चितं।
निराकृत्य परद्रव्याण्यात्मतत्त्वरतिं विना।।४९।।
जब तक पर द्रव्यों से विरहित, आत्म स्वरूप की चाह नहीं।
तब तक आगत कर्मों का ना, निश्चय से हो रोध कहीं।।४९।।

अर्थ—जब तक पर द्रव्यों से रहित होकर आत्मा के स्वरूप में प्रेम नहीं होता तब तक आनेवाले कर्मों का प्रतिरोध नहीं हो सकता यह निश्चय है।

भावार्थ—जब तक स्त्री पुत्र आदि परद्रव्यों को अपनाया जाता है और आत्मतत्त्व में प्रेम नहीं किया जाता तब तक निरंतर कर्मों का आस्रव होता रहता है किंतु जिस समय परद्रव्यों से सर्वथा ममत्व छोड़ दिया जाता है और आत्मस्वरूप में प्रेम होने लगता है उस समय कर्मों का आस्रव बंद हो जाता है—परद्रव्यों से रहित केवल आत्मस्वरूप में प्रेम करने से किसी प्रकार के कर्म का आस्रव नहीं होता है।।४९।।

ये मूढा लिप्सवो मोक्षं, परद्रव्य-मुपासते।
ते यांति सागरं मन्ये, हिमवंतं यियासवः।।५०।।
परद्रव्यों के रहे उपाशक, मूढ़ मोक्ष की रखते चाह।
वे हिमगिर पे जाना चाहें, करें समुद्र में वे अवगाह।।५०।।

अर्थ—जो मूढ़ मनुष्य मोक्ष तो प्राप्त करना चाहते हैं और परद्रव्यों की उपासना करते हैं—उन्हें अपनाते हैं मैं जानता हूँ वे हिमवान पर्वतपर तो जाना चाहते हैं और समुद्र की ओर चले जाते हैं। विपरीत दिशा की ओर जाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार हिमवान पर्वत की ओर जाने वाले मनुष्य समुद्र की ओर जाने से अज्ञानी समझे जाते हैं उसीप्रकार जो मनुष्य स्त्री पुत्र आदि परद्रव्यों को तो अपनाते हैं उनकी सेवा शुश्रूषा करते हैं और अपने स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त करना चाहते हैं वे भी अज्ञानी और मूढ़ समझे

जाते हैं उन्हें कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।।५०।।

परद्रव्यी भवत्यात्मा, परद्रव्य, विचिंतकः।
क्षिप्रामात्मत्व-मायाति, विविक्तात्म विचिंतकः।।५१।।
पर द्रव्यों पर द्रव्य का चिंतक, हो जाता पर द्रव्य स्वरूप।
पर द्रव्यों से रहित आत्म का, चिंतन होवे आतम रूप।।५१।।

अर्थ—जो आत्मा परद्रव्यों का विचार करता रहता है उन्हें अपनाता रहता है वह परद्रव्य वाला वा परद्रव्य स्वरूप हो जाता है और जो समस्त परद्रव्यों से रहित केवल आत्मा के स्वरूप का विचार करता है वह शीघ्र ही आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—यह एक साधारण नियम है कि मनुष्य जिस बात का ध्यान करता है उसी पदार्थ की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य आत्मस्वरूप का विचार न कर सदा परद्रव्यों का विचार करता रहता है उन्हें ही अपनाता है और उन्हीं की सेवा शुश्रूषा करता है उसे परद्रव्यों की ही प्राप्ति होती है परंतु जो यह समझकर कि 'यह आत्मा समस्त पदार्थों से भिन्न है। जो परपदार्थों का स्वरूप है वह आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता' आत्मस्वरूप का ही चिंतवन करता है वह अवश्य और शीघ्र आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह समस्त कर्मों से रहित विशद सिद्ध शुद्धात्मा हो जाता है।।५१।।

कर्म-नोकर्म-निर्मुक्त-ममूर्त-मजरामरं।
निर्विशेषमसंबद्ध-मात्मानं योगिनो विदुः।।५२।।
जरा मरण विरहित अमूर्त है, कर्म और नोकर्म विहीन।
असम्बद्ध कर्मों से आतम, ध्याएँ सामान्य ज्ञान प्रवीण।।५२।।

अर्थ—यह आत्मा-कर्म और नो कर्मों से रहित है अमूर्त है जरा और मरण से रहित है सामान्य स्वरूप है और कर्मों से असंबद्ध है ऐसा योगिगण जानते हैं।

भावार्थ—ज्ञानावरण आदि कर्म और इंद्रिय आदि पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल नोकर्म कहे जाते हैं। यह आत्मा कर्म नोकर्मों से रहित है। इसमें स्पर्श आदि पुद्गल के धर्म नहीं, इसलिये अमूर्तिक है। जरा मरण आदि शरीर के धर्म हैं उनसे भी यह आत्मा रहित है। ज्ञानस्वरूप दर्शनस्वरूप आदि विशेष स्वरूप न होकर यह सामान्य स्वरूप है और किसी प्रकार के कर्मों से बँधा नहीं है ऐसा योगी लोग इसे जानते और कहते हैं।।५२।।

वर्णगंधरसस्पर्श, शब्ददेहेन्द्रियादयः।
चेतनस्य न विद्यंते, निसर्गेण कदाचन।।५३।।
वर्ण गंध स्पर्श शब्द रस, देहेन्द्रिय आदिक सब जान।
नहीं चेतना के हो सकते, भिन्न पदार्थ जीव से मान।।५३।।

अर्थ—वर्ण गंध रस स्पर्श शब्द देह और इंद्रिय आदि पदार्थ स्वभाव से कभी चेतन के नहीं हो सकते अर्थात् ये समस्त जड़ पुद्गल के धर्म हैं आत्मा चेतन है इसलिये कभी भी ये उसके धर्म नहीं कहे जा सकते।।५३।।

भावार्थ—काला, नीला, पीला, लाल, सफेद, ५ वर्ण, सुगन्ध दुर्गन्ध-२ गंध, खट्टा, मीठा, कड़वा कषाय चरपरा ये ५ रस, हल्का, भारी, कड़ा, नरम, रूखा, चिकना, ठण्डा, गरम, ८ स्पर्श, सारे गरेगमापाधानि, से उत्पन्न ७ प्रकार के शब्द-औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस कार्मण शरीर-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, इन्द्रियाँ आदि स्वभाव से जीव के नहीं हैं।

शरीरयोगतः संति, वर्णगंधरसादयः।
स्फटिकस्येव शुद्धस्य, रक्तपुष्पादियोगतः।।५४।।
ज्यों स्फटिक स्वच्छ है लेकिन, पीत पुष्प के योग से रक्त।
आतम निर्मल है स्वभाव से, माने प्राणी देह संयुक्त।।५४।।

अर्थ—जिसप्रकार स्वच्छ भी स्फटिक रक्तपुष्प पीतपुष्प आदि के योग से रक्त पीत हो जाता है वह स्वभाव से तो रक्त पीत नहीं उसी प्रकार स्वभाव से तो आत्मा निर्मल है परन्तु शरीर के सम्बन्ध से वह स्पर्श रस गंध आदि से युक्त है ऐसा कह दिया जाता है।

भावार्थ—यदि शुद्धनिश्चयनय से देखा जाय तो स्फटिक मणि स्वच्छ निर्मल श्वेत पदार्थ है परंतु जिस समय उसके सामने रक्त पीत आदि पुष्प रख दिये जाते हैं उस समय उनकी प्रतिच्छाया से व्यवहारनय से वह लाल पीला कह दिया जाता है उसीप्रकार शुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा भी सर्वथा निर्मल और अमूर्तिक है तथापि शरीर के संबंध से व्यवहारनय से यह रसवाला, गंध वाला, वर्ण वाला आदि भी कह दिया जाता है।।५४।।

रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहपुरस्सराः।
भवंत्यौदयिका दोषाः सर्वे संसारिण सतः।।५५।।

क्रोध लोभ मद मोह रागादिक, दोष औदयिक भाव विशेष।
सब संसारी जीवों के जो, उदय में आते हैं अवशेष।।५५।।
यदि चेतयितुः संति स्वभावेन क्रुधादयः।
भवंतस्-ते विमुक्तस्य निवार्न्य ते तदा कथं।।५६।।
उदय जन्य न हो स्वभाविक, होते ये क्रोधादिक भाव।
तो मुक्तात्मा होने से फिर, कौन रोक सकते स्वभाव।।५६।।

अर्थ—राग द्वेष मद क्रोध लोभ और मोह आदि दोष औदयिक भाव हैं इसलिये ही समस्त संसारियों के सदा उदय में आते रहते हैं। क्योंकि यदि ये क्रोधादिक भाव कर्मों के उदयजन्य न होकर स्वाभाविक-स्वभावजन्य होते तो इन्हें मुक्त आत्मा के होने से कौन रोक सकता?

भावार्थ—जो भाव कर्मों के उदय होने पर जीव के हों वे औदयिक हैं। राग द्वेष मद क्रोध लोभ मोह आदि भाव सदा कर्मों के उदय में ही इस जीव के होते रहते हैं इसलिये ये भाव औदयिक कहे जाते हैं और यदि ये औदयिक न हो स्वाभाविक होते तो कर्ममुक्त जीव के भी होने चाहिये थे पर होते नहीं इसलिये औदयिक ही हैं।।५५-५६।।

गुणजीवादयः संति, विंशतिर्याः प्ररूपणाः।
कर्मसंबंधनिष्पन्नास्-ता जीवस्य न लक्षणं।।५७।।
जीव समास गुण स्थान पर्याप्ती, आदिक बीस प्ररूपण जान।
कर्म योग से होंय अतः वे, जीव का लक्षण नहीं मान।।५७।।

अर्थ—गुणस्थान जीव समास पर्याप्ति आदि जो बीस प्ररूपणा हैं वे भी कर्म के संबंध से उत्पन्न हैं इसलिये वे जीव का लक्षण नहीं हो सकतीं।

भावार्थ—जो भाव कर्म के संबंध से उत्पन्न हैं वे कभी भी जीव के स्वभाव वा लक्षण नहीं कहे जा सकते।।५७।।

क्षायोपशमिकाः संति, भावा ज्ञानादयोऽपि ये।
स्वरूपं तेऽपि जीवस्य, विशुद्धस्य न तत्त्वतः।।५८।।
कर्मावरण रहित निश्चय से, जीव पूर्ण निर्दोष प्रधान।
ज्ञानाज्ञान भाव कर्मों के, क्षयोपशम से होते हैं मान।।५८।।

अर्थ—यह जीव निश्चयनय से समस्त कर्मावरणों से रहित निर्दोष है इसलिये जो ज्ञान अज्ञान

भाव कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं वे भी जीव के स्वरूप नहीं हो सकते।

भावार्थ—जो भाव परपदार्थों के संबंध से हों वे जीव के स्वरूप नहीं हो सकते मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि ज्ञान कुमति कुश्रुति आदि अज्ञान चक्षुदर्शन आदि दर्शन कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं इसलिये ये जीव के स्वरूप नहीं हो सकते, केवल केवलज्ञान केवलदर्शन आदि केवल आत्मा की सहायता से होते हैं इसलिये वे ही आत्मा के स्वरूप हैं।।५८।।

गलित निखिल राग-द्वेष मोहादि दोषः, सतत-मिति विभक्तं चिंतयन्-नात्म तत्त्वं
गत मल मविकारं ज्ञानदृष्टिस्वभावं जन्ममरण-मुक्तं मुक्ति-माप्नोति योगी।।५९।।

रागद्वेष मोहादिक दोषों, विरहित, योगी मंगलकार।
सब पदार्थ से भिन्न आत्मा, का है जग में चिंतनकार।।
मोक्ष प्राप्त करता वह योगी, जो समस्त मल सर्व विकार।
विरहित दर्श ज्ञान स्वभावी, जन्म मृत्यु विरहित शुभकार।।५९।।

इति श्री अमितगति आचार्य विरचित योगसार प्रथमोऽध्यायः।

अर्थ—जो योगी समस्त राग-द्वेष मोह आदि दोषों से रहित हैं और निरंतर इस बात का विचार करता रहता है कि आत्मा का स्वरूप समस्त परपदार्थों के स्वरूप से भिन्न है वही योगी उस मोक्ष को प्राप्त करता है जो कि समस्त मल और विकारों से रहित हैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान स्वभाव है और जन्म मरण से मुक्त है।

भावार्थ—मोक्ष अवस्था, समस्त मलों से रहित है। वहाँ पर किसी प्रकार का विकार भी नहीं रहता। वह अखंड ज्ञान दर्शन स्वभाव मय है और जन्म मरण से मुक्त है तथा यह मोक्ष उसी योगी को प्राप्त हो सकती है जो समस्त राग द्वेष आदि से रहित है और सदा आत्मा के स्वरूप को परपदार्थों के स्वरूप से भिन्न समझता रहता है। इसलिये योगियों को चाहिये कि वे राग-द्वेष मोह आदि का सर्वथा नाशकर सदा समस्त पर पदार्थों के स्वरूप से भिन्न आत्मस्वरूप का चिंतवन करते रहें।।५९।।

इस प्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित श्री विशुद्धसागराचार्य अनुवादित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथ में जीवाधिकार समाप्त हुआ।।१।।

सबलों को तो सभी उठाते, निबलों को उठाओ तो जानें।
फूल लेने सभी हाथ बढ़ाते हैं, काँटों को हाथ बढ़ाओ तो जानें।।
महलों को तो सारा जहान सजाता है, कोई नई बात नहीं।
कुटिया को महलों की तरह सजाओ, तो तुम्हे कुछ माने।।

अजीवाधिकार

धर्माधर्मनभः कालपुद्गलाः परिकीर्तिताः।
अजीवा जीव तत्त्वज्ञैर्-जीवलक्षण वर्जिताः।।१।।
धर्माधर्माकाशकाल अरु, पुद्गल द्रव्य ये पंच प्रकार।
कहे अजीव द्रव्य हैं इनसे, जीव स्वरूप भिन्न शुभकार।।१।।

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और पुद्गल द्रव्य ये पांच द्रव्य अजीव द्रव्य कही जाती हैं और जीव द्रव्य का जो कुछ स्वरूप बतलाया है उससे इनका सर्वथा भिन्न स्वरूप है।।१।।

अवकाशं प्रयच्छंतः प्रविशंतः परस्परं।
मिलंतश्च न मुञ्चन्ति स्वस्वभावं कदाचन।।२।।
देते हैं अवकाश द्रव्य सब, रहकर के भी एक स्थान।
हों प्रविष्ट शामिल भी लेकिन, निज स्वभाव न छोड़ें जान।।२।।

अर्थ—वे समस्त द्रव्य एक दूसरे को अवकाश दान देते हैं और सबके सब एक स्थान पर रहने से एक दूसरे में प्रविष्ट और सम्मिलित भी हैं परंतु आत्मिक स्वभाव को कभी नही छोड़ते।

भावार्थ—धर्म-द्रव्य का स्वभाव जीव पुद्गलों को गमन में सहायता पहुँचाना, अधर्म द्रव्य का स्वभाव उन्हें ठहरने में सहायता देना, आकाश द्रव्य का सब द्रव्यों को अवकाश दान देना, काल का वर्तना वा नया पुराना परिणाम कराना और पुद्गल का मिलना बिछुड़ना आदि स्वभाव है। यद्यपि ये समस्त द्रव्य एक दूसरे को अवकाश दान देते हैं एक दूसरे में प्रविष्ट और इनका आपस में मेल भी है परंतु यह कदापि नहीं होता कि जो स्वभाव धर्म का है वह अधर्म का वा जो स्वभाव काल का है वह आकाश का हो जाय इसलिये एक क्षेत्र में रहने से यद्यपि ये एक स्वरूप जान पड़ते हैं परंतु इनके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं इसलिये ये सर्वभिन्न ही हैं।

अमूर्ता निष्क्रियाः सर्वे, मूर्तिमंतोऽत्र पुद्गलाः।
रूपगंधरसस्पर्श, व्यवस्था मूर्ति रुच्यते।।३।।

पुद्गल द्रव्य छोड़कर सारे, हैं अमूर्त निष्क्रिय जो नित्य।
मूर्तिमान पुद्गल सक्रिय रस, रूप गंध स्पर्शाश्रित्य।।३।।

अर्थ—केवल पुद्गल द्रव्य को छोड़कर ये समस्त द्रव्य अमूर्त और निष्क्रिय-क्रिया रहित हैं किन्तु पुद्गल द्रव्य मूर्तिमान और सक्रिय है तथा रूप रस गंध और स्पर्शस्वभाव मूर्ति, कही जाती है।

भावार्थ—रूप रस गन्ध स्पर्श मूर्ति है जिसके यह मूर्ति विद्यमान हो वह मूर्तिक है। धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्यों में मूर्तिकता नहीं इसलिये वे सब अमूर्त हैं तथा अजीवों में पुद्गल में गमन आदि क्रिया देखने में आती है इसलिये यह सक्रिय है धर्म अधर्म आदि में ये क्रिया नहिं होतीं इसलिये वे सब निष्क्रिय हैं।।३।।

जीवेन सह पंचापि, द्रव्याण्येते निवेदिताः।
गुण-पर्ययवद्द्रव्य-मिति लक्षणयोगतः।।४।।
गुण पर्यायों युक्त द्रव्य है, जीवाजीव में लक्षण जान।
अतः धर्म आदिक पाँचों ही, जीव सहित छह द्रव्यें मान।।४।।

अर्थ—जिसमें गुण और पर्याय रहें उसका नाम द्रव्य है यह द्रव्य का लक्षण जीव में और पाँचों प्रकार के अजीवों में मौजूद हैं इसलिये धर्म अधर्म आदि पांचों अजीव और जीव ये छहों द्रव्यें हैं।

भावार्थ—जो गुण और पर्यायों का धारक है वह द्रव्य है। यह द्रव्य का लक्षण है। जीवद्रव्य में ज्ञानदर्शन सुख वीर्य चेतनत्व अमूर्तत्व विशेष गुण और अस्तित्व आदि सामान्य गुण मौजूद हैं और उनकी पर्यायों का परिवर्तन हुआ करता है, पुद्गल में स्पर्श रस गंध वर्ण अचेतनत्व मूर्तत्त्व विशेषगुण और अस्तित्व आदि सामान्य गुण विद्यमान हैं और उनकी प्रतिसमय पर्यायें पलटती रहती हैं। धर्मद्रव्य में गतिहेतुत्व अमूर्तत्व और अचेतनत्व ये विशेषगुण अस्तित्व आदि सामान्य गुण मौजूद हैं और इनकी पर्यायें भी पलटती रहती हैं। अधर्मद्रव्य में स्थितिहेतुत्व अमूर्तत्व और अचेतनत्व विशेष गुण अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं। आकाशद्रव्य में अवगाहनहेतुत्व अमूर्तत्त्व और अचेतनत्व विशेष गुण अस्तित्व वस्तुत्व आदि सामान्य गुण हैं और इनकी पर्यायें पलटती रहती हैं एवं काल द्रव्य में वर्तनाहेतुत्व अचेतनत्व आदि विशेष गुण और अस्तित्व वस्तुत्व आदि सामान्य गुण हैं और इनकी पर्यायें पलटती रहती हैं इस रीति से धर्म आदि पाँचों अजीवों में और जीव द्रव्य में यह लक्षण मौजूद है इसलिये ये छहों द्रव्यें हैं।।४।।

द्रूयते गुणपर्यायैर्-यद्यद् द्रवति तानथ।
तद्द्रव्यं भण्यते षोढा, सत्तामय-मनश्वरं।।५।।
प्राप्त होय गुण पर्यायों से, द्रव्य जीव पुद्गल आकाश।
धर्माधर्म काल छह जानों, अस्तिवान अविनाशी खास।।५।।

अर्थ—जो गुण पर्यायों से प्राप्त किया जाय अथवा जो गुण और पर्यायों को प्राप्त हो वह द्रव्य है इस द्रव्य के जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छह भेद हैं तथा ये छहों अस्तित्व स्वरूप और अविनाशी हैं।।५।।

ध्रौव्योत्पादलयालीढा, सत्ता सर्वपदार्थगा।
एकशोऽनंत पर्याया प्रतिपक्ष समन्विता।।६।।
व्यय उत्पाद धौव्य युत सत् है, सब पदार्थ में रहता नित्य।
जो अनंत पर्यायों संयुत, है प्रतिपक्ष के भी आश्रित्य।।६।।

अर्थ—यह सत्ता ध्रौव्य उत्पाद और व्यय तीन स्वरूप है समस्त पदार्थों में रहने वाली है अनंत पर्यायों का धारक है और प्रतिपक्ष से युक्त है।

भावार्थ—यह सत्ता ध्रौव्य उत्पाद और व्यय स्वरूप तीनों पदार्थों में रहती है इसलिये तीनों स्वरूप है और नित्य पदार्थ में रहने से नित्यस्वरूप, उत्पन्न होने वाले पदार्थों में रहने से उत्पाद स्वरूप और विनाशीक पदार्थों में रहने से व्यय स्वरूप होने से एक एक स्वरूप है। घट-पट आदि समस्त पदार्थों में रहती है इसलिये सर्वपदार्थ और केवल घट वा केवल पट में भी रहती है इसलिये एक पदार्थ, सब पदार्थों में एक स्वरूप से रहती है इसलिये एकस्वरूप और भिन्न पदार्थों में भिन्न-भिन्न स्वरूप से रहती है इसलिये अनेक स्वरूप भी है। पदार्थ की अनंत पर्यायों में रहती है इसलिये अनंतपर्याय स्वरूप और एक पर्याय में रहती है इसलिये एक पर्याय स्वरूप भी है।।६।।

नश्यत्युत्पद्यते भावः, पर्यायापेक्षयाखिलः।
नश्यत्युत्पद्यते कश्चिन्-न द्रव्यापेक्षया पुनः।।७।।
पर्यायार्थिक नय से सारे, होते हैं, उत्पन्न विनाश।
द्रव्यार्थिक नय से उत्पन्न न, न ही होते कोई नाश।।७।।

अर्थ—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं परंतु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा न कोई पदार्थ नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है इसलिये इस नय की अपेक्षा सब ध्रुव हैं।

भावार्थ—पर्यायार्थिक नय केवल पर्याय को ही विषय करता है और पर्यायों का सदा उत्पाद व्यय हुआ करता है एवं ये पर्याय द्रव्य अभिन्न हैं इसलिये पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्यों का नाश और उत्पत्ति होती है यह कहा जाता है तथा द्रव्यार्थिकनय केवल द्रव्य को विषय करता है और द्रव्य सदा अवस्थित-नित्य रहता है उसका कभी नाश और उत्पाद नहीं होता इसलिये द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सब पदार्थ नित्य और अविनाशी हैं ऐसा कहा जाता है।।७।।

किंचित्संभवति द्रव्यं, न विना गुणपर्ययैः।
संभवंति विना द्रव्यं, न गुणा न च पर्यायाः।।८।।
गुण पर्यायों रहित द्रव्य ना, बिना द्रव्य के गुण पर्याय।
होते नहीं हैं गुण पर्यायों, में तादात्म कहे जिनराज।।८।।

अर्थ—बिना गुण और पर्यायों के तो कभी कोई द्रव्य नहीं हो सकता और बिना द्रव्य के गुण और पर्याय नहीं हो सकते गुण पर्याय और द्रव्य का तादात्म्य संबंध है।

भावार्थ—अनेक मनुष्यों का सिद्धांत है कि गुण पर्याय भिन्न हैं और द्रव्य भिन्न है तथा द्रव्य जब उत्पन्न होता है तब उसकी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में गुण उत्पन्न नहीं होते परंतु जैन सिद्धांत में यह बात नहीं। उसका कथन है कि व्यवहारदृष्टि से यद्यपि गुण और द्रव्य भिन्न-भिन्न कहे जाते हैं परंतु निश्चय नय से नहीं। निश्चय नय से जो द्रव्य है वही गुण हैं और जो गुण हैं वही द्रव्य है तथा उत्पत्ति क्षण में द्रव्य में गुण नहीं होते पीछे से उत्पन्न होते हैं यह भी बात मिथ्या है क्योंकि यदि प्रथम क्षण में द्रव्य में गुण आदि न माने जायेंगे तो उस समय 'गुणवाला द्रव्य है' यह लक्षण ही उसमें न जायेगा इसलिये यही मानना पड़ेगा कि गुण पर्यायों के बिना कोई द्रव्य नहीं रह सकता और द्रव्य के बिना गुण पर्याय नहीं रह सकते।।८।।

धर्माधर्मैक जीवानां, प्रदेशाना-मसंख्यया।
अवष्टब्धो नभोदेशः, प्रदेशः परमाणुना।।९।।
धर्माधर्म प्रत्येक जीव के, संख्यातीत प्रदेश हैं व्याप्त।
अणु घेरता नभ प्रदेश को, उसे प्रदेश कहते हैं आप्त।।९।।

अर्थ—धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और एक जीव द्रव्य प्रत्येक के असंख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं और वे लोकाकाश में व्याप्त हैं तथा जितनी आकाश की जगह को अविभागी पुद्गल परमाणु घेरता है उसका नाम प्रदेश है।

भावार्थ—आकाश के दो भेद हैं एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। इनमें लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी है और धर्म अधर्म एक जीव द्रव्य में प्रत्येक के असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं इसलिये ये तीनों द्रव्य लोकाकाश में व्याप्त हैं तथा जितनी आकाश की जगह को अविभागी पुद्गल का परमाणु व्याप्त करता है उसे प्रदेश कहते हैं।।९।।

द्रव्य-मित्यादि-मध्यांत-मविभाग-मतींद्रियं।
अविनाश्यग्निशस्त्राद्यैः, परमाणु-रुदाहृतं।।१०।।

आदि मध्य या अंत स्वयं जो, है विभाग विरहित ये जान।
रहा अतीन्द्रिय अग्नि आदि से, नष्ट न हो परमाणू मान।।१०।।

अर्थ—जो द्रव्य स्वयं आदि स्वयं मध्य और स्वयं अंतस्वरूप हो, विभाग रहित हो, अतीन्द्रिय हो और अग्नि शस्त्र आदि से विनष्ट न हो सके वह परमाणु है।

भावार्थ—परमाणु इतना छोटा पदार्थ है कि वही अपनी आदि वही अपना मध्य और वही अपना अंत है वह अविभागी है। उसका कोई भी विभाग नहीं हो सकता। अतींद्रिय है—इन्द्रियाँ उसे विषय नहीं कर सकतीं और अविनाशी है—अग्नि से जल नहीं सकता और न शस्त्र आदि से उसके खण्ड हो सकते हैं।।१०।।

प्रदेशा नभसोऽनंता, अनंतानंत-मानकाः।
पुद्गलानां जिनैरुक्ताः, परमाणु-रनंशकः।।११।।

अनंत प्रदेश कहे हैं नभ में, अनन्तानंत पुद्गल में जान।
है अनंश परमाणू उसका, न विभाग होता है मान।।११।।

अर्थ—आकाश के प्रदेश अनंत हैं। पुद्गलों के अनंतानंत हैं और परमाणु अनंश है—उसका कोई विभाग नहीं होता।।११।।

असंख्या भुवनाकाशे, कालस्य परमाणवः।
एकैका व्यतिरिक्तास्ते, रत्नानामिव राशयः।।१२।।

संख्यातीत काल के अणु हैं, लोक में रत्न की राशि समान।
एक-एक हैं जुदे-जुदे जो, ऐसा कहते जिन भगवान।।१२।।

अर्थ—काल द्रव्य के परमाणु असंख्याते हैं और लोकाकाश में रत्नों की राशि के समान वे एक-एक और जुदे-जुदे हैं।

भावार्थ—अमूर्तिक द्रव्यों में धर्म अधर्म आकाश और एक जीव द्रव्य अखंड हैं इनके किसी प्रकार के विभाग नहीं हो सकते परंतु काल द्रव्य ऐसा नहीं जिसप्रकार रत्नों की राशि होती है अर्थात् जिस प्रकार राशि के समस्त रत्न जुदे-जुदे होते हैं उसी प्रकार काल द्रव्य के परमाणु जुदे-जुदे हैं और असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में वे एक-एक कर स्थित हैं।।१२।।

धर्माधर्मौ स्थितौ व्याप्य, लोकाकाश-मशेषकं।
व्योमैकांशादिषु ज्ञेया, पुद्गलाना-मवस्थितिः।।१३।।
व्याप्त लोक में धर्माधर्म है, पुद्गल एक प्रदेश कर आदि।
संख्यातीत प्रदेशों पर्यंत, घेर के रहते नभ इत्यादि।।१३।।

अर्थ—धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित हैं और पुद्गल द्रव्यों की स्थिति आकाश के एक प्रदेश को लेकर असंख्यात प्रदेश पर्यंत समझनी चाहिये।

भावार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्य अखंड और असंख्यात प्रदेशी द्रव्यें हैं एवं असंख्यात प्रदेशी ही लोकाकाश है इसलिये ये दोनों द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं ऐसा कोई भी लोकाकाश का प्रदेश नहीं जहाँ धर्म और अधर्म द्रव्य न हों परंतु पुद्गल द्रव्य के एक से लेकर अनंतानंत भाग हैं वे परमाणु और स्कंध कहे जाते हैं और आकाश के एक प्रदेश को लेकर असंख्यात प्रदेशों में वे रहते हैं अर्थात् एक प्रदेश में परमाणु दो प्रदेशों में द्वयणुक त्रसरेणु आदि स्कन्ध रहते हैं।।१३।।

लोकासंख्येयभागादा-ववस्थानं शरीरिणां।
अंशा विसर्पसंहारौ, दीपानामिव कुर्वते।।१४।।
लोकाकाश के असंख्यात, भाग को आदी कर के जीव।
दीपक के अंशों सम उनके, संकुचित फैले सदा अतीव।।१४।।

अर्थ—जीवों की स्थिति लोक के असंख्येयभाग आदि प्रदेशों में है और दीपक के अंशों के समान उनके प्रदेश संकुचित हो जाते हैं और फैल भी जाते हैं।

भावार्थ—यदि दीपक को किसी खुली जगह पर रख दिया जाय तो उसका प्रकाश फैल जाता है और उसी को यदि किसी बर्तन आदि संकुचित स्थान में रख दिया जाय तो उसका प्रकाश उस बर्तन आदि के ही आकार संकुचित हो जाता है तो जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में संकुचित विस्तृत होने की शक्ति है उसीप्रकार यह आत्मा भी संकोच विकासशाली है जिस समय समुद्घात अवस्था में इसके प्रदेश फैलते हैं तो यह समस्त लोक को भी व्याप्त कर लेता है और समुद्घात

अवस्था के सिवाय यह जैसे शरीर को धारण करता है उसी के परिमाण इसके प्रदेश हो जाते हैं।।१४।।

जीवानां पुद्गलानां च, धर्माधर्मौ गतिस्थिती।
अवकाशं नभः कालो, वर्तनां कुरुते सदा।।१५।।
गति दे धर्म जीव पुद्गल को, द्रव्य अधर्म हो स्थितिवान।
दे अवकाश आकाश सभी को, काल वर्तना कारी मान।।१५।।

अर्थ—धर्म द्रव्य जीव पुद्गलों की गति में, अधर्मद्रव्य स्थिति में, सहायता प्रदान करता है, आकाश अवकाशदान देता है और कालद्रव्य वर्तना-नया पुरानापना करता है।

भावार्थ—जिस समय जीव पुद्गल गमन करते हैं उस समय धर्म द्रव्य उनकी सहायता करता है, जिस समय ठहरते हैं उस समय अधर्म द्रव्य सहायता करता है, आकाश द्रव्य अवकाश दान देकर उनका उपकार करता है और कालद्रव्य द्रव्यों की वर्तना कराने में सहकारी कारण है।।१५।।

संसारवर्तिनोऽन्योन्य-मुपकारं वितन्वते।
मुक्तास्तद् व्यतिरेकेण, न कस्याप्युपकुर्वते।।१६।।
संसारी प्राणी करते हैं, एक दूसरे का उपकार।
मुक्तजीव उपकार करें न, क्योंकि भिन्न वे भलीप्रकार।।१६।।

अर्थ—जो जीव संसार में रहने वाले हैं वे भी एक दूसरे का उपकार करते हैं किन्तु मुक्त जीव किसी का उपकार नहीं करते क्योंकि वे संसारी जीवों से भिन्न हैं—संसार के जाल से बाहर निकल गये हैं।

भावार्थ—जो चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करने वाले हैं वे संसारी हैं और जो संसार से समस्तकर्मों से रहित हैं वे मुक्त जीव हैं। इनमें संसारी जीव एक दूसरे का उपकार करते हैं सिद्ध जीव नहीं क्योंकि वे कृतकृत्य हैं—संसार में कोई भी कार्य उन्हें करने के लिये अवशिष्ट नहीं रहा।

जीवितं मरणं सौख्यं, दुःखं कुर्वंति पुद्गलाः।
उपकारेण जीवानां, भ्रमतां भवकानने।।१७।।
जन्म मरण सुख दुख पुद्गल के, इस भव वन में हैं उपकार।
चतुर्गती में जन्म जरादिक, पावे जिससे बारंबार।।१७।।

अर्थ—जो जीव संसाररूपी महावन में भटकने वाले हैं उनके जीवन मरण सुख और दुःख

में उपकारी पुद्गल हैं अर्थात् जीवों का जो जीवन मरण सुख और दु:ख उपकार होता है वह पुद्गल द्रव्य की ही सहायता से होता है।।१७।।

पदार्थानां निमग्नानां, स्वरूपं परमार्थतः।
करोति कोऽपि कस्यापि, न किंचन कदाचन।।१८।।
हैं पदार्थ संसार में जो भी, निज स्वरूप में रहते लीन।
निश्चय से कोई कुछ भी हो, उन्हें बनाए नहीं नवीन।।१८।।

अर्थ—संसार में समस्त पदार्थ अपने अपने स्वरूप में मग्न हैं निश्चयनय से कोई भी कभी कुछ भी उनके स्वरूप को नवीन नहीं बना सकता।

भावार्थ—संसार में जीव आदि अनेक पदार्थ हैं और चेतन आदि उनके स्वरूप भी भिन्न भिन्न हैं उन पदार्थों के जो स्वरूप हैं वे पदार्थ सदा उन्हीं में लीन रहते हैं कोई भी पदार्थ उनके स्वरूप का परिवर्तन नहीं कर सकता तथापि पहिले जो परिवर्तन आदि कह आये हैं वह व्यवहारनय से है निश्चय से नहीं।।१८।।

स्कंधो देशः प्रदेशोणुश्-चतुर्धा पुद्गलो मतः।
समस्त-मर्ध-मर्धार्ध-मविभाग-मिमं विदुः।।१९।।
समुदाय रूप स्कंध अर्घ है, देश का भी हो अर्घ प्रदेश।
अविभागी पुद्गल परमाणू-जैनागम में कहे विशेष।।१९।।

अर्थ—स्कंध देश प्रदेश और परमाणुओं के भेद से पुद्गल चार प्रकार का है समस्त समुदाय का नाम स्कंध, आधे का देश, उससे भी आधे का प्रदेश और जिसका फिर से विभाग न हो सके वह परमाणु है।।१९।।

सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैर्लोकः, स्थूलैः स्थूलतरैश्चितः।
अनंतैः पुद्गलैश्चित्रैः, कुंभो धूमै-रिवाभितः।।२०।।
लोकाकाश स्थूल स्थूलतर, सूक्ष्म सूक्ष्मतर भरितविशेष।
प्रदेश अनंत से चित्र विचित्रित, धूम भरित घट रहें प्रदेश।।२०।।

अर्थ—जिस प्रकार घड़ा सब ओर से धूम से व्याप्त रहता है उसका कोई भी ऐसा प्रदेश बाकी नहीं बचता जहाँ धूम न हो उसी प्रकार यह लोकाकाश भी सूक्ष्म सूक्ष्मतर स्थूल स्थूलतर

अनंते चित्र विचित्र पुद्गलों से भरा हुआ है।

भावार्थ–पुद्गल का सूक्ष्मभेद कर्म है। सूक्ष्मतर परमाणु है। स्थूल फल जमीन जल आदि हैं और स्थूलतर महास्कंध हैं ये चारों प्रकार के पुद्गल घड़ा में जिस प्रकार धुआँ भरा रहता है वा घी भरा रहता है उस प्रकार समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं ऐसा कोई भी लोकाकाश का प्रदेश नहीं जहाँ सूक्ष्म आदि पुद्गल के भेद न हों।।२०।।

मूर्तामूर्तं द्विधा द्रव्यं, मूर्तामूर्तैर्-गुणैर्युतं।
अक्षग्राह्या गुणा मूर्ता, अमूर्ता संत्यतींद्रियः।।२१।।
मूर्तामूर्त भेद से द्रव्य दो, मूर्तामूर्त गुणों से युक्त।
इंद्रियातीत अमूर्तमूर्त हैं, इंद्रिय विषय ग्राह्य संयुक्त।।२१।।

अर्थ–मूर्त और अमूर्त के भेद से द्रव्य दो प्रकार हैं और क्रम से वे मूर्त और अमूर्त गुणों से युक्त इंद्रियग्राह्य हैं। जिनको इंद्रियाँ विषय करती हैं वे मूर्तगुण हैं और जो अतींद्रिय हैं–इन्द्रियों के विषय नहीं हैं वे अमूर्त गुण हैं।

भावार्थ–यह ऊपर कह दिया गया है कि स्पर्श रस आदि गुणों का समुदाय मूर्त्ति है और जिसके यह मूर्ति हो वह मूर्त्त कहा जाता है। पुद्गल के यह मूर्ति मौजूद है इसलिये वह मूर्त है और धर्मादि शेष पाँच द्रव्यों में यह मूर्ति नहीं इसलिये वे अमूर्त हैं। स्पर्श रस आदि मूर्तिक गुण पुद्गल में रहते हैं और ज्ञान दर्शन आदि चेतनत्त्व अचेनत्त्व गतिहेतुत्त्व स्थितिहेतुत्त्व आदि गुण जीव आदि अमूर्त द्रव्यों में रहते हैं। तथा स्पर्श आदि मूर्त गुणों का इंद्रियों से ज्ञान होता है और चेतनत्त्व अचेतनत्त्व आदि अमूर्त गुणों को इंद्रियां विषय नहीं करतीं।।२१।।

कर्म वेदयमानस्य, भावाः संति शुभाशुभाः।
कर्मभावं प्रपद्यंते, संसक्तास्तेषु पुद्गलाः।।२२।।
कर्मोदय से भाव शुभाशुभ, होते हैं पुद्गल संबंध।
कर्मरूप परिणत हो जाते, भावानुसार होता है बंध।।२२।।

अर्थ–जो मनुष्य कर्मों का भोगने वाला है–पहिले संचय किये कर्मों के फलों को भोगता है उसके शुभ अशुभ भाव होते हैं और जो पुद्गल इन शुभ अशुभ भावों से आकार आत्मा के साथ संबंध करते हैं वे कर्मरूप परिणत हो जाते हैं।

भावार्थ–जो जीव पूर्व संचित कर्मों के भोगने वाले हैं नियम से उनके शुभ अशुभ परिणाम

होते हैं और उन शुभ अशुभ भावों से संबंध रखने वाले पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत हो जाते हैं इसलिये ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलस्वरूप हैं अन्य नहीं।।२२।।

योगेन ये समायांति, शस्ताशस्तेन पुद्गलाः।
तेऽष्टकर्मत्व-मिच्छंति, कषाय परिणामतः।।२३।।
योग शुभाशुभ के पुद्गल का, आस्रव होय कषाय विशेष।
के निमित्त से अष्ट कर्ममय, परिणत होवें सर्व अशेष।।२३।।

अर्थ—प्रशस्त वा अप्रशस्त योग से जिन पुद्गलों का आस्रव होता है वे कषाय मय परिणामों के निमित्त से ज्ञानावरणादि अष्टम स्वरूप परिणत हो जाते हैं।

भावार्थ—शरीर वचन और मन की क्रिया का नाम योग है और वह प्रशस्त अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है अर्थात् शुभ पदार्थ में मन वचन काय की क्रिया को प्रशस्त योग कहते हैं और जो मन वचन काय की क्रिया अशुभ पदार्थ में हो वह अप्रशस्त योग कही जाती है उन्हीं प्रशस्त अप्रशस्त योगों के द्वारा पुद्गलों का आस्रव होता है और वे पुद्गल, कषायमय परिणामों के निमित्त से ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि कर्मरूप परिणत हो जाते हैं।।२३।।

ज्ञानदृष्ट्यावृती वेद्यं, मोहनीयायुषी विदुः।
नाम गोत्रांतरायौ च, कर्माण्यष्टेति सूरयः।।२४।।
ज्ञान दर्शनावरण वेदनीय, मोहनीय है आयू नाम।
गोत्र और अंतरायकर्म में, आठ कहें तीर्थेश प्रधान।।२४।।

अर्थ—कर्म मुख्यत: तीन प्रकार के हैं (१) द्रव्य कर्म (२) भाव कर्म (३) नो कर्म उनमें द्रव्य कर्म के ८ भेद हैं ज्ञानावरणी दर्शनावरणी वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अंतराय ये आठ कर्म हैं।।२४।।

कल्मषोदयतो भावो, यो जीवस्य प्रजायते।
स कर्ता तस्य भावस्य, कर्मणो न कदाचन।।२५।।
कर्मोदय से जिन भावों की, हो उत्पत्ती उनका जीव।
कर्त्ता है कर्मों का कर्त्ता, नहीं होय जिन कहे सजीव।।२५।।

अर्थ—कर्म के उदय से जीव के जिन भावों की उत्पत्ति होती है उन्हीं का वह कर्ता है कर्मों का वह कर्ता कभी नहीं हो सकता।

भावार्थ–कर्मों के द्वारा आत्मा में रागद्वेष आदि विभाव भाव उत्पन्न होते हैं और उनसे यह रागी द्वेषी आदि कहा जाता है इसलिये यह राग आदि भावों का कर्ता है कर्मों का कर्ता नहीं।।२५।।

विविधाः पुद्गलाः स्कंधा, संपद्यंते यथा स्वयं।
कर्मणामपि निष्पत्ति-रपरैर-कृता तथा।।२६।।
ज्यों पुद्गलाणु स्कंध रूप हों, त्यों ही कर्म होंय उत्पन्न।
पुद्गल कर्म रूप परिणत हों, कर्मोत्पत्ती करें न अन्न।।२६।।

अर्थ–किन्तु जिस प्रकार पुद्गल के परमाणु के आपसे आप स्कंध अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार कर्मों की भी स्वयं उत्पत्ति हो जाती है-पुद्गल आपसे आप कर्मरूप परिणत हो जाते हैं उनकी उत्पत्ति को करने वाला दूसरा कोई नहीं।

भावार्थ–जिसप्रकार पुद्गल के परमाणु आप से आप द्व्यणुक त्रसरेणु आदि स्कंधरूप परिणत हो जाते हैं परमाणुओं को स्कंधरूप परिणमाने वाला कोई पदार्थ नहीं उसी प्रकार पुद्गल भी जीवों के शुभ अशुभ भावों का संबंध करते ही कर्मरूप परिणत हो जाते हैं–पुद्गलों को भी कर्मस्वरूप परिणमाने में अन्य जीव आदि कारण नहीं।।२६।।

कर्मभावं प्रपद्यंते, न कदाचन चेतनाः।
कर्म चैतन्यभावं वा, स्वस्वभाव व्यवस्थितेः।।२७।।
कर्म रूप न जीव कभी हो, जीव न होवे कर्म स्वरूप।
भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं इनके, भिन्न-भिन्न हैं जिनके रूप।।२७।।

अर्थ–चेतन-जीव कभी कर्मस्वरूप परिणत नहीं हो सकते और कर्म कभी चेतन नहीं हो सकते क्योंकि इनके स्वभावों की न्यारी-न्यारी व्यवस्था है–दोनों के स्वभाव आपस में सर्वथा भिन्न हैं। यथा–नाज्ञो विज्ञत्त्व मायाति विज्ञो नाज्ञत्त्व मिच्छति।

भावार्थ–आत्मा चैतन्यस्वरूप है और कर्म जड़स्वरूप हैं इसलिये जिस प्रकार शीत उष्णस्वरूप नहीं हो सकता और उष्ण शीतस्वरूप नहीं हो सकता उसी प्रकार चेतन कर्मस्वरूप नहीं हो सकता और कर्म चेतनस्वरूप नहीं हो सकता–सदा ये भिन्न ही रहे हैं, रहेंगे और हैं।

जीवः करोति कर्माणि, यद्युपादान भावतः।
चेतनत्वं तदा नूनं, कर्मणो वार्यते कथं।।२८।।
उपादान भावों से कर्मों, का कर्त्ता यदि होवे जीव।
कर्म भी चेतन रूप होयेंगे, कारणगत हो कार्य अतीव।।२८।।

अर्थ—यदि कहा जायेगा कि आत्मा कर्मों का उपादान कारण है और उपादान भाव से वह कर्मों का कर्ता है तो वहां पर यह उत्तर है कि उपादान कारण जैसा होता है कार्य भी वैसा ही होता है। जब चेतन आत्मा कर्मों का उपादान कारण है तब ही कर्म भी अवश्य चेतन स्वरूप होने चाहिए।

भावार्थ—कारण दो प्रकार के होते हैं उपादान कारण और सहकारी कारण। इनमें यह नियम है कि उपादान कारण जैसा होता है कार्य भी वैसा ही होता है। यदि उपादान कारण उष्ण होगा तो उससे उष्ण कार्य की उत्पत्ति होगी यदि वह शीत होगा तो उससे शीत कार्य उत्पन्न होगा यह कभी नहीं हो सकता कि शीत उपादान कारण से उष्ण कार्य और उष्ण उपादान कारण से शीत कार्य हो। यदि कर्मों का उपादान, आत्मा माना जायेगा तो आत्मा चेतन और कर्म जड़ हैं इसलिये कर्मों को भी चेतन मानना पड़ेगा अत: यह बात युक्तियुक्त है कि चेतन आत्मा कभी जड़ कर्मों का उपादान कारण नहीं हो सकता है।।२८।।

यद्युपादानभावेन, विधत्ते कर्म चेतनं।
अचेतनत्व-मेतस्य, तदा केन निषिध्यते।।२९।।
यदी कहें कि कर्म आत्मा, का है उपादान कारण।
तो फिर आतम जड़ कहलाए, कैसे इसका हो वारण।।२९।।

अर्थ—अथवा यदि यह भी कहा जाय कि कर्म ही आत्मा का उपादान कारण है और वह उपादान रूप से चेतन का कर्ता है सो भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी दशा में जीव को भी अचेतन कहना पड़ेगा अर्थात् उपादान कारण कर्म के जड़ होने से जीव भी जड़ हो जायेगा इसलिये कर्म कभी आत्मा का उपादान कारण नहीं हो सकता।।२९।।

एवं संपद्यते दोषः, सर्वथापि दुरुत्तरः।
चेतनाचेतनद्रव्य, विशेषाभावलक्षणः।।३०।।
उपादान कारण कर्मों का, माना जाए जीव विशेष।
अथवा जीव कर्म का कारण, कहे सिद्ध न हों अवशेष।।३०।।

अर्थ—इस रीति से अर्थात् यदि कर्म को चेतन का उपादान कारण माना जायेगा अथवा चेतन को कर्म का उपादान कारण माना जायेगा तो कौन चेतन और कौन अचेतन यह बात ही सिद्ध न हो सकेगी।

भावार्थ—जब यह नियम माना जायेगा कि जड़ चेतन का उपादान और चेतन जड़ का उपादान कारण होता है तब या तो सब पदार्थ जड़ ही हो जायेंगे या वे सब चेतन ही कहे जायेंगे इसलिये चेतन अचेतन दोनों पदार्थों की रक्षा के लिये जड़ को चेतन का और चेतन को जड़ का उपादान कारण न मानना चाहिये।।३०।।

सरागं जीव-माश्रित्य, कर्मत्वं यांति पुद्गलाः।
कर्माण्याश्रित्य जीवोऽपि, सरागत्वं प्रपद्यते।।३१।।
जीव सरागी के आश्रय सब, पुद्गल कर्म रूपतापाय।
जीव कर्म का आश्रय पाके, तब वह रागी जीव कहाय।।३१।।

अर्थ—जिस समय पुद्गल सरागी जीव का अवलंबन करते हैं उस समय वे कर्मरूप परिणत हो जाते हैं और जब जीव कर्मों का आश्रय करता है तब वह भी रागी हो जाता है।

भावार्थ—जिस समय जीव रागी और द्वेषी रहता है उस समय जो पुद्गल उसके साथ आकर संबंध करते हैं ये रागद्वेष के निमित्त से कर्मरूप परिणत हो जाते हैं और जिस समय पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं उस समय उसके निमित्त से जीव भी रागी और द्वेषी हो जाते हैं।।३१।।

कर्म चेत्कुरुते भावो, जीवः कर्ता तदा कथं।
न किंचित्कुरुते जीवो, हित्वा भावं निजं परं।।३२।।
भाव कर्म के कर्त्ता वे ही, कर्मोत्पत्ति में हेतु प्रधान।
क्योंकि भावों बिना अन्य कोई, है पदार्थ का कर्ता मान।।३२।।

अर्थ—यदि रागद्वेष आदि जीव के भाव कर्मों को उत्पन्न करते हैं तो वे ही कर्म की उत्पत्ति में कारण हैं जीव नहीं क्योंकि जीव सिवाय अपने भावों के अन्य किसी भी पदार्थ का कर्ता नहीं।

भावार्थ—जो कार्य को करे वही कर्ता कहा जाता है, रागद्वेष आदि भाव कर्मों को करते हैं इसलिये वे ही कर्मों के कर्ता हैं जीव नहीं क्योंकि जीव सिवाय अपने आत्मिक भावों के दूसरे किसी पदार्थ को नहीं करता।।३२।।

कर्मतो जायते भावो, भावतः कर्म सर्वदा।
इत्थं कर्तृत्वमन्योन्यं, दृष्टव्यं भावकर्मणोः।।३३।।
कर्म से भावों की उत्पत्ति, भावों से हों कर्मोत्पन्न।
अतः कर्म व भाव हैं दोनों, कर्त्ता आपसमें अन्य-अन्य।।३३।।

अर्थ—कर्म से भावों की उत्पत्ति होती है और भावों से कर्म उत्पन्न होते हैं इस रीति से भाव और कर्म दोनों ही आपस में कर्ता हैं।

भावार्थ—जिस समय भाव, कर्मों को करते हैं उस समय तो भाव कर्ता है और जिस समय कर्म, भावों को करते हैं उस समय कर्म कर्ता हैं इस रीति से भाव भी कर्ता और कर्म हैं और कर्म भी कर्ता एवं कर्म कहे जाते हैं।।३३।।

कोपादिभिः कृतं कर्म, जीवेन कृत-मुच्यते।
पदातिभिर्-जितं युद्धं, जितं भूपतिना यथा।।३४।।
युद्ध में जैसे जीते सेना, होता है राजा का नाम।
भाव कर्म के कर्त्ता वैसे, होता है जीवों का नाम।।३४।।

अर्थ—जिसप्रकार युद्ध को जीतते तो सेना के लोग हैं और नाम राजा का होता है उसी प्रकार कर्मों को करते तो क्रोध आदि भाव हैं और नाम जीव का होता है।

भावार्थ—यदि निश्चयनय से देखा जाय तो युद्ध के जीतने वाले सेना के ही लोग होते हैं परंतु व्यवहार से जीतने वाला राजा है यह बात कह दी जाती है उसी प्रकार वास्तविक रीति से कर्मों के करने वाले तो क्रोध आदि भाव ही हैं परंतु व्यवहार से उनका कर्ता जीव है यह कह दिया जाता है।।३४।।

देहसंहति-संस्थान, गति जाति पुरोगमाः।
विकाराः कर्मजाः सर्वे, चैतन्येन विवर्जिताः।।३५।।
गति जाति संस्थान संहनन, देह आदि जो रहे विकार।
वे सब कर्मज रहे चेतना, से विरहित हैं अपरंपार।।३५।।

अर्थ—शरीर संहनन संस्थान गति जाति आदि जो विकार देखने सुनने में आते हैं वे सब कर्मज हैं–कर्मों से उत्पन्न होने वाले हैं और चेतना से सर्वथा रहित है।

भावार्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तैजस कार्मण के भेद से शरीर पाँच प्रकार का है। वज्र वृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन आदि छह प्रकार का संहनन है। समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान आदि छह भेद संस्थान के हैं। मनुष्य देव आदि चार गतियाँ और एकेंद्रिय जाति, द्वीद्रिंय जाति आदि पांच प्रकार की जातियाँ हैं। मनुष्य तिर्यंच के स्थूल शरीर का नाम औदारिक शरीर है। छोटे बड़े एक अनेक आदि भांति-भांति के आकार स्वरूप हो जाने वाला

वैक्रियिक शरीर है। छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के तत्त्वों में कोई शंका होने पर केवली या श्रुतकेवली के निकट जाने के लिये मस्तक में जो पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं। औदारिक और वैक्रियिक शरीरों को कांति देने वाला तैजस और ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते हैं।

जिस संहनन में वज्र के हाड़ वज्र के वेष्टन और वज्र की ही कीलियाँ हों वह वज्रवृषभनाराचसंहनन है। जिस संहनन में वज्र के हाड़ और वज्र की कीलीं हों परन्तु वेष्टन वज्र के न हों वह वज्रनाराचसंहनन है। जिसके वेष्टन और कीली रहित हाड़ हों वह नाराच संहनन, जिसके हाड़ों की संधि अर्धकीलित हों वह अर्धनाराचसंहनन, जिसके हाड़ परस्पर कीलित हों वह कीलक संहनन और जिसके जुदे जुदे हाड़ नसों से बंधे हों-परस्पर कीले हुये न हों वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन कहा जाता है। जिस संस्थान में शरीर की रचना नीचे और मध्य में समरूप हो वह समचतुरस्त्र संस्थान है। जिसमें शरीर वटवृक्ष के समान हो अर्थात् नाभि से ऊपर के अंग बड़े और नीचे के छोटे हों वह न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान है। नाभि के नीचे के अंग बड़े और ऊपर के छोटे हों वह स्वातिसंस्थान, जिसमें शरीर कुबड़ा सहित हो वह कुब्जक संस्थान, जिसमें बोना शरीर हो वह वामनसंस्थान, और जिसमें शरीर के अंगोपांग किसी निश्चित आकार के न हों वह हुंडकसंस्थान कहा जाता है। नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतियाँ कही जाती हैं।

जिसके केवल एकेंद्रिय हो वह एकेंद्रिय जाति, जिसके दो इंद्रियाँ हो वह द्वींद्रिय जाति, जिसके तीन इंद्रियाँ हों वह तेइंद्रिय जाति, जिसके चार इंद्रियाँ हो वह चौ इंद्रिय जाति, और जिसके पांच इंद्रियाँ हों वह पंचेंद्रिय जाति है। इसी प्रकार निर्माण बंधन आदि और भी बहुत से विकार हैं और वे समस्त कर्म जनित हैं उनमें चेतना का सर्वथा अभाव है।।३५।।

मिथ्यादृक् सासनो मिश्रो, संयतो देशसंयतः।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वस्-तत्त्वज्ञै-रनिवृत्तकः।।३६।।
गुणस्थान मिथ्यात्व सासादन, मिश्र असंयत अणु प्रतवान।
प्रमत्ताप्रमत्ता पूर्व अनिवृत्ती-करण, सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान।।३६।।
सूक्ष्मः शांतः परः क्षीणो, योगी चेति त्रयोदश।
गुणाः पौद्गलिकाः प्रोक्ताः, कर्मप्रकृति निर्मिताः।।३७।।
उपशांत क्षीण कषाय सयोगी, पुद्गलीक कर्म प्रकृतिवान।
पुद्गल रहित अयोगकेवली, कहलाए शुभ गुणस्थान।।३७।।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि, सासादन मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत,

अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं और उनमें आदि के तेरह गुण स्थान पुद्गलीक हैं क्योंकि इन सबका निर्माण कार्मण-कर्म प्रकृतियों से होता है। केवल चौदहवाँ गुणस्थान पुद्गलीक नहीं है।

भावार्थ—कर्म प्रकृतियाँ पुद्गलीक हैं इसलिये इनसे जिनकी उत्पत्ति होगी वे भी पुद्गलीक ही होंगे। मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों की कर्मप्रकृतियों से उत्पत्ति होती है क्योंकि गुणस्थानों की उत्पत्ति में मोहनीय कर्म और योग कारण हैं अर्थात् आदि के चार गुणस्थान तो दर्शनमोहनीय कर्म के निमित्त से होते हैं, पाँचवे से बारह तक चारित्रमोहनीय के निमित्त से और शेष का तेरहवां योग के निमित्त से होता है इसलिये ये सब तो पुद्गलीक हैं परन्तु चौदहवाँ गुण स्थान में योग का अभाव निमित्त है इसलिये वह पुद्गलीक नहीं है।।३७।।

देहचेतनयो-रैक्यं, मन्यमानैर्विमोहितैः।
एते जीवा निगद्यंते, विवेक विशारदैः।।३८।।
मोही देह चेतनादिक को, जीव समासादिक को जान।
एक मानते हैं निर्मोही, भिन्न मानते पा सद्ज्ञान।।३८।।

अर्थ—जो मनुष्य मूढ़ हैं तत्त्व अतत्त्व का जरा भी ध्यान नहीं रखते और शरीर एवं चेतन को एक कहते हैं वे गुणस्थान जीवसमास आदि को जीव मानते हैं परंतु जो विवेकी हैं और शरीर एवं आत्मा को भिन्न-भिन्न मानते हैं वे गुणस्थान जीवस्थान आदि को आत्मा स्वीकार नहीं करते।

भावार्थ—जब तक अज्ञानी रहते हैं और और शरीर एवं आत्मा को एक मानते हैं तभी तक वे गुणस्थान जीवस्थान आदि को आत्मा मानते हैं परंतु जिस समय उनको तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान हो जाता है और शरीर को जड़ एवं आत्मा को चेतन मानने लगते हैं उस समय वे गुणस्थान, जीवस्थान आदि को जीवस्वरूप नहीं मानते।।३८।।

प्रमत्तादि-गुणस्थान, वंदना या विधीयते।
न तया वंदिता संति, मुनयश्चेतनात्मकाः।।३९।।
प्रमत्तादिक गुणस्थान की स्तुति, से गुण की स्तुति पहचान।
उसके घातक चेतनमुनि की, नहीं वंदन होवे मान।।३९।।

अर्थ—जिस समय प्रमत्तविरत आदि गुणस्थानों की वंदना स्तुति की जाती है उस समय वे

ही वंदनीक गिने जाते हैं उनके धारक चेतनस्वरूप मुनि आदि की वंदना नहीं होती।

भावार्थ—यहाँ शंका हो सकती है कि यदि प्रमत्त विरत आदि गुणस्थान जीवस्वरूप नहीं तब उनकी स्तुति क्यों की जाती है, तो उसका आशय यह है कि निर्ग्रन्थ लिंग का प्रारंभ छठे गुणस्थान-प्रमत्तविरत से होता है इसलिये जीव यह जानकर कि प्रमत्तविरत आदि गुणस्थान मुनियों के होते हैं उनकी (गुणस्थानों की) वंदना उपासना कर निकलते हैं परंतु उनसे वे गुणस्थान ही वंदनीक गिने जाते हैं उनके धारक मुनि आदि नहीं क्योंकि गुणस्थान आधार और उनके धारक जीव आधेय हैं इसलिये गुणस्थान जीव के शुद्ध स्वरूप नहीं जीवों से कथञ्चित् भिन्न हैं।।३९।।

परं शुभोपयोगाय, जायमाना शरीरिणां।
ददाति विविधं पुण्यं, संसार सुख कारणं।।४०।।
शुभ परिणाम हों वंदनादि से, पुण्य होय जिससे संप्राप्त।
भाँति-भाँति के सुख में कारण, पुण्य से ही होते हैं प्राप्त।।४०।।

अर्थ—हां! वंदना से जीवों के परिणाम शुभ होते हैं और उनसे उनको अनेक प्रकार के पुण्यों की प्राप्ति होती है जो कि भाँति भाँति के संसार के सुखों के कारण हैं इसलिये वंदना निरर्थक नहीं।

भावार्थ—संसार में जो चक्रवर्ती, नारायण, तीर्थंकर आदि के सुख प्राप्त होते हैं उनकी प्राप्ति में प्रधान कारण पुण्य है बिना पुण्य के यदि कोई चाहे कि मुझे चक्रवर्ती आदि की विभूतियाँ प्राप्त हो जायें कभी हो नहीं सकती। तथा उस पुण्य की प्राप्ति में प्रधान कारण शुभोपयोग है शुभोपयोग के बिना पुण्य कभी प्राप्त नहीं हो सकता और शुभोपयोग में कारण वंदना है इसलिये प्रमत्तविरत अप्रत्तविरत आदि गुणस्थानों की वंदना से सांसारिक कल्याणों की प्राप्ति हो जाने से वह (वंदना) सर्वथा निरर्थक नहीं है। परंतु उससे मोक्षकल्याण-निराकुलतामयसुख नहीं मिल सकता इसलिये जो मनुष्य निराकुलतामय सुख के अभिलाषी हैं उन्हें शुभ, अशुभ दोनों प्रकार के बंधों के नष्ट करने वाले आत्मिक शुद्धचिद्रूप का ध्यान करना चाहिये। केवल गुणस्थान आदि की वंदना से उन्हें निराकुलतामय सुख प्राप्त नहीं हो सकता।।४०।।

नाचेतने स्तुते देहे, स्तुतोऽस्ति ज्ञानलक्षणः।
न कोशे वर्णिते नूनं, साय-कस्यास्ति वर्णना।।४१।।
म्यान का वर्णन करने से ज्यों, होय खड्ग का न वर्णन।
देह की स्तुति से आतम का, होय न वैसे ही अर्चन।।४१।।

अर्थ—जिस प्रकार कोश-म्यान के वर्णन करने से खड्ग का वर्णन नहीं हो सकता उसी

प्रकार अचेतन देह की स्तुति से ज्ञान लक्षण आत्मा की स्तुति नहीं हो सकती।

भावार्थ—खड्ग का जो चीरना फाड़ना काम है वह म्यान से नहीं हो सकता और म्यान का काम खड्ग से नहीं हो सकता है इसलिए म्यान से खड्ग और खड्ग से म्यान जिस प्रकार जुदा पदार्थ है और म्यान के वर्णन करने से खड्ग का वर्णन नहीं हो सकता उसी प्रकार रक्त मज्जा आदि सात धातुओं से निर्मित शरीर पदार्थ अचेतन है और ज्ञान लक्षण का धारक आत्मा चेतन है इसलिये अचेतन देह की स्तुति से आत्मा की स्तुति नहीं हो सकती किंतु आत्मा की स्तुति से ही आत्मा की स्तुति होती है।।४१।।

यत्र प्रतीयमानेऽपि, न यो जातु प्रतीयते।
स ततः सर्वथा भिन्नो, रसाद्रूप-मिव स्फुटं।।४२।।
जिसकी होने से प्रतीति न, भिन्न अन्य की होय प्रतीति।
रस से रूप देह में आतम, की प्रतीति न हो यह रीति।।४२।।
काये प्रतीयमानेऽपि, चेतनो न प्रतीयते।
यतस्त तस्ततो भिन्नो, न भिन्नो ज्ञानलक्षणात्।।४३।।
अतः देह से भिन्न है चेतन, ज्ञान स्वरूप से भिन्न न होय।
नहीं जानता नहीं मानता, वह जानो मिथ्यात्वी सोय।।४३।।

अर्थ—जिसकी प्रतीति होने पर जिसकी प्रतीति न हो वह उससे सर्वथा भिन्न है जिसप्रकार रस से रूप। शरीर की प्रतीति होने पर आत्मा की प्रतीति नहीं हो सकती इसलिये वह शरीर से सर्वथा भिन्न है परंतु अपने ज्ञानस्वरूप से भिन्न नहीं।

भावार्थ—चार्वाक-नास्तिकों का सिद्धांत है कि जिसप्रकार कोदों आदि पदार्थों से तैयार किये मद में एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है और उससे मद के पीने वाले मनुष्य मदहोश हो जाते हैं उसी प्रकार जिस समय पृथ्वी आदि पंचभूतों का आपस में मेल हो जाता है उस समय एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जाती है और वही चैतन्य शक्ति कही जाती है इसलिये आत्मा देह स्वरूप ही है देह से भिन्न पदार्थ नहीं। इसी सिद्धांत का यहाँ ग्रन्थकार ने खण्डन किया है अर्थात् यदि आत्मा को देहस्वरूप माना जायेगा तो देह की प्रतीति के समय आत्मा की भी प्रतीति होनी चाहिये। सो तो होती नहीं इसलिये जिसप्रकार रस के प्रतीति काल में रूप की प्रतीति न होने से रूप रस से सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार शरीर की प्रतीति से आत्मा की भी प्रतीति नहीं होती है इसलिये शरीर से आत्मा सर्वथा भिन्न है—शरीर कभी चेतनस्वरूप नहीं हो सकता परंतु अपने

ज्ञानलक्षण से आत्मा की भिन्नता नहीं-वह नियम से ज्ञानस्वरूप है।।४२-४३।।

दृश्यते ज्ञायते किंचि-द्यदक्षै-रनुभूयते।
तत्सर्वमात्मनो बाह्यं, विनश्वर-मचेतनं।।४४।।
आत्म स्वरूप इंद्रियों द्वारा, दर्श ज्ञान अनुभव में होय।
वह सब बाह्य स्वरूप है एवं, विनाशीक जड़ मानो सोय।।४४।।

अर्थ—इंद्रियों से जो कुछ आत्मा का स्वरूप देखने जानने और अनुभव करने में आता है वह सब उसका बाह्य स्वरूप है एवं वह विनाशीक और अचेतन है।

भावार्थ—जो पदार्थ मूर्तिक हैं जिनमें स्पर्श रस गंध वर्णस्वरूप मूर्ति विद्यमान है इंद्रियाँ उन्हीं को विषय कर सकती हैं अमूर्तिक पदार्थों को नहीं। आत्मा अमूर्तिक चेतन है उसके शुद्ध स्वरूप ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं इसलिये इंद्रियों की यह सामर्थ्य नहीं कि वे इसके स्वरूप को देख जान सकें परंतु कभी-कभी यह आत्मा क्रोध मान आदि विभावरूप हो जाता है और जिस समय यह क्रोध मान आदि करता है उस समय इसके राग क्रोध आदि रूप को इंद्रियों के द्वारा दूसरे जीव देख जान लेते हैं और अनुभव भी कर लेते हैं तथा ये राग आदि कर्मों के द्वारा उत्पन्न हुये हैं इनके उत्पादक कारण अचेतन कर्म हैं और विनाशीक हैं–पलभर में नष्ट हो जाने वाले हैं इसलिये ये आत्मा के स्वरूप नहीं किंतु केवलज्ञान केवलदर्शन आदि आत्मा के स्वरूप हैं क्योंकि केवल आत्मा से प्रकट हुये हैं इनके विकास में कारण चेतन आत्मा है इसलिये ये चेतन हैं और कभी भी नष्ट नहीं हो सकते इसलिये अविनाशीक हैं।।४४।।

न निर्वृतिं गतस्यास्ति, तद्रूपं किंचि-दात्मनः।
अचेतनमिदं प्रोक्तं, सर्वं पौद्गलिकं जिनैः।।४५।।
मोक्ष प्राप्त जो करे जीव तब, अक्षय अव्याबाध सुख पाय।
रागादिक पौद्गलिक अचेतन, का संबंध पूर्ण नश जाय।।४५।।

अर्थ—जिस समय यह आत्मा मोक्ष धाम को प्राप्त हो जाता है–ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों का सर्वथा नाशकर अक्षय और अव्याबाध सुख का भोग करने लग जाता है उस समय रागद्वेष आदि कोई भी रूप इसके विद्यमान नहीं रहता क्योंकि राग द्वेष आदि पुद्गलीक हैं–पुद्गलकर्म से उत्पन्न हैं इसलिये अचेतन हैं और मोक्ष अवस्था में जड़ चेतन का सर्वथा भेद हो जाता है।

भावार्थ—आत्मा-जीवात्मा और परमात्मा के भेद से दो प्रकार का है। कर्मों के संबंध से जो आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है वह जीवात्मा है और जिसने केवलज्ञान दर्शन आदि विभूतियों

को प्राप्त कर लिया है जो अविनाशी और निर्वाण धाम में विराजमान है वह परमात्मा है। जब तक यह जीवात्मा संसार में भटकता फिरता है तब तक कर्मों के संबंध से इसके क्रोध आदि विभाव स्वरूप उत्पन्न होते रहते हैं और उनका इंद्रियों से देखना जानना और अनुभव भी होता रहता है किंतु जिस समय यही जीवात्मा परमात्मा हो जाता है उस समय कर्मों का संबंध सर्वथा और सदा के लिये छूट जाता है और कर्मों के अभाव से इसके क्रोध आदि विकार भी नहीं उत्पन्न होते। इसलिये क्रोध आदि विकारजन्य जो रूप इस संसारी आत्मा का देखने में आता है वह मोक्ष अवस्था में चेतन और जड़का सर्वथा भेद हो जाने से नहीं रहता। वहाँ तो शुद्ध निष्कलंक रूप प्रगट हो जाता है।।४५।।

विकाराः संति ये केचिद्-रागद्वेष-मदादयः।
कर्मजास्तेऽखिला ज्ञेयास्तिग्मांशोरिव मेघजाः।।४६।।
राग-द्वेष मोहादिक जितने, हैं विकार सब कर्मज जान।
मेघ से रवि में हो विकार ज्यों, कर्मों से चेतन में मान।।४६।।

अर्थ–राग द्वेष मोह आदि जितने भी विकार हैं सब कर्मज हैं–इनकी उत्पत्ति ज्ञानावरणादि कर्मों से होती है और जिसप्रकार मेघ से सूर्य में अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं उसीप्रकार कर्मों से ये आत्मा में हो जाते हैं।

भावार्थ–सूर्य पदार्थ अखंड तेज का पुंज है और समस्त पदार्थों को प्रकाशमान करना उसका स्वभाव है परंतु जबतक उसपर मेघ का पर्दा पड़ रहता है तबतक उसमें अनेक (स्पष्टरूप से पदार्थों का न दिखाना आदि) विकार उत्पन्न होते रहते हैं और उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं होता किंतु जिस समय वह मेघ की आड़ से बाहर नकल आता है–उसपर जरा भी मेघ का पर्दा नहीं रहता उस समय वह अखंड प्रभा पुंज से चमचमाता हुआ सभी को दृष्टि गोचर होता है और समस्त विकारों से रहित होकर पदार्थों को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी दैदीप्यमान ज्ञान आदि गुणों का पुंज है जब तक इसपर ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आदि कर्मों का पर्दा पड़ा रहता है तबतक यह नर नारक आदि गतियों में भ्रमण करता फिरता है और कर्म के संबंध से उत्पन्न राग द्वेष आदि विकारों से कभी रागी और कभी द्वेषी आदि बना करता है परंतु जिससमय कर्मों से सर्वथा और सदा के लिये जुदा हो जाता है उस समय राग आदि विकारों के अभाव से इसका वास्तविक ज्ञानादिस्वरूप प्रकट हो जाता है और यह संसार के स्थूल सूक्ष्म समस्त पदार्थों को स्पष्टरूप से जान, देख लेता है इसलिये यह बात युक्तिसिद्ध है कि रागादि भाव कर्मजनित अचेतन हैं आत्मजनित चेतन नहीं।।४६।।

अनादावपि संबंधे, जीवस्य सह कर्मणा।
न जीवो याति कर्मत्वं, जीवत्वं कर्म वा स्फुटं।।४७।।
जीव कर्म संबंध अनादी, फिर भी जीव कर्म ना होय।
कर्म जीव स्वरूप नहीं हो, अपनी सत्ता कोई ना खोय।।४७।।

अर्थ—यद्यपि जीव और कर्मों का संबंध अनादिकाल से है तथापि जीव कभी कर्मस्वरूप नहीं होता और कर्म जीवस्वरूप नहीं होता।

भावार्थ—जिसप्रकार सुवर्णपाषाण (जिससे सोना उत्पन्न होता है) और सुवर्ण का आपस में अनादिकाल से संबंध है वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि पहिले सुवर्ण है वा पहिले पाषाण है परंतु यह कभी नहीं हो सकता कि सुवर्ण पाषाणस्वरूप और पाषाण सुवर्णस्वरूप हो जाय क्योंकि जिस समय सुवर्णपाषाण अग्नि से तपाया जाता है उस समय वह जुदा हो जाता है और सुवर्ण जुदा हो जाता है उसी प्रकार आत्मा और कर्म का भी अनादि काल से संबंध है यह कभी नहीं कहा जा सकता कि कर्म पहिले से है वा आत्मा पहिले से है और यह भी नहीं हो सकता कि आत्मा कर्मस्वरूप और कर्म आत्मस्वरूप हो जाय किंतु जिस समय कर्मों के क्षय के लिये तप आदि का आचरण किया जाता है उस समय कर्म उससे जुदे हो जाते हैं और आत्मा जुदा हो जाता है एवं वह अपने अखंड ज्ञान आदि से जगमगा निकलता है। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जीव और कर्म का अनादिकाल से एकम एक होने पर भी वे सर्वथा जुदे हैं—न तो जीव कर्मस्वरूप परिणत हो सकता है और न कर्म जीवस्वरूप परिणत हो सकते हैं।

आत्मना कुरुते कर्म, यद्यात्मा निश्चितं तदा।
कथं तस्य फलं भुंक्ते स दत्ते कर्म वा कथं।।४८।।
यदि यह निश्चित है कि आत्मा, कर्मों का कर्ता है जान।
तो फिर कर्म का फल क्यों भोगे, कर्म भी फल क्यों देवे मान।।४८।।

अर्थ—यदि यह बात निश्चित है कि आत्मा स्वयं कर्मों का कर्ता है तो वह कर्मों के फल को क्यों भोगता है? वा कर्म भी उसे क्यों फल देते हैं।

भावार्थ—यह एक साधारण नियम है कि जीव उसी काम के करने में प्रवृत्त होता है जिसको कि वह यह समझ लेता है कि इससे मुझे कल्याण मिलेगा किंतु अकल्याणकारी कार्य में कभी प्रवृत्त नहीं होता। कर्म दो प्रकार के हैं एक शुभ-कल्याणकारी। दूसरा अशुभ-अकल्याणकारी। यदि जीव स्वयं शुभ अशुभ कर्म का संचय करता है तो वह उसके सुख-दुःखदायी फल को क्यों

भोगता है 'जान बूझकर खड्डे में कौन गिरता है?' इस कहावत के अनुसार उसे अपने किये कर्मों का कैसा भी फल न भोगना चाहिये। खैर, जीव फल भोगे भी तो कर्म को क्यों फल भुगाना चाहिये क्योंकि वह आत्मा से ही उत्पन्न है और उसी को अपना फल भुगावे यह अनुचित है। यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि यदि कर्म अपना सुखरूप फल भुगाता है और जीव भोगता है तो अच्छा ही है क्योंकि वह सुख सुख नहीं दु:ख ही है असली सुख निराकुलतामय है और वह कर्मों के अभाव में प्राप्त होता है इसलिये मानना पड़ेगा कि आत्मा स्वयं कर्मों का उपार्जन नहीं करता किंतु रागद्वेष आदि भावों से कर्मों की उत्पत्ति होती है इसलिये राग आदि भाव और कर्मों का आपस में कार्य कारण भाव है, आत्मा और कर्मों का नहीं।।४८।।

कर्मणामुदयसंभवा गुणाः, शामिकाः क्षयशमोद्भडवाश्च ये।
चित्रशास्त्रनिवहेन वर्णितास्-ते भवंति निखिला विचेतनाः।।४९।।
कर्मोदय से होने वाले, उपशम उदय क्षयोपशम भाव।
भिन्न-भिन्न शास्त्रों में वर्णित, शून्य अचेतनमयी स्वभाव।।४९।।

अर्थ—कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाले औदयिक भाव, उपशम से होने वाले औपशमिक और क्षयोपशम से होने वाले क्षायोपशमिक भाव जो कि भिन्न-भिन्न रूप से शास्त्रों में वर्णित हैं सब विचेतन हैं—चेतनशक्ति से शून्य हैं।

भावार्थ—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये जीवों के पाँच भाव हैं। जो भाव किसी कर्म के उपशम से हों वे औपशमिक हैं, क्षय से उत्पन्न हों वे क्षायिक, क्षयोपशम से उत्पन्न हों वे क्षायोपशमिक, कर्म के उदय से हों वे औदयिक और जिन भावों की उत्पत्ति में कर्मों का उपशम क्षय क्षयोपशम और उदय कारण न पड़े जो जीव के स्वभाव से ही हों वे पारिणामिक भाव हैं। तथा औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो भेद औपशमिकभाव हैं। क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिकवीर्य ये नौ भेद क्षायिक भाव के हैं। मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान ये चार क्षायोपशमिक ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन प्रकार के अज्ञान, चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये तीन प्रकार के दर्शन, क्षायोपशमिक दान, क्षायोपशमिक लाभ, क्षायोपशमिक भोग, क्षायोपशमिक उपभोग; और क्षायोपशमिक वीर्य ये पाँच तरह की लब्धियाँ, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सरागचारित्र और संयमासंयम (देशव्रत) ये अठारह भेद क्षायोपशमिक भाव के हैं। देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच के चार प्रकार की गतियाँ, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकार के कषाय, स्त्रीवेद,

पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये तीन प्रकार के लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और पीत, पद्म, शुक्ल, कृष्ण, नील, कापोत छह लेश्या ये इक्कीस भेद औदयिक भाव के हैं और जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भेद पारिणामिक भाव के हैं इसप्रकार जीव के सब मिलाकर त्रेपन भाव हैं इनमें नौ प्रकार के क्षायिकभाव और तीन प्रकार के पारिणामिक भाव चेतन हैं और शेष सब भाव अचेतन हैं।।४९।।

अजीवतत्त्वं न विदंति सम्यक्, यो जीवतत्त्वाद्विधिना विभक्तं।
चारित्रवंतोऽपि न ते लभंते, विविक्त-मात्मान-मपास्तदोषं।।५०।।
जीव तत्त्व से भिन्न सर्वदा, नहीं जानते कोई अजीव।
चारितधारी हो भी अचेतन, कर्म से भिन्न अदोष न जीव।।५०।।

इति श्री अमितगति आचार्य कृत योगसार द्वितीय अधिकार।

अर्थ—जो जीव जीवतत्त्व से सर्वथा भिन्न अजीवतत्त्व को नहीं जानते-अजीवतत्त्व क्या है? इस बात का जिन्हें मालूम नहीं वे चारित्र के धारक होने पर भी अचेतन कर्मों से सर्वथा भिन्न और निर्दोष परमात्मापन को प्राप्त नहीं हो सकते।

भावार्थ—जिसप्रकार कीट कालिमादि से युक्त सुवर्ण को कीट कालिमा और सुवर्ण के स्वरूप का अनभिज्ञ पुरुष कितना ही तपावे जलावे और पीटे कभी भी उसे (सुवर्ण को) शुद्ध नहीं बना सकता-दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण ज्ञात न होने से कीट कालिमा और सुवर्ण को पृथक्-पृथक् नहीं कर सकता उसी प्रकार जीव के शुद्धस्वरूप और अजीव के लक्षण को नहीं जानने वाला पुरुष कितना ही और कैसा भी तप क्यों न तपे कभी भी अजीव कर्मों से संयुक्त आत्मा को उनसे रहित निर्दोष नहीं बना सकता इसलिये शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अभिलाषियों को चारित्रवान् होकर भी अजीवतत्त्व का वास्तविक स्वरूप अवश्य जानना चाहिये।।५०।।

इस प्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित श्री विशदसागराचार्य अनुवादित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथ में अजीवाधिकार समाप्त हुआ।।२।।

❑❑

सुख दुख के फल भोग समय पर, हो जाए यह आत्म मूर्त।
क्योंकि मूर्त का फल ना पाए निश्चय से जो होय अमूर्त।।

आस्रवाधिकार

शुभाशुभोपयोगेन, वासिता योगवृत्तयः।
सामान्येन प्रजायंते, दुरितास्रव हेतवः।।१।।
योगवृत्ति मनवचनकाय के, शुभ और अशुभ रहे उपयोग।
से रंजित सामान्य रूप से, कर्मास्रव में होवे योग।।१।।

अर्थ—जो योग वृत्तियां-मन वचन काय के व्यापार शुभ और अशुभ उपयोग से रञ्जित हैं वे ही सामान्य रूप से कर्मास्रव-कर्मों के लाने में कारण हैं।

भावार्थ—योग का अर्थ यहाँ मन वचन काय लिया गया है और वृत्ति का अर्थ व्यापार है। जिस समय मन शुभकार्य-देववंदना आदि में अनुरक्त होता है उस समय शुभ कर्मों का आस्रव होता है और जिस समय वह अशुभ कार्य हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील आदि की ओर प्रवृत्त होता है उस समय अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। जिस समय वचन से सच्चे देव की स्तुति और गुणियों का गुणगान आदि किया जाता है उस समय शुभ कर्म का आस्रव होता है और जिस समय पर निन्दा और गाली गलौज आदि किये जाते हैं उस समय अशुभकर्मों का आस्रव होता है। जिस समय शरीर से सच्चे देव की प्रतिमा का पूजन और धर्मात्मा मनुष्यों की सेवा शुश्रूषा आदि किये जाते हैं उस समय शुभ कर्मों का आस्रव और जिस समय कुशील सेवन, जीवों की हिंसा आदि किये जाते हैं उस समय अशुभ कर्मों का आस्रव होता है इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि सामान्य रूप से कर्मों को आत्मा की ओर लाने वाले शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग से युक्त मन, वचन, काय के व्यापार हैं।।१।।

मिथ्यादृक्त्व-मचारित्रं, कषायो योग इत्यमी।
चत्वारः प्रत्ययाः संति, विशेषेणाघ संग्रहे।।२।।
मिथ्या अविरति योग कषाएँ, पापास्रव के हैं कारण।
इन्हीं कारणों से पापों का, आस्रव होता है क्षण-क्षण।।२।।

अर्थ—विशेषरूप से मिथ्यादर्शन अविरति कषाय और योग ये चार पापास्रव के कारण हैं इन्हीं कारणों से पापों का आस्रव होता है।

भावार्थ–शास्त्रकारों ने मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान अविरति प्रमाद कषाय और योग ये छह कर्मास्त्रव के कारण बतलाये हैं इसलिये यहाँ मिथ्याज्ञान और प्रमाद को भी विशेषरूप से कारण समझ लेना चाहिये। अतत्त्वों का श्रद्धान करना मिथ्यात्व वा मिथ्यादर्शन है और वह गृहीतमिथ्यात्व अगृहीतमिथ्यात्व के भेद से दो प्रकार का है। पाखंडी गुरुओं के उपदेश वा कुशास्त्रों के श्रवण से अतत्त्व श्रद्धान होना गृहीतमिथ्यात्व है और परोपदेश आदि के बिना ही पूर्वोपार्जित मिथ्यात्व कर्म के उदय से अतत्त्वश्रद्धान होना अगृहीत मिथ्यात्व है एवं इसको निसर्गज मिथ्यात्व भी कहते हैं। गृहीत मिथ्यात्व के एकांतमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व, संशयमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व और अज्ञानमिथ्यात्व ये पाँच भेद हैं। पदार्थ में अनेक धर्म होते हैं उन सबको न मानकर किसी एक ही धर्म को मानना और जो केवल उसी का श्रद्धान करना है उसका नाम एकांतमिथ्यात्व है। केवली को कवलाहारी, सग्रंथ को निर्ग्रंथ और स्त्री को मोक्ष, इत्यादि विपरीत श्रद्धान का नाम विपरीत मिथ्यात्व है। धर्म अहिंसारूप है या नहीं ऐसे संदेहरूप श्रद्धान को संशयमिथ्यात्व कहते हैं। देव कुदेव सबको एक सा मानकर सबकी भक्ति वंदना करना विनयमिथ्यात्व और हिताहित का परीक्षापूर्वक श्रद्धान न करना अज्ञानमिथ्यात्व है। छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करना तथा पाँच इंद्रिय और मन को वश न रखना बारह प्रकार की अविरति है। क्रोध-मान-माया-लोभ आदि पच्चीस प्रकार के कषाय हैं और सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग आदि पंद्रह प्रकार के योग हैं इसी प्रकार संशय विपर्यय अनध्यवसाय तीन प्रकार के मिथ्याज्ञान और स्त्रीकथा, भोजन कथा, राजकथा, देशकथा ये चार प्रकार की कुकथा, क्रोध मान माया लोभ चार प्रकार के कषाय, स्पर्शन रसन-घ्राण-चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इंद्रियां, और निद्रा एवं राग ये पंद्रह प्रकार के प्रमाद हैं इस रीति से ये मिथ्यात्व आदि कर्मों के आस्रव के कारण हैं इनमें प्रवृत्त होने से नियम से कर्मों का आस्रव होता है।।२।।

सचित्ताचित्तयोर्यावद्, द्रव्ययोः परयो-रयं। आत्मीयत्वमतिं धत्ते, तावन्मोहो विवर्धते।।३।।
तेषु प्रवर्तमानस्य, कर्मणामास्रवः परः। कर्मास्रवनिमग्नस्य, नोत्तारो जायते ततः।।४।।

सचित्ताचित्त सर्व द्रव्यों में, जब तक रहता है ममकार।
तब तक मोह की वृद्धी होवे, कर्मास्रव हो बारंबार।।
कर्मास्रव जिसके होता है, उसका कभी न हो उद्धार।
भ्रमण करे संसार में प्राणी, कर न सके स्व-पर उपकार।।३-४।।

अर्थ—जब तक सचित्त अचित दोनों प्रकार के परद्रव्यों में 'ये सब मेरे हैं' ऐसी मति बनी रहती है तब तक मोह बढ़ता चला जाता है और जब तक उन सचित्त अचित्त द्रव्यों में मोह से प्रवृत्ति होती रहती है तब तक कर्मों का आस्रव होता रहता है एवं जिस जीव के कर्मों का आस्रव होता है उसका कभी उद्धार नहीं हो सकता—वह कभी भी परमात्मा नहीं बन सकता।

भावार्थ—जो द्रव्य चेतनयुक्त हों वे सचित्त कहे जाते हैं और वे पुत्र स्त्री दासी दास आदि हैं तथा जिनमें चेतना शक्ति न हो वे अचित्त हैं और उन्हें सुवर्ण धन धान्य आदि कहते हैं। जब तक इन दोनों प्रकार के द्रव्यों में जीव के ये भाव बने रहते हैं कि ये मेरे हैं पर नहीं तब तक सदा इसके मोह की बढ़वारी होती रहती है और जिस समय यह उन द्रव्यों के अपनाने में वा क्षण आदि में प्रवृत्ति करता है उसी समय से इसके कर्मों का आस्रव होने लगता है और कर्मों के आस्रव से इसका उद्धार नहीं होता—यह चाहें कि मैं मोक्ष प्राप्त कर लूं कभी कर नहीं सकता अर्थात् यह आत्मा तालाब के समान है क्योंकि जिस प्रकार तालाब में नालियों के द्वारा जब तक पानी आया करता है तब तक वह कभी पानी से खाली नहीं होता किंतु जिस समय उसकी जल आने की नालियां बंद कर दी जाती हैं उस समय नवीन पानी आना तो बंद हो जाता है और धीरे-धीरे उसके भीतर का भी पानी सूख जाता है इसलिये अंत में वह तालाब भी सूखा हो जाता है उसी प्रकार जबतक इस आत्मा में कर्म आते रहते हैं तब तक यह कर्मों के वजन से दबता चला जाता है और जब इसके आस्रव के कारण नष्ट हो जाते हैं तब यह अपने पूर्वसंचित कर्मों को नष्टकर निर्वाण स्थान प्राप्त कर लेता है इसलिये जीवों को चाहिये कि वे मोह को जीतकर सचित्त अचित द्रव्यों को न अपनावें जिससे उनके कर्मों का आना बंद हो जाय।

मयीदं कार्मणं द्रव्यं, कारणेऽत्र भवाम्यहं।
यावदेषा मतिस्तावन्-मिथ्यात्वं न निवर्तते।।५।।
कर्म जनित ये द्रव्य हैं मेरे, मैं द्रव्यों का हूँ ये जान।
रहे भवना जब तक ऐसी, ना हो मिथ्या निवृत्ति मान।।५।।

अर्थ—कर्मजनित द्रव्य मेरे हैं और मैं कर्मजनित द्रव्यों का हूँ जब तक जीव की यह भावना बनी रहती है तब तक उसकी मिथ्यात्व से निवृत्ति नहीं होती।

भावार्थ—विपरीत श्रद्धान करना-तत्त्व को अतत्त्व मानना मिथ्यात्व है जब तक यह भावना बनी रहती है कि कर्मजनित पदार्थ शरीर धन धान्य आदि मेरे हैं और मैं उनका हूँ तब तक कभी

भी मिथ्यात्व से निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि शरीर आदि जड़ हैं और आत्मा चेतन है इसलिये न कभी जड़ शरीर आदि चेतनस्वरूप हो सकते हैं और न चेतन, जड़ शरीर आदिस्वरूप हो सकता है।।५।।

आसमस्मि भविष्यामि, स्वामी देहादि वस्तुनः।
मिथ्यादृष्टेरियं बुद्धिः, कर्मागमन कारिणी।।६।।
पर पदार्थ देहादिक का मैं, स्वामी था अब भी हूँ जान।
आगे रहूंगा ऐसी श्रद्धा, से कर्मास्रव होवे मान।।६।।

अर्थ–शरीर स्त्री पुत्र आदि पर पदार्थों का मैं पहिले भी स्वामी था अब भी हूँ और आगे भी हूंगा ऐसा जो मिथ्यादृष्टि की भावना और गाढ़ श्रद्धा है उससे नियम से कर्मों का आस्रव होता है।

भावार्थ–पित्त के ज्वरवाले मनुष्य को मीठा भी दूध जिस प्रकार कड़वा लगता है उसी प्रकार जो जीव मिथ्यादृष्टि है उसे भी वास्तविक तत्त्वों का श्रद्धान नहीं होता सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ ने जो जीव अजीव का स्वरूप बतलाया है उसे वह मिथ्या वा विपरीत समझता है इसलिये आत्मा और शरीर आदि का भेद न समझकर जो उसकी यह भावना रहती है कि मैं शरीर आदि द्रव्यों का पहिले भी स्वामी था अब भी हूँ और आगे भी हूंगा उससे निरन्तर उसके कर्मों का आस्रव होता रहता है।।६।।

चेतनेऽचेतने द्रव्ये, याव-दन्यत्र वर्तते।
स्वकीयबुद्धितस्तावत्-कर्मोद्गच्छन्न वार्यते।।७।।
जब तक चेतनाचेतन द्रव्यों, में रखता कोई ममकार।
कर्मागम तब तक न रुकता, कर्मास्रव हो बारंबार।।७।।

अर्थ–जब तक इस जीव की बुद्धि चेतन अचेतन द्रव्यों में फसी रहती हैं तब तक इसके कर्मों का आगमन नहीं रुकता सदा इसके कर्म आते रहते हैं।

भावार्थ–जीव का निजस्वरूप केवल ज्ञानादि है ज्ञानादि में भिन्न चेतन अचेतन कोई भी पदार्थ इसका नहीं परंतु यह अपनी मूढ़ बुद्धि से जबरन चेतन अचेतन पदार्थों की ओर गिरता है– प्रति समय उन्हें अपने मानता रहता है इसलिये इसके कर्मोस्रव की निवृत्ति नहीं होती-सदा इसके शुभ अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का आस्रव होता रहता है क्योंकि निजस्वरूप को छोड़कर परस्वरूप की ओर झुकना ही कर्मास्रव का द्वार खोल देना है।।७।।

शुभाशुभस्य भावस्य, कर्तात्मीयस्य बंधनः।
कर्तात्मा पुन-रन्यस्य, भावस्य व्यवहारतः।।८।।
श्रित्वा जीवपरीणामं, कर्मास्रवति दारुणं।
श्रित्वोदेति परीणामो, दारुणं कर्म दारुणं।।९।।
कार्यकारणभावोयं, परिणामस्य कर्मणा।
कर्मचेतनयोरेष, विद्यते न कदाचन।।१०।।

कर्म शुभाशभ भाव के कर्त्ता, निश्चय से हैं जीव प्रधान।
जीव कहा व्यवहार से कर्त्ता, कर्मास्रव हो भाव से मान।।८।।
कर्मों के आलंबन से ही, होंय शुभाशुभ के परिणाम।
इस रीति से कर्म जीव के, होंय परस्पर श्रेष्ठ ललाम।।९।।
अतः कर्म जीवों के भावों, में है कार्य कारण का भाव।
जीव कर्म का आपस में न, कार्य कारण का रहा स्वभाव।।१०।।

अर्थ—निश्चयनय से कर्म जीव के शुभ-अशुभ परिणामों का कर्ता है और जीव तो उनका व्यवहार से कर्ता है क्योंकि जीव के शुभ-अशुभ परिणामों के आश्रय से कर्मों का आस्रव होता है और कर्मों के अवलंबन से शुभ-अशुभ परिणाम उदित होते हैं इस रीति से कर्म और जीव के परिणामों का आपस में कार्य कारण भाव है जीव और कर्मों का कभी आपस में कार्य कारण भाव नहीं हो सकता।

भावार्थ—यदि शुद्ध निश्चयनय से देखा जाय तो यह जीव निष्क्रिय और टांकी से उकीले हुये के समान केवल ज्ञायक स्वभाव का धारक है परन्तु व्यवहार से यह कह दिया जाता है कि यह कर्म आदि परद्रव्यों का भी कर्ता है किन्तु शुभ अशुभ भाव-राग द्वेष आदि का तो कर्ता कर्म ही है अतः जिसप्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है इसलिये आपस में दोनों ही दोनों के कारण और कार्य हैं उसी प्रकार जीव के परिणामों से शुभ-अशुभ कर्मों की उत्पत्ति होती है और कर्मों से शुभ-अशुभ परिणाम उदित होते हैं इसलिये दोनों ही आपस में एक दूसरे के कार्य और कारण हैं इस रीति से जीव के भाव और कर्मों का ही आपस में कार्यकारण भाव है जीव और कर्मों का नहीं।।८-१०।।

आत्मानं कुरुते कर्म, यदि कर्म तदा कथं।
चेतनाय फलं दत्ते, भुंक्ते वा चेतनः कथं।।११।।

यदि कर्म निजका कर्त्ता है, तो फल आतम को क्यों देय।
एवं आतम ही क्यों उसके, फल को भोगे प्राप्ति को लेय।।११।।

अर्थ—यदि कर्म स्वयं अपने को करता है तो वह आत्मा को क्यों फल देता है? वा आत्मा ही क्यों उसके फल को भोगता है?

भावार्थ—संसार में यह रीति प्रचलित है कि जो जिस काम को करता है वही उसके फल को भोगता है यदि मनुष्य विद्या पढ़ता है तो वही उसके फल को भोगता है वही विद्वान् और आदरणीय कहा जाता है यदि वह चोरी करता है तो भी वही उसके फल को भोगता है—वही चोर और निकृष्ट समझा जाता है यह कभी नहीं हो सकता कि कार्य दूसरा करें और उसके फल को दूसरा भोगे। यदि कर्म स्वयं अपने को करता है तो वह अपना भयंकर फल आत्मा को क्यों प्रदान करता है? अथवा आत्मा ही मूढ़ क्यों उसके फल को भोगता है? इसलिये मानना पड़ेगा कि कर्मों के करने वाले जीव के शुभ अशुभ भाव हैं और शुभ अशुभ भावों का कर्ता जीव है इसलिये जीव को कर्म का फल भोगना पड़ता है किंतु जीव कर्मों को करता है अथवा कर्म कर्म को करते हैं इसलिये जीव उनके शुभ अशुभ फल को भोगता है यह बात नहीं।।११।।

परेण विहितं कर्म, परेण यदि भुज्यते।
न कोऽपि सुखदुःखेभ्यस्-तदानीं मुच्यते कथं।।१२।।
कर्म करे कोइ फल कोइ भोगे, तो कोई भिन्न पुरुष ही जान।
मुक्त होएगा कर्मों से वह, बिना प्रयास छूटेगा मान।।१२।।

अर्थ—क्योंकि यदि कर्म दूसरा करेगा और उसका फल दूसरा भोगेगा तो कोई भिन्न ही पुरुष क्यों न दुःख सुख से मुक्त हो सकेगा—सुख दुःख से छुटकारा पाने के लिये न भी प्रयास करने वाला मनुष्य उनसे मुक्त हो जायेगा।

भावार्थ—ऊपर बतला दिया गया है कि संसारी और मुक्त के भेद से जीवों के दो भेद हैं और उनमें समस्त कर्मों के नाश करने वाले अनंतज्ञानादि आत्मिकगुणों से भूषित लोक के ऊर्ध्व भाग पर पहुँचे हुये तो मुक्त हैं और संसार में जहाँ तहाँ भटकने वाले संसारी हैं। यदि यह एक साधारण नियम हो जायेगा कि कर्म दूसरा करे और फल दूसरा भोगे तो जो जीव सुख दुःख से दूर होने के लिये प्रयत्न नहीं करते वे भी सुख दुःख से मुक्त हो जायेंगे तथा इस रीति से जो जीव मुक्त हैं वे भी सुख दुःख से रहित न हो सकेंगे अथवा जो संसारी जीव मोक्ष के लिये प्रयास करते

हैं उनका भी प्रयास सर्वथा निष्फल हो जायेगा इसलिये यही स्वीकार करना पड़ेगा कि जो करता है वही भोगता है। यहाँ पर यह शंका न करनी चाहिए कि यदि जीव के भाव, कर्मों को करते हैं तो उन्हीं को कर्म के फल भोगने चाहिये? क्योंकि राग आदि जीव की विभाव पर्यायें हैं और वे उससे सर्वथा भिन्न नहीं इसलिये यद्यपि कर्मों के कर्ता राग आदि हैं तथापि फल उनका जीव ही भोगता है।।१२।।

जीवस्याच्छादकं कर्म, निर्मलस्य मलीमसं।
जायते भास्वरस्येव, शुद्धस्य घनमंडलं।।१३।।
तीव्र प्रभाधर सूरज को ज्यों, मेघ पटल आके ढक लेय।
अतिशय विमल आत्मा को भी, कर्म पटल भी ढ़ांके सोय।।१३।।

अर्थ—जिस प्रकार ज्वलंत प्रभा के धारक भी सूर्य को मेघ मंडल ढक लेता है उसी प्रकार अतिशय विमल भी आत्मा के स्वरूप को मलिन कर्म ढक देते हैं।

भावार्थ—यदि देखा जाय तो सूर्य के समान दुनिया में कोई भी पदार्थ अधिक जाज्वल्यमान नहीं—यह समस्त तेजस्वियों के तेज को फीका कर देता है परंतु जिस समय इसके ऊपर मेघ का पर्दा आकर पड़ जाता है उस समय इसका तेज ढक जाता है—पूर्ण स्वरूप प्रकट नहीं होता किंतु जब इसके ऊपर से मेघ का पर्दा हट जाता है उस समय इसका पूर्ण स्वरूप स्फुट हो जाता है और पदार्थों को प्रकाशमान करने लगता है उसी प्रकार यह आत्मा भी ज्वलंत ज्ञानादि गुणों का अखण्ड पिण्ड हैं परंतु कर्मों से आच्छादित होने के कारण इसका असली स्वरूप प्रकट नहीं होता। कर्मों के जाल में फस जाने के कारण यह सदा चतुर्गति रूप संसार में घूमता रहता है और कभी क्रोधी कभी मानी आदि बना करता है। कर्मों के दो भेद हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। कर्मस्वरूप परिणत पुद्गल के पिण्ड को द्रव्य कर्म कहते हैं और जो द्रव्य कर्म का फलस्वरूप हो वह भावकर्म है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ मूल द्रव्य कर्म हैं और राग द्वेष क्रोध आदि भावकर्म हैं। जिसप्रकार मेघ मंडल सूर्य को ढक देता है उसी प्रकार जो आत्मा के ज्ञान के गुण को ढक दे वह ज्ञानावरण कर्म है।।१।। जिस प्रकार ड्योढ़ीवान राजा के दर्शन से मनुष्य को वञ्चित रखता है उसी प्रकार जो समस्त पदार्थों के दर्शन से आत्मा को वञ्चित रक्खे वह दर्शनावरण कर्म है।।२।। जिस प्रकार शहद लिपेटी छुरी के चाटने से सुख दु:ख अर्थात् छुरी की धार द्वारा जीभ के कट जाने से दु:ख और शहद के मिठास से सुख मिलता

है उसी प्रकार जो जीव को सुख किंवा दु:ख भुगाता है वह वेदनीय कर्म है।।३।। जिस प्रकार शराब मनुष्य को बुद्धिशून्य बना देती है उसी प्रकार जो मनुष्य को मूढ़ बना दे अपने पराये का भले प्रकार ज्ञान न होने दे वह मोहनीय कर्म है।।४।। जिस प्रकार बेड़ी मनुष्य को एक स्थान से दूसरे स्थान तक नहीं जाने देती–वह मनुष्य उसी स्थान पर पड़ा रहता है उसीप्रकार जिस जीव ने जिस गति की जितनी आयु बाँधी हैं उतनी आयु पर्यंत उसे उसी गति में जो रोके रहे, उस गति से दूसरी गति में न जाने दे वह आयुकर्म है।।५।। जिस प्रकार चित्रकार नवीन-नवीन चित्रों की रचना करता है उसी प्रकार जो भांति-भांति के गति जाति शरीर और आङ्गोपाङ्ग आदि की रचना करे वह नाम कर्म है।।६।। कुम्हार जिस प्रकार छोटे बड़े बर्तन बनाता है उसी प्रकार जिसके द्वारा कभी नीच और कभी ऊंच कुल में जन्म लेना पड़े वह गोत्र कर्म है।।७।। और दान देने में जैसा भंडारी विघ्न करता है उसी प्रकार दान आदि में जो विघ्न डाले वह अंतराय कर्म है।।८।। तथा जो प्रेम उत्पन्न करे वह राग, जो घृणा आदि करे वह द्वेष और जिनके उदय से गुस्सा आदि आवें क्रोध आदि ये सब भावकर्म हैं इस प्रकार इन दोनों प्रकार के कर्मों से यह संसारी आत्मा सदा आच्छन्न रहता है और इसका असली स्वरूप व्यक्त नहीं होता।।१३।।

कषाय भी कर्मास्रव में कारण हैं यह बतलाते हैं–

कषायश्रोतसागत्य जीवे, कर्मावतिष्ठते।
आगमेनेव पानीयं, जाड्यकारं सरोवरे।।१४।।
ज्यों कषाय में शीत प्रदायी, आए नालियों से जलशीत।
त्यों कषाय स्रोतों के द्वारा, कर्मास्रव हो स्व विपरीत।।१४।।

अर्थ–जिस प्रकार सरोवर में नालियों के द्वारा शीत को करने वाला पानी आता है उसी प्रकार इस जीव में भी कषायरूपी स्रोत द्वारा जड़ बनाने वाले सांपरायिक (संसार के कारण) कर्मों का आस्रव होता रहता है।

भावार्थ–जिस प्रकार जो सरोवर सोतीला (स्रोतयुक्त) होता है उसमें सदा पानी बना रहता है और हमेशा ही उन स्रोतों से पानी आया करता है उसीप्रकार यह संसारी जीव सदा कर्मों से बद्ध है और जैसा यह क्रोध मान माया लोभ आदि स्वरूप परिणत होता रहता है तैसे-तैसे सदा इसके सांपरायिक कर्मों का आगमन बना रहता है–इसके कषाय युक्त होने पर कर्म न आवें यह बात नहीं हो सकती। इसलिये तालाब में नवीन पानी के लाने में जैसे स्रोत कारण हैं उसी प्रकार

इस आत्मारूपी तालाब में संसार के कारण कर्मरूपी पानी के लाने में कषायरूपी स्रोत कारण हैं।।१४।। क्योंकि–

जीवस्य निष्कषायस्य यद्यागच्छति कल्मषं।
तदा संपद्यते मुक्तिर्-न कस्यापि कदाचन।।१५।।
यदि कषाय से रहित जीव को, भी कर्मागम माना जाय।
तो फिर कभी मुक्त न होगा, जो सिद्धांत से बाधा पाय।।१५।।

अर्थ–यदि कषायरहित जीव के भी सांपरायिक कर्मों का आगमन होता रहेगा तो कभी भी कोई फिर मुक्त न हो सकेगा।

भावार्थ–जहाँ पर क्रोध आदि कषायों की विद्यमानता नहीं है समस्त कर्मों का नाश हो गया है ऐसी निराकुलतामय सुखस्वरूप अवस्था का नाम मोक्ष है और जिन्होंने इस अवस्था को प्राप्त कर लिया है वे मुक्त कहलाते हैं। यदि यह मान लिया जायेगा कि जहाँ पर समस्त कषायों का नाश हो गया है सांपरायिक कर्मों का आना वहाँ भी बंद नहीं होता तो मोक्ष किसी को भी प्राप्त न हो सकेगा तथा जो महात्मा कषाय रहित जीवन्मुक्त हो गये हैं उन्हें जीवन्मुक्त न कहकर संसारी कहना पड़ेगा क्योंकि संसारियों में कषायों के द्वारा जैसे कर्म आते रहते हैं और उनका फलस्वरूप सुख दु:ख उन्हें भोगना पड़ता है उसी प्रकार कषाय रहित होने पर जीवन्मुक्त जीवों को भी कर्मों के आस्रव से सुख दु:ख भोगना पड़ेगा। इसलिये यह नियम स्वीकार करना पड़ेगा कि जहाँ कषायें मौजूद हैं वहीं सांपरायिक कर्मों का आस्रव है और जहाँ पर कषाय की विद्यमानता नहीं वहाँ कर्मों का आस्रव भी नहीं। जो जीव जीवन्मुक्त हैं उनके कषाय नहीं इसलिये उनके सांपरायिक कर्मों का आस्रव नहीं होता और उनसे भिन्न जिन जीवों के कषायों का सद्भाव है उनके नियम से कर्मों का आस्रव होता है।।१५।। तथा–

नान्यद्रव्यपरीणाम-मन्यद्रव्यं प्रपद्यते।
स्वान्यद्रव्यव्यवस्थेयं, परस्य घटते कथं।।१६।।
जो परिणाम है एक द्रव्य का, अन्य का वह ना हो परिणाम।
यदि ऐसा माना जाए तो, स्वपर-व्यवस्था रहे ना आन।।१६।।

अर्थ–जो परिणाम एक द्रव्य का है वह दूसरे द्रव्य का परिणाम नहीं हो सकता। यदि यह मान लिया जाय कि एक द्रव्य का परिणाम दूसरी द्रव्य का भी होता है तो संकर दोष आ जाने

से यह निज द्रव्य है और यह अन्य द्रव्य है ऐसी व्यवस्था ही नहीं बन सकती। इसलिये जड़ कर्मों की कषाय रागादि पर्यायें, चेतन आत्मा की नहीं हो सकती और जब उसके वे पर्याय ही नहीं तब कषायों से आने वाले कर्मों का आना भी नहीं हो सकता।

भावार्थ–मूल में पदार्थों के दो भेद हैं एक चेतन, दूसरा अचेतन। चेतन के परिणाम ज्ञान दर्शन आदि और अचेतनकर्मों के परिणाम रागद्वेष आदि हैं। यहाँ पर यह कभी नहीं हो सकता कि चेतन के परिणाम ज्ञान दर्शन आदि जड़कर्मों के परिणाम हो जांय और जड़ कर्मों के रागद्वेष आदि परिणाम चेतन के हो जांयें यदि ऐसा हो जायेगा तो संकर दोष के उपस्थित हो जाने पर चेतन अचेतन दोनों एक हो जायेंगे एवं सम्यग्ज्ञान आदि निज हैं और रागद्वेष आदि पर हैं यह भी व्यवस्था न बन सकेगी इसलिये मुक्त अवस्था में कभी चैतन्यस्वरूप शुद्धात्मा रागादि जड़ कर्म स्वरूप नहीं परिणत हो सकता यह निस्संदेह समझ लेना चाहिये।।१६।। तथा–

परेभ्यः सुख दुःखानि, द्रव्येभ्यो यावदिच्छति।
तावदास्रव विच्छिेदो, न मनागपि जायते।।१७।।
पर पदार्थ से सुख दुख होता, जब तक रहता है परिणाम।
तब तक आस्रव रोध न होवे, कर्मास्रव ही होगा आम।।१७।।

अर्थ–जब तक इस जीव की यह भावना रहती है कि मुझे पर पदार्थ स्त्री पुत्र धन आदि से सुख दुःख होता है तब तक इसके आस्रव का निरोध नहीं होता सदा इसके शुभ अशुभ कर्मों का आस्रव होता ही रहता है।

भावार्थ–जब तक जीव यह समझता रहता है कि मुझे जो कुछ सुख और दुख मालूम होता है वह पर पदार्थों के कारण है तब तक इसके शुभ अशुभ कर्मों का आना बंद नहीं होता क्योंकि यह धन और स्त्री पुत्र आदि के मिलने से प्रसन्न होता है और उनके वियोग में दुखी होता है तथा प्रसन्नता के समय इसके परिणाम रागादि स्वरूप होते हैं और दुःख के समय इसके परिणामों में द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है एवं राग द्वेष आदि आस्रव के कारण हैं यह बात पहिले ही कही जा चुकी है १७ तथा–

अचेतनत्व-मज्ञत्वात्-स्वदेहपरदेहयोः।
स्वकीय, परकीयात्म, बुद्धितस्तत्र वर्तते।।१८।।
जड़ चेतन से रहे अचेतन, यद्यपि स्व-पर दोय शरीर।
मूढ़ जीव स्व पर की बुद्धी, करके उनमें माने पीर।।१८।।

अर्थ—यद्यपि स्वशरीर और परशरीर जड़ होने से अचेतन हैं तथापि यह मूढ़ जीव उनमें स्व परकी बुद्धि करता है।

भावार्थ—जहाँ पर ज्ञान की मौजूदगी है वह तो चेतन और अन्य समस्त जड़ हैं अपना शरीर और दूसरे का शरीर भी जड़ होने से अचेतन है परंतु यह अज्ञानी जीव उनको अपनी परायी आत्मा समझता है।।१८।। तथा–

यदात्मीय-मनात्मीयं, विनश्वर-मनश्वरं।
सुखदं दुःखदं वेत्ति, न चेतन-मचेतनं।।१९।।
पुत्रदारादिके द्रव्ये, तदात्मीयत्व शेमुषीं।
कर्मास्रव-मजानानो विधत्ते मूढमानसः।।२०।।

जब तक स्व पर सुखदुखदायी, विनाशीक अविनाशी जान।
चेतन और अचेतन को न, जानें तब तक चेतन वान।।
कर्मों के आस्रव को भी न, जाने यह अज्ञानी जीव।
पुत्र स्त्री आदिक पर अपने, मान के बाँधे कर्म अतीव।।१९-२०।।

अर्थ—जब तक यह आत्मा अपना पराया विनाशीक अविनाशीक सुखदायी दुःखदायी और चेतन, अचेतन को भी नहीं जानता तब तक कर्मों के आस्रव को न जानकर यह मूढात्मा पुत्र स्त्री मित्र आदि परद्रव्यों को अपना मानता है।

भावार्थ—कर्मों के आस्रव में मन, वचन और काय का शुभ-अशुभ व्यापार कारण है और वह संसार में हर एक प्राणी के अपना पराया विनाशीक अविनाशीक सुख देनेवाला दुःख देने वाला चेतन अचेतन का पूर्णरूप से ज्ञान न होने के कारण निरंतर विद्यमान रहता है इसलिये इसके सर्वदा कर्मों का आस्रव हुआ करता है।।१९-२०।।

कषाया नोपयोगेभ्यो, नोपयोगाः कषायतः।
न मूर्तामूर्तयो-रस्ति, संभवो हि परस्परं।।२१।।

न उपयोगों से कषाये की, न कषाय से हो उपयोग।
क्योंकि मूर्तामूर्त द्रव्य में, जन्य जनक न होवे योग।।२१।।

अर्थ—न तो उपयोगों से कषायों की उत्पत्ति होती है और न कषायों से उपयोगों की उत्पत्ति होती है क्योंकि मूर्तिक और अमूर्तिक पदार्थों का आपस में जन्यजनकभाव संबध नहीं–अर्थात् मूर्तिक से अमूर्तिक की उत्पत्ति और अमूर्तिक से मूर्तिक की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ—जो गुण चेतना के साथ रहें-जहाँ चेतना हो, वहाँ वे गुण अवश्य मिलें उनका नाम उपयोग है और यह उपयोग ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानोपयोग के मति ज्ञान आदि भेद और दर्शनोपयोग के चक्षुदर्शन आदि भेद ऊपर बता दिये जा चुके हैं। यह दोनों प्रकार का उपयोग चेतना शक्ति का अनुयायी है। जहाँ-जहाँ चेतना रहती है वहाँ-वहाँ नियम से ज्ञान दर्शन रहते हैं और वे अमूर्तिक आत्मा के गुण हैं तथा कषाय के क्रोध मान माया लोभ आदि भेद हैं और वे मूर्तिक पुद्गल परिणाम हैं एवं यह नियम है कि जो मूर्तिक होता है वह अमूर्तिक नहीं हो सकता और जो अमूर्तिक होता है वह मूर्तिक नहीं हो सकता इसलिये उपयोगों से कषायों की उत्पत्ति और कषायों से उपयोगों की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि कषाय मूर्तिक और उपयोग अमूर्तिक हैं।

कषाय परिणामोऽस्ति, जीवस्य परिणामिनः।
कषायिणोऽकषायस्य, सिद्धस्येव न सर्वथा।।२२।।
न संसारो न मोक्षोऽस्ति, यतोऽस्यापरिणामिनः।
निरस्त कर्मसंगश्चा-परिणामी ततो मतः।।२३।।

जो कषाय संयुक्त जीव हैं, हों कषायि उनके परिणाम।
जो कषाय से रहित हैं उनके, न कषाय युत हों परिणाम।।२२।।
क्योंकि अपरिणामी जीवों के, मोक्ष नहीं न है संसार।
परिग्रह कर्म रूप नशने से, अपरिणामि है अपरंपार।।२३।।

अर्थ—जो जीव कषायों से युक्त हैं उनके कषायपरिणाम रहते हैं किंतु जिन जीवों के कषाय नहीं है–जो जीवन्मुक्त हैं उनके कषाय परिणाम नहीं होते जैसे कि सिद्धों के। क्योंकि अपरिणामी जीवन्मुक्त जीवों के न संसार है न मोक्ष तथा इनका कर्मरूपी परिग्रह नष्ट हो गया है इसलिये इनको अपरिणामी कहते हैं।

भावार्थ—यहाँ अकषाय पद से जीवन्मुक्त जीवों का ग्रहण किया गया है क्योंकि उनके समस्त कषायों का नाश हो चुका है तथा जिस प्रकार सिद्धों के कषाय परिणाम नहीं होते इसलिये

वे अपरिणामी हैं उसी प्रकार कषाय रहित जीवन मुक्तों के भी कषाय परिणाम नहीं होते इसलिये वे भी अपरिणामी हैं। यदि यहाँ पर यह शंका हो कि सिद्ध तो अपरिणामी हैं परंतु जीवन्मुक्त अपरिणामी कैसे? तो ग्रन्थकार ने उसका यह समाधान दिया है कि जीवन्मुक्त घातिया कर्मों से रहित हो गये हैं इसलिये कषाय उत्पन्न न होने से अपरिणामी हैं एवं निष्कषाय होने से संसार के कारण सांपरायिक कर्मों के आस्रव से रहित हैं इसलिये न तो वे संसारी हैं और न अघातिया कर्मों के सद्भाव से मुक्त ही हैं।।२२-२३।। यथा–

नान्योऽन्यगुणकर्तृत्व, विद्यते जीवकर्मणोः।
अन्योन्यापेक्षयोत्पत्तिः, परिणामस्य केवलं।।२४।।
स्वकीयगुणकर्तृत्वं, तत्त्वत्तो जीवकर्मणोः।
क्रियते हि गुणस्ताभ्यां, व्यवहारेण गद्यते।।२५।।

गुण कर्तृत्व परस्पर जीवों, और कर्म में नहीं विशेष।
एक दूसरे के निमित्त जो, हों परिणाम सदा अवशेष।।२४।।
कर्म जीव में निज-निज गुण की, कर्तृत्वा निश्चय से जान।
कर्म जीव या जीव कर्म का, कर्त्ता है व्यवहार से मान।।२५।।

अर्थ–जीव और कर्म में परस्पर गुणकर्तृता नहीं अर्थात् न तो जीव में यह सामर्थ्य है कि वह कर्म के गुणों को उत्पन्न कर सके और न कर्म में यह सामर्थ्य है कि वह जीव के गुणों को कर सके किन्तु उन दोनों में एक के दूसरे के निमित्त से केवल परिणामों की उत्पत्ति होती है तथा निश्चयनय से जीव और कर्म में अपने अपने गुणों की कर्तृता है अर्थात् जीव अपने गुणों का कर्ता और कर्म अपने गुणों का कर्ता है किन्तु यह जो बात कह दी जाती है कि जीव के गुणों का कर्म करता है और कर्म के गुणों को जीव कर्ता है यह व्यवहार से कथन है।

भावार्थ–ज्ञान दर्शन आदि गुण जीव के हैं और ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि गुण (प्रकृति) कर्म के हैं तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि वा चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन आदि जीव के परिणाम (पर्याय) कहे जाते हैं और कर्म के परिणाम मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदि वा चक्षुर्दर्शनावरण आदि हैं किंवा क्रोध मान आदि भी कर्म के ही परिणाम हैं। यहाँ पर न तो कर्म जीव के ज्ञान दर्शन आदि गुणों को उत्पन्न करता है और न जीव कर्म के ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि गुणों (प्रकृति) को उत्पन्न करता है किन्तु कर्म के निमित्त से जीव में मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि

वा चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन आदि परिणाम उत्पन्न होते हैं और जीव के निमित्त से कर्म के मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदि वा चक्षुर्दर्शनावरण अचक्षुर्दर्शनावरण आदि परिणाम होते हैं। इसलिये निश्चय से तो जीव अपने अखण्ड गुणों का और कर्म अपने गुणों का कर्ता है परन्तु यह जो बात प्रचलित है कि कर्म जीव के गुणों का कर्ता और जीव कर्म के गुणों का कर्ता है यह व्यवहार मात्र है निश्चय नहीं।।१४-२५।।

अब रागद्वेष आदि के समान औदयिक भाव भी पुद्गलीक हैं यह बतलाते हैं–

उत्पद्यंते यथा भावाः, पुद्गलापेक्षयात्मनः।
तथैवौदयिका भावा, विद्यंते तदपेक्षया।।२६।।
राग द्वेष आदिक भावों की, उत्पत्ति पुद्गल से होय।
उत्पत्ती औदायिक भावों की, जड़ पुद्गल से मानो सोय।।२६।।

अर्थ–जिस प्रकार आत्मा में राग द्वेष आदि भावों की उत्पत्ति पुद्गल की सहायता से होती है उसी प्रकार गति कषाय आदि औदयिक भावों की भी उत्पत्ति, उसमें पुद्गल की ही सहायता से होती है।

भावार्थ–जो भाव कर्मों के उदय से हों वे औदयिक भाव हैं एवं वे गति ४ (मनुष्यगति १ तिर्यञ्चगति २ देवगति ३ और नरकगति ४) कषाय ४ (क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४) लिंग ३ (पुल्लिङ्ग १ स्त्रीलिङ्ग २ नपुंसकलिङ्ग ३) अज्ञान १, असंयत १, असिद्धत्व १ और लेश्या ६ (पीत १ पद्म २ शुक्ल ३ कृष्ण ४ नील ५ कापोत ६) इस रीति से इक्कीस प्रकार के हैं तो जिस प्रकार पुद्गल की अपेक्षा आत्मा में रागद्वेष मोह आदि भावों की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार इन औदयिक भावों की भी पुद्गल की ही अपेक्षा आत्मा में उत्पत्ति होती है ऐसा जानना चाहिये।।२६।।

अपने को और पर को अपना मानने से पापास्रव होता है, यह कहते हैं–

कुर्वाणः परमात्मानं, सदात्मानं पुनः परं।
मिथ्यात्वमोहितस्त्वांतो, रजोग्राही निरंतरं।।२७।।
जिस मोही के अंतरंग में, हो मिथ्यात्व का प्रबल असर।
पर को स्व-स्व को पर माने, पाप का संचय करे प्रखर।।२७।।

अर्थ–जिस मूढ़ जीव के अन्तरङ्ग पर ऐसा मिथ्यात्व का प्रबल असर पड़ा हुआ है- जो इतना बेहोश हो रहा है कि जो पर पदार्थ हैं उन्हें अपना मानता है और जो निज हैं उन्हें पर समझता

है उसके निरन्तर पापों का सञ्चय होता रहता है।

भावार्थ—जिस प्रकार शराब पीने वाला पुरुष जिस समय शराब के गाढ़ नशे में तरवतर हो जाता है उस समय उसको जरा भी किसी बात का ख्याल नहीं रहता, यहाँ तक कि वह माँ को स्त्री और स्त्री को भी मां तक पुकारने लग जाता है उसी प्रकार जिस जीव पर भी मिथ्यात्व का इतना प्रबल असर पड़ा हुआ है कि वह सर्वथा मूढ़ बन गया है जो स्त्री पुत्र धन धान्य आदि पदार्थ पर हैं उन्हें ही अपना समझता है एवं अहोरात्र उनकी प्राप्ति का उपाय करता रहता है और आत्मिक केवलज्ञान आदि संपत्ति को अपनी नहीं मानता और न उनकी प्राप्ति का उपाय ही करता है उसके रात दिन कर्मों का संचय हुआ करता है।।२७।। तथा–

रागमत्सरविद्वेष-लोभमोहमदादिषु।
हृषीककर्मनोकर्म-रूपस्पर्शरसादिषु।।२८।।
एतेऽहमहमेतेषा-मिति तादात्म्यमात्मनः।
विमूढ़ः कल्पयन्नात्मा, स्वपरत्वं न बुध्यते।।२९।।

मूढ़ जीव जो राग द्वेषादि, ईर्ष्या लोभ मोह मद वान।
कर्म और नोकर्म इंद्रियाँ, गंध रूप स्पर्शन मान।।२८।।
इन पदार्थ स्वरूप रहा मैं, मुझ स्वरूप यह रहे पदार्थ।
इस प्रकार संबंध कल्पना, से क्या भेद ज्ञान का अर्थ।।२९।।

अर्थ—जो मूढ़ आत्मा राग ईर्षा द्वेष लोभ मद इंद्रियाँ कर्म नोकर्म रूप स्पर्शन और रस आदि पदार्थों में 'इन स्वरूप मैं हूँ और ये मुझ स्वरूप हैं' इस प्रकार के तादात्म्य सम्बन्ध की कल्पना करता रहता है उसके स्वपर का कभी भेद विज्ञान नहीं होता।

भावार्थ—यह पूर्णरूप से निश्चित है कि राग ईर्षा द्वेष लोभ पर पदार्थ हैं आत्मिक नहीं, तथापि जो जीवात्मा इतना प्रबल मोही बन रहा है कि उन्हें पर नहीं मानता और राग आदि स्वरूप मैं हूँ और मुझ स्वरूप राग आदिक हैं ऐसी उनमें तादात्म्य संबंध की कल्पना करता रहता है उसके 'मैं क्या हूँ? और पर पदार्थ क्या हैं?' इस बात का जरा भी भान नहीं होता क्योंकि अपने को अपना मानना और पर को पर मानना इसमें भेदविज्ञान कारण है और भेद विज्ञान उसी समय हो सकता है जब राग आदि को जुदा माने और केवल ज्ञान आदि को अपना माने।।२८-२९।।

अब मिथ्याचारित्र कर्मास्रव में कारण हैं यह बतलाते हैं–

हिंसने वितथे स्तेये, मैथुने च परिग्रहे।
मनोवृत्तिर्चारित्रं, कारणं कर्म संगतेः।।३०।।
हिंसा झूठ चोरी कुशील अरु, परिग्रह वृत्ती में मन जाय।
मिथ्या चारित है वह जिससे, प्राणी हरदम आस्रव पाय।।३०।।

अर्थ–हिंसा-झूठ-चोरी-मैथुन और परिग्रह की ओर जो चित्त की वृत्ति फिर जाना है उसे चारित्र-मिथ्याचारित्र कहते हैं और यह मिथ्याचारित्र कर्मों के आस्रव में कारण है–अर्थात् मिथ्याचारित्र की ओर परिणति लगाने से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है।

भावार्थ–चारित्र के दो भेद हैं एक-देशचारित्र, दूसरा सकलचारित्र। जो एकदेश रूप से हिंसा झूठ चोरी मैथुन और परिग्रह का त्याग है वह देशचारित्र कहा जाता है और इस चारित्र के धारक गृहस्थ होते हैं तथा जो सर्वथा हिंसा झूठ चोरी मैथुन और परिग्रह का त्याग किया जाता है वह सकलचारित्र है एवं वह मुनियों के होता है। यह चारित्र कर्मों का नाश करने वाला है इसके आराधन से मोक्ष की प्राप्ति होती है परन्तु इसके विपरीत जो हिंसा झूठ चोरी मैथुन और परिग्रह का सेवन करना है वह अचारित्र वा मिथ्याचारित्र है और इस मिथ्याचारित्र के सेवन करने से कर्मों का आस्रव होता है।।३०।।

रागतो द्वेषतो भावं परद्रव्ये शुभाशुभं।
आत्मा कुर्वन्नाचारित्रं, स्वचारित्र पराङ्मुखः।।३१।।
यतः संपद्यते पुण्यं-पापं वा परिणामतः।
वर्तमानो यतस्तत्र, भ्रष्टोऽस्ति स्वचरित्रतः।।३२।।
निज गुण चारित से जब आतम, विमुख होय जो राग-द्वेष।
भाव शुभाशुभ पर पदार्थ में, कर मिथ्यात्वी होय विशेष।।३१।।
जिन परिणामों के निमित्त से, पुण्प पाप होते हैं जान।
उन परिणामों में तब उसके, स्व चरित्र से भ्रष्ट हो मान।।३२।।

अर्थ–जिस समय यह आत्मा अपने निजी गुण चारित्र से (सम्यग्चारित्र से) विमुख हो परपदार्थों में राग और द्वेष कर शुभ-अशुभ भावों को उपार्जन करता है उस समय यह आत्मा

अचारित्र-मिथ्याचारित्र रूप समझा जाता है क्योंकि जिन परिणामों के निमित्त से पुण्य और पाप की उत्पत्ति होती है उन परिणामों के अंदर जब यह विद्यमान रहता है उस समय इसका स्वचारित्र-सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट-विमुख होना युक्त ही है।

भावार्थ—यद्यपि मिथ्यादर्शन राग द्वेष मिथ्याचारित्र आदि जड़ कर्म के विकार हैं तथापि उन्हें चैतन्य आत्मा का विकार माना है इसी आशय को लेकर ग्रन्थकार ने यहाँ कहा है कि जिस समय यह आत्मा सम्यक्चारित्र का आचरण नहीं करता उससे विमुख वा भ्रष्ट रहता है उस समय यह पर पदार्थों को अपनाता है और उनमें राग द्वेष कर शुभ अशुभ भावों को करता है इसलिये यह मिथ्याचारित्र स्वरूप समझा जाता है क्योंकि राग और द्वेष की निवृत्तिरूप परिणामों का त्याग सम्यक्चारित्र है इसलिये पुण्य और पाप की उत्पत्ति के निमित्त रागद्वेष के अंदर यह विद्यमान रहेगा तो निजी गुण चारित्र से अवश्य विमुख-भ्रष्ट समझा जायेगा।।३१-३२।।

कर्मों से क्या फल मिलता है? यह कहते हैं–

श्वभ्रतिर्यङ्नरस्वर्ग, गतिं जाताः शरीरिणः।
शारीरं मानसं दुःखं, सहंते कर्म संभवं।।३३।।

जीव नरक नर मानव पशु गति, में जो होते हैं उत्पन्न।
वहाँ कर्म के फल से दैहिक, दुःख मानसिक सहते अन्य।।३३।।

अर्थ—ये जीव नरकगति तिर्यञ्चगति मनुष्यगति और देव गतियों के अन्दर उत्पन्न होते हैं और वहाँ कर्मों से उत्पन्न शारीरिक (शरीर में होने वाले) मानसिक (मन में होनेवाले) दुःखों को सहते हैं।

भावार्थ—दुःख दो प्रकार के हैं एक शारीरिक दूसरे मानसिक। छेदन-भेदन ताड़न आदि से जो शरीर में वेदना होती है वह शारीरिक दुःख है और जिस दुःख से मन संतप्तायमान रहता है वह मानसिक दुःख है तथा इन दोनों प्रकार के दुःखों में कर्म कारण है–जहाँ-जहाँ कर्मों की विद्यमानता रहती है वहाँ-वहाँ नियम से दुःख भोगने पड़ते हैं, नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव चारों गतियों में कर्म मौजूद हैं इसलिये इन गतियों में अवश्य उपर्युक्त दुःख भोगने पड़ते हैं। उनमें मनुष्य, वा तिर्यञ्च गति में जो दुःख भोगने पड़ते हैं वे हमारे अनुभवगम्य हैं क्योंकि जिस समय हमारे शरीर में घाव आदि की वेदना होती है उस समय शारीरिक दुःख भोगना पड़ता है और जिस समय अपमान आदि वा इष्ट का वियोग और अनिष्ट संयोग होता है उस समय मानसिक दुःख

होता है–हम लोग मन ही मन दुखित वा शोकित होते रहते हैं। तथा तिर्यञ्च वैल भैंस गाय आदि में भी जब उनके शरीर में घाव आदि हो जाते हैं तो उनमें शारीरिक दु:ख मालूम पड़ता है और जिस समय गाय आदि का बच्चा मर जाता है उस समय वह सूखती जाती है इसलिये उसके मानसिक दु:ख मालूम पड़ता है इसी प्रकार जिस समय जीव नरक में उत्पन्न होते हैं उस समय उन्हें छेदन-भेदन आदि से उपर्युक्त दोनों प्रकार का दु:ख भोगना पड़ता है–नारकी एक दूसरे का आपस में सदा छेदन भेदन ताड़न आदि करते हैं और देव गति में एक नीचे दर्जे का देव दूसरे की उन्नत सम्पत्ति को देखकर मन ही मन जलता रहता है एवं महादु:ख पाता है।।३३।।

यदि कोई शङ्का करे कि देवगति में तो सुख है वहाँ दु:ख कहाँ? उसका समाधान करते हैं–

यत्सुखं सुरराजानां, जायते विषयोद्भवं।
ददानं दाहिकां तृष्णां, दुःखं तदवबुध्यतां।।३४।।
अनित्यं पीडकं तृष्णा, वर्धकं कर्मकारणं।
समक्षजं पराधीन-मशर्मैव विदुर्जिनाः।।३५।।

इन्द्रराज जिस सुख का अनुभव, करता विषय जन्य सुख जान।
तन मन को संतापित कारी, तृष्णाकारी है दुख मान।।३४।।
क्योंकि जो सुख विनाशीक या, संतापी हो तृष्णावान।
पराधीन इंद्रिय कर्मों कृत, को दुख कहे हैं जिन भगवान।।३५।।

अर्थ–जिस सुख का सुरराज-इन्द्र अनुभव करते हैं वह सुख विषयजन्य है शरीर और मन को सन्ताप देने वाली तृष्णा का देने वाला है इसलिये वह दु:ख ही है–उसे दु:ख ही समझना चाहिये क्योंकि जो सुख विनाशीक सन्ताप देने वाला तृष्णा का बढ़ाने वाला कर्म से जायमान इन्द्रिय जन्य और पराधीन है उसे भगवान सर्वज्ञ ने दु:ख ही बतलाया है।

भावार्थ–जो सुख अविनाशी हो, आह्लाद स्वरूप हो, तृष्णा का दूर करने वाला हो, कर्म और इंद्रियों से जन्य न हो और स्वाधीन हो वह तो सुख है किन्तु जो ऐसा न हो वह सुख नहीं दु:ख ही है। मनुष्य समझते हैं कि सुरराज इन्द्र जिस सुख का अनुभव करता है वह वास्तविक सुख है क्योंकि वह देवों का स्वामी है अनेक प्रकार की सम्पत्ति और देवाङ्गनायें उसके यहाँ मौजूद हैं परन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि उसका सुख भी दु:ख ही है क्योंकि वह इंद्रिय जन्य और तृष्णा को प्रदान करने वाला है अनित्य, दु:खदायक, कर्मजन्य और पराधीन है किन्तु असली सुख

निराकुलतामय है और वह सिद्धों को प्राप्त है इसलिये कर्मों की सहायता से सर्वदा दु:ख ही मिलता है।।३४-३५।।

सांसारिकं सुखं सर्व, दुःखतो न विशिष्यते।
यो नैव बुध्यते मूढः, चारित्री नहिं भण्यते।।३६।।
यः पुण्यपापयोर्मूढो, विशेषं नावबुध्यते।
स चारित्रपरिभ्रष्टः, संसारपरिवर्धकः।।३७।।
संसारिक सुख दुख ही जानो, इसमें कुछ भी नहीं विशेष।
मूढ़मती ना समझे इसको, वह चारित न कहे जिनेश।।३६।।
पुण्य पाप को मूढ़ न जाने, वह भी चारित भ्रष्ट अशेष।
है संसार का वृद्धीकारी, भ्रमण करे धर-धर कई भेष।।३७।।

अर्थ—जो सांसारिक सुख है वह दु:ख ही है, सांसारिक सुख और दु:ख में कोई विशेष भेद नहीं किन्तु जो मूढ़ इस बात को नहीं समझता अर्थात् सांसारिक सुख को सुख मानता है और दु:ख को उससे भिन्न जानता है वह चारित्र स्वरूप नहीं कहा जाता तथा जो मूढ़ पुण्य पाप के विशेष को भी नहीं जानता है वह भी चारित्र से भ्रष्ट-विमुख समझा जाता है और वह संसार का परिवर्धक है—अनादिकाल तक उसे संसार में रुलना पड़ता है।।३६-३७।। तथा—

पापारंभं परित्यज्य, शस्तं वृत्तं चरन्नपि।
वर्तमानः कषायेन, कल्मषेभ्यो न मुच्यते।।३८।।
हो कषाय संयुक्त आत्मा, पापारंभ से होय विहीन।
सच्चारित पा मोक्ष न पावे, पापास्रव में होवे लीन।।३८।।

अर्थ—जो मनुष्य कषायों से युक्त अर्थात् जिसकी आत्मा कषायों से कलुषित है चाहे वह भले ही किसी प्रकार का पाप का आरम्भ न करे, निर्दोष चारित्र का भी आचरण करे परन्तु पापों से मुक्त नहीं हो सकता-अवश्य उसके पापों का आस्रव होता रहेगा।

भावार्थ—यह बात ऊपर कह दी जा चुकी है कि कर्मों के आस्रव में प्रधान कारण कषाय है जब तक आत्मा में कषाय की मौजूदगी रहेगी तब तक कर्मों का आस्रव बन्द नहीं हो सकता तथा कषायों की विद्यमानता में पापारम्भ का त्याग और प्रशस्त चारित्र का आचरण करना भी

किसी काम का नहीं। यही बात ग्रन्थकार ने यहाँ बतलाई है कि जब तक आत्मा कषायों से कलुषित बना रहता है तब तक चाहे कैसा भी पापारम्भ मत करो, प्रशस्त चारित्र का भी आचरण करो परन्तु पापों से मुक्ति नहीं हो सकती इसलिये सबसे पहिले कषायों का ही त्यागना आवश्यक है।।३८।। तथा–

जायंते मोहलोभाद्या, दोषा यद्यपि वस्तुतः।
तथापि दोषतो बंधो, दुरितस्य न वस्तुतः।।३९।।
यद्यपि मोहलोभादि दोष की, उत्पत्ती निश्चय से होय।
कर्म बंध दोषों से हो जो, निश्चय से न होवे सोय।।३९।।

अर्थ–यद्यपि मोह लोभ आदि दोषों की उत्पत्ति निश्चयनय से नहीं होती है तथापि दोषों से जो आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता है वह निश्चयनय से नहीं।

भावार्थ–यह बात ऊपर कह दी गई है कि-जैनसिद्धान्त में निश्चय और व्यवहार दो नय मानी गई हैं। उनमें निश्चयनय असली स्वरूप को विषय करता है और व्यवहार नय व्यवहार संबंधी बातों को विषय करता है। लोभ मोह आदि की जो उत्पत्ति होती है वह निश्चयनय का विषय है क्योंकि यदि इसे व्यवहारनय का विषय माना जायेगा तो लोभ आदि हैं यह बात निश्चितरूप से न बन सकेगी। और लोभ मोहादि दोषों के कारण जो आत्मा के साथ कर्मों का बंध आदि होता है वह व्यवहार है क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा निष्कलङ्क निर्दोष है–निश्चयनय से आत्मा में आस्रव बंध नहीं होते।।३९।।

मिथ्याज्ञाननिविष्टयोगजनिताः संकल्पना भूरिशः।
संसारभ्रमकारिकर्मसमिते, रावर्जने या क्षमाः।
ज्ञायंते स्वपरांतरं गतवता, निश्शेषतो येनतास्।
तेनात्मा विगताष्टकर्मविकृतिः, संप्राप्यते तत्त्वतः।।४०।।
कर्मास्रव संसार भ्रमण में, कारण होय कल्पना जाल।
मिथ्याज्ञान से युक्त योग हो, होवे जो उत्पन्न त्रिकाल।।
स्वपर भेद का ज्ञाता है जो, सर्व कल्पनाओं को जान।
सर्वकर्म को जड़ से खंडित, करके पाए पद निर्वाण।।४०।।

इति श्री अमितगति आचार्य विरचित तृतीय अध्याय समाप्तम्।

अर्थ–जिन कल्पनाओं से संसार में घुमाने वाले कर्म का आस्रव होता है ऐसी बहुत सी कल्पनायें हैं और उनकी उत्पत्ति मिथ्याज्ञान से युक्त योगों के द्वारा होती है परन्तु स्व और पर के भेद को पूर्णरूप से जानने वाला जो आत्मा उन कल्पनाओं को पूर्णरूप से जान लेता है वहीं समस्त

कर्मों को जड़ से उखाड़ने वाला होता है अर्थात् वह समस्त कर्मों का मूल से विच्छेद कर अचिंत्य अविनाशी मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—यह बात स्पष्ट रूप से अनुभव में आती है कि प्रति समय संसारी जीवों के नानाप्रकार के संकल्प विकल्प हुआ करते हैं परंतु जो संकल्प विकल्प मिथ्याज्ञान से युक्त ध्यान के द्वारा होते हैं अर्थात् विपरीत संकल्प विकल्प होते हैं उनसे नाना प्रकार के कर्मों का आस्रव होता है और उनसे कर्मों का जो 'चतुर्गति रूप संसार में घूमना' फल है वह इस जीव को भोगना पड़ता है परन्तु जो विद्वान आत्मा, अपने पराये का पूर्णरूप से भेद जानता है और वह भी समझता है कि विपरीत संकल्प-विकल्प कर्मों के आस्रव में कारण हैं उसके समस्त कर्मों का नाश हो जाता है और यह परम पावन मोक्षसुख का अनुभव करता है।।४०।।

इस प्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित श्री विशदसागराचार्य अनुवादित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रन्थ में आस्रवाधिकार समाप्त हुआ।।३।।

❑❑

राग द्वेष सचित्त चित्रमें हो, होंय शुभाशुभ तब परिणाम।
शुभ परिणाम से पुण्य पाप हो, करके कभी अशुभ परिणाम।।
दोनों पुद्गल के विचार हैं मूर्तिक सुख दुख कारी जान।
पुण्य पाप से सुख दुख प्राणी, पाते हैं कहते भगवान।।

*

गुरु के नाम की माला, सभी अज्ञान हरती है।
मिले वरदान वाणी का तो किस्मत काम करती है।।
तहे दिल से जो हो अर्पण, तो सारे काम बनते हैं।
उसी की नाव सागर में, किनारा प्राप्त करती है।।

*

मेरे गुरुदेव मुझको तुम, निजातम रस पिला देना।
बुझा दिल का मेरा दीपक, इसे गुरुवर जला देना।।
न चाहूँ मैं यहाँ दुनियाँ, न दौलत की तमन्ना है।
मेरे दिल में मेरी शोहरत, गुलों जैसी खिला देना।।

अथ बंधाधिकार

पुद्गलानां यदादानं, योग्यानां सकषायतः।
योगतः स मतो बंधो, जीवास्वातंत्र्य कारणं।।१।।
योग कषायों से कर्मों के, योग्य सुपुद्गल ग्रहण विशेष।
बंध कहा वह बंध जीव को, करे अधीन कहते तीर्थेश।।१।।

अर्थ—कषाय और योगों से जो कर्मों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना है उसे बन्ध कहते हैं और वह बंध जीव को अपने आधीन कर लेता है।

भावार्थ—ऊपर बतला दिया गया है कि कर्म, पुद्गल हैं और धूलि आदि में जैसे रूप रस गन्ध आदि हैं वैसे ही कर्मों के अंदर हैं तथा जिस समय इन कर्म के योग्य पुद्गलों के साथ कषाय और योग का सम्बन्ध होता है उस समय ये पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं तो जिस समय जीव योग और कषायों के निमित्त से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है उसे बंध कहते हैं और इस बन्ध से जीव, कर्मों के आधीन हो जाता है।।१।।

प्रकृतिः सुस्थितिर्ज्ञेयः, प्रदेशोऽनुभवः परः।
चतुर्धा कर्मणो बंधो, दुःखोदय निबंधनं।।२।।
बंध प्रकृति स्थिति प्रदेश अरु, है अनुभाग बंध ये चार।
विविध भाँति दुख के उत्पादक, भ्रमण कराएँ यह संसार।।२।।

अर्थ—वह बंध प्रकृतिबंध स्थितिबंध प्रदेशबंध और अनुभागबंध के भेद से चार प्रकार का है और नाना प्रकार के दु:खों के उत्पन्न करने में कारण है—कर्मबंध से अनेक प्रकार के दु:खों की उत्पत्ति होती है।।२।।

निसर्गः प्रकृतिस्तत्र, स्थितिः कालावधारणं।
सुसंक्लिप्तिः प्रदेशोऽस्ति, विपाकोऽनुभवः पुनः।।३।।
प्रकृति बंध निसर्ग रूप है, स्थिति कालावधारण रूप।
फलशक्ती हीनाधिक अनुभव, है प्रदेश संक्लिप्ति स्वरूप।।३।।

अर्थ—निसर्ग-कर्म में आत्मा के गुण घातने की शक्ति के पड़ने को प्रकृतिबंध कहते हैं।

कालावधारण-अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों के रहने की मर्यादा (मियाद) स्थितिबंध है। सुसंक्लिप्ति-कर्म और आत्मा के प्रदेशों का आपस में मिल जाना प्रदेश बंध और विपाक अर्थात् फल देने की शक्ति की हीनाधिकता का नाम अनुभाग बन्ध है।

भावार्थ—प्रकृति का अर्थ स्वभाव है जैसे ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव ज्ञान का ढक देना दर्शनावरण का दर्शन का ढक देना। तो जिस समय ज्ञानावरण कर्म में आत्मा के ज्ञान गुण घातने की शक्ति वा दर्शनावरण आदि में आत्मा के दर्शन आदि गुणों की घातने की शक्ति पड़ जाय उस समय **प्रकृतिबंध** होता है। स्थिति का अर्थ (मर्यादा) है जैसे ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर, नामकर्म और गोत्र कर्म की बीस कोड़ाकोड़ी सागर और आयुकर्म की तैंतीस सागर है अर्थात् अधिक से अधिक ये कर्म आत्मा से संबद्ध होने पर उतने काल तक रह सकते हैं तथा वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र की आठ-आठ मुहूर्त और शेष समस्त कर्मों की अंतर्मुहूर्त है। तो जिन कर्मों का आत्मा के साथ संबंध हो गया है उनका उतने काल तक आत्मा के साथ रहना **स्थितिबंध** है। प्रदेश का अर्थ खंड है और कर्मों के प्रदेश अनंत और आत्मा के असंख्यात हैं तो जिस समय कर्म और आत्मा के प्रदेश आपस में मिल जाय वह **प्रदेश बंध** है और अनुभाग का अर्थ फल है तो जिस समय यह जीव इच्छानुसार पदार्थों का न जानना और देखना सुख दुःख आदि फलों को भोगता है उस समय **अनुभागबंध** कहा जाता है।।३।।

रागद्वेषद्वयालीढः, कर्म बध्नाति चेतनः।
व्यापारं विदधानोऽपि, तदपोढो न सर्वथा।।४।।
राग-द्वेष संयुक्त जीव के, होता है कर्मों का बंध।
रागद्वेष से रहित योग बिन, होते हैं सब जीव अबंध।।४।।

अर्थ—जो चेतन राग द्वेष से युक्त रहता है उसी के कर्मबंध होता है किन्तु जिस समय वह राग द्वेष से रहित हो जाता है उस समय मन वचन काय के व्यापार करने पर भी उसके कर्म बंध नहीं होता।

भावार्थ—कर्मों के बंध में प्रधान कारण राग और द्वेष हैं जब तक आत्मा में राग और द्वेष की विद्यमानता रहती है तब तक प्रकृति स्थिति आदि सब प्रकार के बंध होते रहते हैं किन्तु जिस समय राग और द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है उस समय मन वचन काय के व्यापार करने पर भी बंध नहीं होता अर्थात् राग और द्वेष के अभाव में स्थिति और अनुभाग बंध तो सर्वथा नहीं

होते और जो योगों के द्वारा प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं वे अनहोने के समान हैं क्योंकि राग द्वेष से होने वाले बन्ध जिस प्रकार आत्मा को हानि पहुंचाते हैं वैसे योग से होने वाले बन्ध नहीं इसलिये राग द्वेष के अभाव में बन्ध नहीं होते यह कहना भी अयुक्त नहीं।।४।।

स[१]चित्ताचित्तमिश्राणां, कुर्वाणोऽपि निसूदनं।
रजोभिर्लिप्यते रुक्षो, न तन्मध्ये चरन्यथा।।५।।
विदधानो विचित्राणां द्रव्याणां विनिपातनं।
रागद्वेषेद्-व्यापेतो नैनोभिर्बध्यते तथा।।६।।
ज्यों चिक्कण द्रव्यों से विरहित, रुक्ष देहधर सचित्ताचित्त।
मिश्र पदार्थ का छेदन भेदन, कर भी धूल से न हो लिप्त।।५।।
नाना द्रव्यों का विनाश कर, रागद्वेष से ना हो युक्त।
पाप बंध न होवे तब तक, पापों से न होय संयुक्त।।६।।

अर्थ—जिस प्रकार तैल आदि चिक्कण पदार्थ के संबंध से रहित-रुक्ष शरीर का धारक मनुष्य सचित्त अचित्त और सचित्ताचित्त पदार्थों का छेदन भेदन करता हुआ और उनके मध्य में रहता हुआ भी धूलि से धूसरित नहीं होता उसी प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यों का नाश करता हुआ भी जीव जब तक राग द्वेष से युक्त नहीं होता तब तक उसको पाप का बंध नहीं होता।

भावार्थ—जिस प्रकार तेल आदि चिकने पदार्थों के संबंध से रहित शरीर का धारक मनुष्य पीपल नीव काष्ठ आदि सचित्त अचित्त सचित्ताचित्त पदार्थों का छेदन भेदन ताड़न करता है परंतु उनके छेदन आदि करने पर जो धूली उड़ती है उस धूलि से उसका शरीर मैला नहीं होता इसलिये ऐसा जान पड़ता है कि धूलि से मैले होने में कारण शरीर पर लगी हुई चिकनाई है—बिना चिकनाई के शरीर मैला नहीं हो सकता उसी प्रकार यह जीव भी सचित्त अचित्त आदि द्रव्यों का नाश करता हुआ भी जब तक राग द्वेष से युक्त नहीं होता तब तक पापों से नहीं बंधता इसलिये यहाँ पर भी ऐसा जान पड़ता है कि पापों के बंध में कारण राग द्वेष हैं—जब तक राग द्वेष रूपी चिकनाई आत्मा में विद्यमान रहती है तब तक इस आत्मा के साथ अवश्य पापों का बंध हुआ करता है और उसके

---

१. यही बात-जह पुण सोचेव णरो।।२६०।। इन गाथा से लेकर एवं सम्मादिट्ठी।।२६४।। इस गाथा पर्यंत समयसागरप्राभृत में बतलाई है भेद इतना है वहाँ पर दार्ष्टांत में ग्रन्थकार ने योग को ग्रहण किया है और यहाँ पर राग और द्वेष को।

अभाव में नहीं।।५-६।।

स[1]र्वव्यापारहीनोऽपि, कर्ममध्ये व्यवस्थितः।
रेणुभिर्व्याप्यते चित्रैः, स्नेहाभ्यक्त तनुर्यथा।।७।।
समस्तारंभहीनोऽपि, कर्ममध्ये व्यवस्थितः।
कषायाकुलितस्वांतो, व्याप्यते दुरितैस्तथा।।८।।
रहित सर्व व्यापारों से कोई, कर्म स्थल पर स्थित होय।
धूल धूसरित होगा तो वह, त्यों क्रोधादिक कारी सोय।।७।।
जो कषाय संयुक्त चित्त का, धारी सर्वारंभ विहीन।
कर्म शुभाशुभ व्यापारों में, स्थित पाप बंध से लीन।।८।।

अर्थ–परंतु जिस प्रकार तैल आदि की चिकनाई से युक्त शरीर का धारक पुरुष छेदन भेदन आदि व्यापारों को नहीं भी करता हुआ यदि छेदन भेदन आदि कर्म जहाँ हो रहे हैं वहाँ बैठा है तो अवश्य धूलि से धूसरित हो जाता है उसीप्रकार क्रोध आदि कषायों से युक्त चित्त का धारक जीव समस्त आरंभ से रहित भी यदि कर्मों के–मन वचन काय के शुभाशुभ व्यापारों के मध्य में स्थित है तो उसके अवश्य पाप बंध होता है।

भावार्थ–जिस प्रकार छेदन भेदन आदि व्यापार करो या न करो केवल तेल आदि की चिकनाई ही धूलि के लिपटने में कारण है उसी प्रकार आरंभ करो या न करो राग द्वेष क्रोध मान आदि ही पाप बंध में कारण हैं–बिना राग और द्वेष के पाप बंध नहीं हो सकता।।७-८।।

मरणं जीवनं दुःखं, सौख्यं रक्षा निपीडनं।
जातु कर्तु-ममूर्तस्य, चेतनस्य न शक्यते।।९।।
जीव चेतना रहित अमूर्तिक, नहीं मार सकता कोई।
न ही जीवन सुख दुख रक्षा, त्रासादि न दे सोई।।९।।
बिदधानः परीणामं, मारणादि गतं परं।
बध्नाति विविधं कर्म, मिथ्यादृष्टिर्-निरंतरं।।१०।।

---

१. यह बात जहणाम कोवि पुरुषो २५५ इस गाथा से लेकर एवं मिच्छादिट्ठी २५९। गाथा तक समयसार प्राभृत में विस्तार से वर्णन की गई है।

तो भी मिथ्यात्वी भ्रांतीवश, जीवमरे या जिलाए जान।
इत्यादिक परिणामों द्वारा, कर्म बंध करता है मान।।१०।।

अर्थ–यद्यपि यह चेतन-आत्म अमूर्तिक है-रूपादि मूर्तियों से रहित है इसलिये न कोई पुरुष इसे मार सकता है न जिला सकता है न सुख दु:ख रक्षा और त्रास ही दे सकता है। परंतु तो भी मिथ्यादृष्टि जीव भ्रांत हो 'मैं जीव को मारता हूं जिलाता हूं' इत्यादि परिणामों को करता हुआ निरंतर अनेक प्रकार के कर्मों का बंध बांधा करता है ।।९-१०।।

कर्मणा निर्मितं सर्वं, मारणादिक-मात्मनः।
कर्मावितरतान्येन, कर्तुं हर्तुं न शक्यते।।११।।
जीवन मरण आदि बातें सब, कर्म जनित कर्मों का दान।
देने वाला नहीं जिलाए, ना ही मार सके यह मान।।११।।

अर्थ–मारना जिलाना आदि जितनी बाते हैं वे सब कर्म से निर्मित हैं–उनकी उत्पत्ति में कारण कर्म है तथा कर्म का देने वाला कोई है नहीं इसलिये न कोई जीव को जिला सकता है और न कोई उसकी हानि कर सकता है।

भावार्थ–निश्चयनय से यद्यपि यह आत्मा-चेतन, रूप आदि मूर्ति से रहित अमूर्तिक है इसलिये जिस प्रकार आकाश में तलवार फैंकने से वह कटता नहीं उसी प्रकार न कभी यह आत्मा मरता है, न जीता है, न इसे दु:ख भोगना पड़ता है न इसकी रक्षा होती है और न पीड़ा ही इसे सहन करनी पड़ती है। तो भी लोक में जो अमुक जीव मरता है अमुक जीता है अमुक सुख दु:ख भोगता है इत्यादि व्यवहार है वह संसारी आत्मा के शरीर के संबंध से कर्म से उत्पन्न है–कर्म के द्वारा व्यवहारनय से जीव मरता आदि है एवं कर्म को कोई देता नहीं इसलिये एक व्यक्ति दूसरे का मारना आदि नहीं कर सकता परंतु यह आत्मा इतना मूढ़ बन रहा है कि यह यही समझता है कि मैं ही दूसरे को मारता जिलाता आदि हूँ इसलिये मारते समय इसके परिणामों में राग द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है और उनसे प्रतिसमय इस मूढ़ जीव के कर्मों का बंध हुआ करता है जो अनन्त संसार में भ्रमण का कारण होता है।।११।।

या जीवयामि जीव्येहं मार्येहं, मारयाम्यहं।
निपीड्येहं निपीडये, सा बुद्धिर्मोहकल्पिता।।१२।।
पर से जीता और जिलाता, मारा जाता मरता जान।
पीड़ित हो या पीड़ा देता, मोह के कारण कहता मान।।१२।।

अर्थ—मैं दूसरे को जिलाता हूँ वा मैं दूसरे से जिलाया जाता हूँ। मैं दूसरे को मारता हूँ वा दूसरे से मारा जाता हूँ अथवा मैं दूसरे को पीड़ा देता हूँ अथवा मैं दूसरे से पीड़ित होता हूँ आदि जितनी बुद्धियाँ हैं वे सब मोह से हैं–उन सब बुद्धियों की उत्पत्ति में प्रधान कारण मोह है।

भावार्थ—यह बात ऊपर बतला दी जा चुकी है कि चिदानंद स्वरूप अमूर्तिक आत्मा में मरना मारना आदि कार्य नहीं होते परंतु यह मूढ़ जीव मोह के ऐसे गाढ़ नशे में मत्त है कि उससे जब यह अपने उपकारी का उपकार करता है उस समय समझता है मैं उसे जिला रहा रहा हूँ। दु:खित होने पर जब दूसरों से उपकृत होता है उस समय समझता है मैं दूसरे से जिलाया जा रहूँ। जब किसी के शरीर को शस्त्र लेकर क्रोध से वशीभूत होकर खण्ड-खण्ड करना चाहता है उस समय समझता है मैं दूसरे को मार रहा हूँ और जब दूसरा इसके शरीर को खण्ड-खण्ड करना चाहता है उस समय समझता है मैं दूसरे से मारा जा रहा हूँ। तथा जब दूसरों को कुछ दु:ख पहुँचाता है तब समझता है मैं दूसरे को दु:खी बना रहा हूँ और जब दूसरों से दु:खित किया जाता है उस समय समझता है मैं दु:खी किया जा रहा हूँ किन्तु जिस समय इसका मोह सर्वथा नष्ट हो जाता है और यह इस बात को समझने लग जाता है कि मैं चिदानन्द चैतन्य स्वरूप हूँ मेरी या दूसरे की आत्मा में जो कुछ भी विकार होता है वह सब ज्ञानावरणादि कर्मों की अपेक्षा से है उस समय इसकी आत्मा में उपर्युक्त कैसा भी विकल्प नहीं होता।।१२।। तथा–

कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति, नोपकारापकारयोः।
उपकुर्वेऽपकुर्वेऽहं, मिथ्येति क्रियते मतिः।।१३।।
सहकारितया द्रव्यमन्येनान्यद्-विधीयते।
क्रियमाणोऽन्यथा सर्वः, संकल्पः कर्मबंधजः।।१४।।

कोई किसी का भला बुरा न, कर सकता ये बुद्धीवान।
मिथ्यावादी है वह सुख दुख, पावे कोई प्राणी मान।।१३।।
अन्य कोई सहकारी कारण, हो जाता ऐसा पहिचान।
किन्तू सुख दुख जन्म मरण के, हो संकल्प कर्म से मान।।१४।।

अर्थ—इस संसार में कोई जीव किसी अन्य जीव का उपकार अपकार-भला बुरा नहीं कर सकता इसलिये मैं दूसरे का उपकार वा अपकार करता हूँ यह बुद्धि मिथ्या है परंतु हाँ जिस समय दूसरे को सुख दु:ख आदि होता है उस समय दूसरा जीव उसके सुख दु:ख में सहकारी कारण

अवश्य हो जाता है तथा जो कुछ विपरीत सुख दु:ख जीने मरने आदि के संकल्प होते हैं वे कर्म बन्ध से ही है।

भावार्थ—जिस प्रकार घड़ा, और वस्त्र आदि में कुम्भकार चाक वा चीवर वेगा आदि तो सहकारी कारण हैं। और प्रधान कारण मिट्टी और तन्तु आदि ही हैं उसी प्रकार जीव के जो सुख दु:ख जीना मरना आदि कार्य होते हैं उनकी उत्पत्ति में प्रधान कारण तो कर्म ही है परंतु एक जीव का दूसरा जीव सहकारी कारण है इसलिये जो पुरुष यह विचारता है कि मैं दूसरे का उपकार या अपकार करता हूँ यह उसका विचार सर्वथा मिथ्या है—वह किसी का उपकार अपकार नहीं कर सकता। उपकार अपकार का करने वाला तो कर्म ही है।।१३-१४।।

चारित्रं दर्शनं ज्ञानं, मिथ्यात्वेन मलीमसं।
कर्पटं कर्दमेनेव, क्रियते निज संगतः।।१५।।
स्वच्छ स्वर्ण को कीचड़ जैसे, करता क्षण में उसे मलीन।
दर्शन ज्ञानाचरण भी वैसे, मिथ्यातम से होय मलीन।।१५।।

अर्थ—जिस प्रकार कीचड़ अपने संसर्ग से स्वच्छ सुवर्ण को भी मलिन कर देता है उसी प्रकार चारित्र, दर्शन और ज्ञान भी मिथ्यात्व से मलिन हो जाते हैं।

भावार्थ—यदि देखा जाय तो सुवर्ण स्वभाव से स्वच्छ है परन्तु जिस समय उस पर कीचड़ आकर लिपट जाती है उस समय उसकी स्वच्छता ढक जाती है और वह मलिन हो जाता है उसी प्रकार चारित्र दर्शन और ज्ञान ये आत्मा के स्वाभाविक गुण निष्कलंक हैं किन्तु जिस समय इनके साथ मिथ्यात्व का संबंध हो जाता है उस समय ये मलिन हो जाते हैं और इनका नाम मिथ्याचारित्र मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पड़ जाता है।

चारित्रादित्रयं दोषं, स्वीकरोति मलीमसं।
न पुनर्निर्मलीभूतं, सुवर्ण-मिव तत्त्वतः।।१६।।
मिथ्यादर्शन ज्ञान चारितमय, मलिन दोष करता स्वीकार
किन्तू स्वर्ण सम दर्शनादि गुण, करता नहीं है अंगीकार।।१६।।

अर्थ—यह मूढ़ात्मा मिथ्याचारित्र, मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानरूप मलिन दोषों को तो स्वीकार करता है परंतु सुवर्ण के समान निर्मल सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानस्वरूप निर्मल गुणों को वास्तविक रीति से स्वीकार नहीं करता।

भावार्थ—जिसप्रकार सोलह बार का तपा हुआ सोना निर्मल होता है उसी प्रकार सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मा के गुण निर्मल हैं परंतु यह जीव इतना मोही हो गया है कि सम्यक्चारित्र आदि की ओर तो कुछ भी ध्यान नहीं देता और मिथ्याचारित्र आदि दोषों को स्वीकार करता है जो विशद संसार में भ्रमण का कारण है।।१६।।

नीरागोऽप्रासुकं द्रव्यं, भुजानोऽपि न बध्यते।
शंखः किं जायते कृष्णः, कर्दमादौ चरन्नपि।।१७।।
शंख ना काला हो कीचड़ से, त्यों अप्रासुक द्रव्यों वान।
रागादिक विरहित प्राणी को, कर्म बंध न होवे मान।।१७।।

अर्थ—जिस प्रकार कीचड़ आदि मलिन पदार्थों में पड़ा हुआ भी शंख काला नहीं होता उसी प्रकार अप्रासुक द्रव्यों को खाता हुआ भी यह जीव यदि नीराग-राग द्वेष आदि से रहित है तो उसके कर्मबंध नहीं होता।

भावार्थ—शंख का रंग स्वभाव से ही सफेद है चाहे उसे कैसी भी मलिन कीचड़ में क्यों न डाल दो उसका कीचड़ से संबंध नहीं होता वह सफेद का सफेद ही रहता है उसी प्रकार जो आत्मा राग द्वेष आदि से रहित निष्कलंक है यह अप्रासुक द्रव्यों का उपयोग करने पर भी किसी प्रकार के कर्मबंध से बद्ध नहीं होता।।१७।।

सरागो बध्यते पापै, र्-भुंजानोऽपि निश्चितं।
अभुंजाना न किं मत्स्या श्वभ्रे यांति कषायतः।।१८।।
अन्य कोई मछली न खाये, वह कषाय वश नरकों जाय।
त्यों अप्रासुक द्रव्य न खाके, राग से कर्म बंध को पाय।।१८।।

अर्थ—जिसप्रकार दूसरी मछलियों के न भी खाने वाले मत्स्य केवल कषाय के द्वारा नरक में जाते हैं उसी प्रकार अप्रासुक द्रव्यों के न भी खाने वाले मनुष्य यदि उनके खाने के लालसी-रागी हैं तो अवश्य कर्मों से बाँधे जाते हैं।

भावार्थ—स्वयंभूरमण समुद्र का महामत्स्य जिस समय सोता है उस समय उसका मुँह खुल जाता है और उसमें बहुत से छोटे-छोटे मत्स्य क्रीड़ा करते फिरते हैं। उनको देखकर शालिसिक्थ आदि मत्स्य जो कि उसके कान आदि स्थानों पर रहते हैं वे मन ही मन यह विचारा करते हैं कि यह मत्स्य कैसा मूर्ख है। यह क्यों नहीं मुँह बंद करता जिससे सब मत्स्य इसके पेट में चले जाँये,

यदि हमें ऐसा अवसर मिलता है तो हम सबको गटक जाते। बस! इसी कषाय से उन्हें नरक जाना पड़ता है इसी आशय को लेकर ग्रंथकार ने यहां यह बात बतलाई है कि छोटे मत्स्यों को न भी खाने वाले केवल उनकी लालसा से प्रेरित शालिसिक्थ आदि मत्स्य जिस प्रकार कषाय से नरक जाते हैं उसी प्रकार अप्रासुक द्रव्यों के न भी खाने वाले किंतु उनमें लालसा रखने वाले मनुष्य को राग के उदय से अवश्य कर्मबंध होता है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे राग को सर्वथा छोड़ दें और विशद वीतराग भाव को धारण करें।।१८।।

ज्ञानी विषयसंगेऽपि, विषयैर्नैव लिप्यते।
कनकं मलमध्येऽपि, न मलै-रुपलिप्यते।।१९।।
स्वर्णलिप्त ना हो कीचड़ में, गिरकर भी ज्ञानी पहिचान।
विषय भोग करके विषयों में, लिप्त नहीं होता है मान।।१९।।

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्ण कीचड़ में पड़ा हुआ भी कीचड़ से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी विषय भोग करता हुआ भी विषयों में लिप्त नहीं होता।

भावार्थ—सुवर्ण का कीचड़ आदि स्वरूप नहीं उसका स्वभाव चमकदार (चाकचिक्य) आदि है इसलिये जिस प्रकार कीचड़ से वह लिप्त नहीं होता उसीप्रकार ज्ञानी भी विषयों से लिप्त नहीं होता क्योंकि वह समझता है कि विषय मेरे स्वरूप नहीं, ये कर्म जनित उपाधियाँ हैं परन्तु मैं असमर्थता के कारण सेवन करता हूँ।।१९।।

आहारादिभि-रन्येन, कारितैर्-मोदितैः कृतैः।
तदर्थं बध्यते योगी, नीरागो न कदाचन।।२०।।
पर कोई आहार कराए, करे या हो अनुदमोदन वान।
कर्म बंध होता है उसको, राग रहित के बंध न मान।।२०।।

अर्थ—जो योगी अपने लिये दूसरे से आहार आदि कराता है वा करते हुये की 'वाह! बहुत अच्छा करते हो' ऐसी अनुमोदना करता है अथवा स्वयं बनाता है उसके कर्मों का बंध होता है परंतु जो योगी रागरहित है आहार आदि को न कराता न करता और न उसकी अनुमोदना करता है उसके कर्मों का बंध नहीं होता।

भावार्थ—जो मनुष्य समस्त परिग्रहों को त्यागकर दिगंबर मुनि हो जाते हैं उन्हें संयम के साधन शरीर की स्थिरता के लिये आहार आदि करना पड़ता है परंतु वे उसमें निस्पृह रहते हैं

इसलिये उन्हें आहारादि कार्यों में होने वाली हिंसा का पाप नहीं लगता है। यदि उनका भोजन आदि में राग होगा तो अवश्य उनके पाप बंध होगा यही बात इस श्लोक से ग्रंथकार ने यहाँ बतलाई है कि जो योगी राग के वशीभूत हो दूसरों से आहार आदि कराते हैं करते हुये की अनुमोदना करते हैं वा स्वयं बनाते हैं उनके अवश्य पाप का बंध होता है किंतु जिनका आहारादि में राग नहीं इसलिये न दूसरों से कराते हैं न अनुमोदना करते हैं और न स्वयं बनाते हैं उनके पापबंध नहीं होता वे शुष्क (सूखे) वस्त्र पर पड़ने वाली धूलवत्, अबन्ध रहते हैं।।२०।।

परद्रव्यैर्गतैर्दोषैर्-नीरागो यदि बध्यते।
तदानीं जायते शुद्धिः, कस्य कुत्र कुतः कदा।।२१।।
राग रहित को पर पदार्थ के, दोषों का यदि बंधन होय।
तो फिर कैसे कहाँ किस समय, किसी की शुद्धि होवे सोय।।२१।।

अर्थ—जो पुरुष नीराग-राग से रहित है यदि वह भी परपदार्थ के दोषों से बंध को प्राप्त होगा तब कहाँ, किस समय, कैसे, और किस मनुष्य की शुद्धि होगी?

भावार्थ—यह नियम है कि जो मनुष्य दोषों को करता है उसी के उन दोषों के निमित्त से कर्म बंध होता है किंतु यह ज्ञात नहीं हो सकता कि दोष करे दूसरा और कर्म से बंधे दूसरा। यदि यह भी विपरीत नियम स्वीकार कर लिया जायेगा कि दूसरे के दोष करने पर दूसरा भी बँध जाता है तब कहीं किसी काल में कोई शुद्ध ही न कहा जा सकेगा तथा इस रीति से जो सिद्ध शिला में विराजमान सिद्ध परमात्मा हैं वे भी दोषी मानने पड़ेंगे क्योंकि उक्त नियम के स्वीकार करने पर हमारे दोषों से वे भी अवश्य दोषी होंगे इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि रागों के सद्भाव में होने वाले कर्मबंध से रागों के अभाव में आत्मा बद्ध नहीं हो सकती।।२१।।

नीरागो विषयं योगी, बुध्यमानो न बध्यते।
परया बध्यते किं न, केवली विश्व वेदकः।।२२।।
राग रहित योगी विषयों को, ज्ञानी कर्म बंध न पाय।
विषय ज्ञान से बंध होय तो, विश्ववेदी केवलि बँध जाय।।२२।।

अर्थ—तथा नीराग-राग से रहित योगी विषयों को जानता हुआ भी कर्मबंध को प्राप्त नहीं होता यदि विषयों के, ज्ञाता के भी कर्मबंध हो जायेगा तो केवली के भी विषयज्ञान से कर्मबंध होना चाहिये क्योंकि वे विश्ववेदी-समस्त पदार्थों के जानकार हैं।

भावार्थ–विषयों का ज्ञान कर्मबंध में कारण नहीं है क्योंकि विरागी पुरुष विषयों का ज्ञानी होकर भी उनका सेवन नहीं करता इसलिये उसके कर्मबंध नहीं होता। यदि यह मान लिया जायेगा कि विषयों के ज्ञान से भी कर्मबंध होता है तो केवली भगवान के भी विषयजन्य कर्मबंध स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि केवली सर्व पदार्थों के ज्ञाता होते हैं इसलिये मानना पड़ेगा विषयों का ज्ञान कर्मबंध में कारण नहीं उनके भोगने की लालसा ही कर्मबंध में कारण है।।२२।।

ज्ञानिना सकलं द्रव्यं, ज्ञायते वेद्यते न च।
अज्ञानिना पुनः सर्वं, वेद्यते ज्ञायते न च।।२३।।
यथावस्तुपरिज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते।
रागद्वेषमदक्रोधैः, सहितं वेदनं पुनः।।२४।।
ज्ञानी जाने स्व पदार्थ को, किन्तू अनुभव करें नहीं।
अज्ञानी अनुभव करता सब, किंतू होवे ज्ञान नहीं।।२३।।
मानव ज्ञानवान वस्तु जो, जैसी है उस रूप हो ज्ञान।
राग-द्वेष मद क्रोधादिक का, करना है अनुभव यह मान।।२४।।

अर्थ–जो मनुष्य ज्ञानी है–स्वपर पदार्थों का यथार्थ ज्ञान रखता है वह सब पदार्थों को जानता ही है अनुभव नहीं करता, किंतु जो पुरुष अज्ञानी है -स्वपर का जरा भी भेद नहीं जानता वह समस्त पदार्थों का अनुभव करता है उन्हें पूर्णरूप से जानता नहीं क्योंकि जो मनुष्य ज्ञानवान हैं उन्होंने जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप से जानना ज्ञान कहा है और उनमें राग द्वेष मद और क्रोध आदि करना अनुभव बतलाया है।

भावार्थ–यदि कोई ऐसी शंका करे कि जो ज्ञानी होता है वह अनुभवी भी होता है इसलिये उसके भी कर्मबंध होना चाहिये उसका समाधान यहाँ ग्रंथकार ने किया है कि जो मनुष्य ज्ञानी होता है वह केवल समस्त द्रव्यों के स्वरूप को जानता ही है, विषय आदि निकृष्ट पदार्थों को अकल्याणकारी जान उनका सेवन नहीं करता किन्तु जो अज्ञानी है उसे हेय उपादेय के ज्ञान के अभाव से पदार्थों का वास्तविक ज्ञान नहीं होता इसलिये वह सब बात का अनुभव करता है क्योंकि जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना सम्यग्ज्ञान है और उनमें राग द्वेष अहंकार क्रोध आदि करना वेदन है। ज्ञानी जो जैसा है उसे वैसा ही जानता है राग द्वेष आदि नहीं करता इसलिये उसके कर्मबंध नहीं होता और अज्ञानी उनमें राग द्वेष आदि करता है और उनके असली स्वरूप को नहीं समझता

इसलिये उसके कर्मबंध अवश्य होता है।।२३-२४।।

नाज्ञाने ज्ञानपर्यायाः, ज्ञाने नाज्ञान पर्ययाः।
न लोहे स्वर्णपर्याया, न स्वर्णे लोहपर्ययाः।।२५।।
ज्यों लोहे में स्वर्ण की एवं, स्वर्ण में लोह पर्याय नहीं।
त्यों अज्ञान में ज्ञान ज्ञानी में, हो अज्ञान पर्याय नहीं।।२५।।

अर्थ—जिसप्रकार लोहे में सोने की पर्यायें और सोने में लोहे की पर्यायें नहीं होती उसी प्रकार अज्ञान में ज्ञान की पर्यायें और ज्ञान में अज्ञान की पर्यायें नहीं होती।

भावार्थ—पर्याय पर्यायी का निश्चयनय से अभेद संबंध है जो एक पदार्थ की पर्याय हैं वे दूसरे पदार्थ की कभी नहीं हो सकती–कढ़ाई करछी आदि लोहे की पर्याय हैं, कड़ा कुंडल आदि सुवर्ण की पर्याय हैं तथा मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि सम्यग्ज्ञान की पर्याय हैं और कुमति कुश्रुति आदि अज्ञान की पर्याय हैं तो जिस प्रकार लोहे में सुवर्ण की पर्याय नहीं रहतीं और सुवर्ण में लोहे की पर्याय नहीं रहतीं उसी प्रकार अज्ञान में ज्ञान की पर्याय नहीं रह सकतीं और ज्ञान में अज्ञान की पर्याय नहीं रह सकतीं किन्तु जिस प्रकार लोह की पर्याय लोहे में ही और सुवर्ण की सुवर्ण में ही रहती हैं उसी प्रकार ज्ञान की पर्याय ज्ञान में ही और अज्ञान की पर्याय अज्ञान में ही रहती हैं इसलिये अज्ञान से होने वाला कर्मबंध सम्यग्ज्ञान के होने से नहीं हो सकता।।२५।।

ज्ञानीति ज्ञानपर्यायी, कल्मषानामबंधकः।
अज्ञश्चाज्ञानपर्यायी, तेषां भवति बंधकः।।२६।।
ज्ञानी ज्ञान की पर्यायों धर, के पापों का बंध नहीं।
किंतू ज्ञानाज्ञान पर्यायी, के हो पाप का बंध सही।।२६।।

अर्थ—ज्ञानवान पुरुष ज्ञान की पर्यायों का धारक है इसलिये उसके पापों का बंध नहीं होता और जो मनुष्य अज्ञानी वा अज्ञानस्वरूप पर्यायों का धारक है उसके पापों का बंध होता है।

भावार्थ—यह बात पहिले भी कह दी जा चुकी है कि पापबंध में कारण ज्ञान नहीं अज्ञान है इसलिये अज्ञानी के ही पापबंध होता है ज्ञानी के नहीं।।२६।।

दीयमानं सुखं दुःखं, कर्मणा पाक-मीयुषा।
ज्ञानी वेत्ति परो भुंक्ते, बंधकाबंधकौ ततः।।२७।।

कर्मोदय से सुख दुख फल दें, ज्ञानी जाने न अनुभव पाय।
अज्ञानी अनुभव कर सुखदुख, पावें अतः बंध हो जाय।।२७।।

अर्थ—जिस समय कर्म उदय में आते हैं और सुख दु:खरूप फल को देते हैं उस समय ज्ञानी मनुष्य उनके स्वरूप को जानता है अनुभव नहीं करता परंतु अज्ञानी उनका अनुभव करता है—सुखी दुखी होता है इसलिये अज्ञानी के तो कर्मबंध होता है और ज्ञानी के नहीं।

भावार्थ—सुख दुख आदि कर्मों के फल हैं। जिस समय ज्ञानी के कर्म उदय में आते हैं सुख दुख आदि देते हैं उस समय ज्ञानी मनुष्य यह समझकर कि ''सुख दुख देना कर्मों का स्वभाव है—सदा ये सुख दुख दिया ही करते हैं तथा ये सुख दुख शरीर को होते हैं और शरीर जड़ एवं मुझसे भिन्न है। मैं तो चिदानंद चैतन्यस्वरूप हूँ। मुझे सुख दुख नहीं हो सकता'' सुखी दुखी नहीं होता। परंतु अज्ञानी जीव शरीर को अपना मानता है इसलिये जब उसके कर्मों का उदय होता है और जब वे सुख दुख देते हैं उस समय वह सुखी दुखी होने लगता है इसलिये ज्ञानवान होने से रागादि परिणामों के अभाव में ज्ञानी के कर्मबंध नहीं होता और अज्ञानी के अज्ञान से कषाय- रूपपरिणाम होने के कारण कर्मबंध होता है।।२७।।

कर्म गृह्णाति संसारी, कषायपरिणामतः।
सुगतिं दुर्गतिं याति, जीवः कर्मविपाकतः।।२८।।
कर्म ग्रहण करता संसारी, जीव कषाय करके परिणाम।
कर्मों का फल पाय शुभाशुभ, दुर्गति सुगति का पावे धाम।।२८।।

अर्थ—यह संसारी जीव क्रोध आदि कषायरूप परिणामों से कर्मों का ग्रहण करता है और जिस समय कर्मों का विपाक शुभ किं वा अशुभ होता है उस समय वह शुभ से शुभगति और अशुभ से अशुभगति को जाता है।

भावार्थ—गति मनुष्य आदि के भेद से चार तरह की है उसमें जो उत्तम है उसका नाम सुगति और जो हीन है उसका नाम दुर्गति है तथा शुभ कर्म से सुगति की प्राप्ति और अशुभ कर्म से दुर्गति की प्राप्ति होती है। यह संसारी जीव सदा क्रोधादि कषाय और राग आदि से कलुषित रहता है इसलिये सदा इसके कर्मों का ग्रहण हुआ करता है और उससे इसे शुभ किंवा अशुभ गति की प्राप्ति होती है।।२८।।

सुगतिं दुर्गतिं प्राप्तः, स्वीकरोति कलेवरं।
तत्रेंद्रियाणि जायंते, गृह्णाति विषयांस्ततः।।२९।।

जब यह जीव सुगति दुर्गति में, जाए तव नव पाए शरीर।
जिससे इंद्रिय विषय ग्रहण कर, राग द्वेष करता है धीर।।२९।।

ततो भवंति रागाद्यास्-तेभ्यो दुरितसंग्रहः।
तस्माद् भ्रमति संसारे, ततो दुःखमनेकधा।।३०।।

रागादिक से पाप का संचय, पाप से हो संसार भ्रमण।
जिससे दुःख भोगने पड़ते, अतः सुबुद्धीमान श्रमण।।३०।।

दुःखतो बिभ्यता त्याज्याः, कषाया ज्ञानशालिना।
ततो दुरितविच्छेदस्-ततो निर्वृतिसंगमः।।३१।।

दुःखों से भयभीत कषायें, करें सर्वथा जो परिहार।
जिससे पाप नाश पापों के, नाश से मोक्ष होय अविकार।।३१।।

अर्थ—जिस समय यह जीव सुगति दुर्गति में जाता है उस समय वहां इसके शरीर उत्पन्न होता है। शरीर में इंद्रियों की उत्पत्ति और उनसे विषयों को ग्रहण करता है। विषयों से राग द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है। राग आदि से पापों का सञ्चय, पापों से संसार में घूमना और फिर अनेक प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं इसलिये जो मनुष्य ज्ञानवान हैं और दु:खों से भय करते हैं उन्हें कषायों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये क्योंकि कषायों से पाप का नाश और पापों के नाश से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—यहाँ पर ग्रंथकार ने यह बात बतलाई है कि यदि आत्मा को हानि पहुँचाते हैं तो कषाय पहुँचाते हैं और यदि उसे कल्याण की प्राप्ति होती है तो कषायों के अभाव से ही होती है। क्योंकि आयु बाँधते समय जैसे इस जीव के कषाय विद्यमान रहते हैं उनके अनुसार ही इसे नरक आदि गतियों की प्राप्ति होती है। सुगति वा दुर्गति में इसको नवीन शरीर धारण करना पड़ता है शरीर के साथ इंद्रियों की उत्पत्ति होती है। इंद्रियों के द्वारा यह इष्ट अनिष्ट विषयों को ग्रहण करता है। विषयों के ग्रहण से इसकी आत्मा में राग द्वेष आदि कषायों की उत्पत्ति होती है उनसे पापों का संचय और पापों से संसार में घूमना पड़ता है तथा वहाँ नाना प्रकार के क्लेश भोगने पड़ते हैं इसलिये संसार की दशा से भयभीत जो ज्ञानवान पुरुष कषायों का सर्वथा त्याग कर देता है—राग द्वेष क्रोध आदि को अपने पास भी नहीं फटकने देता उसके कर्मों का नाश हो जाता है और जिस समय वह समस्त कर्मों का नाश कर देता है उस समय उसके परम पावन मोक्ष धाम की प्राप्ति होती है और

वहां वह निराकुलतामय सुख का अनंत काल तक आस्वादन करता है।।२९-३०-३१।।

संति रागादयो यस्य, सचित्ताचित्त वस्तुषु।
प्रशस्तो वाऽप्रशस्तो वा, परिणामोऽस्य जायते।।३२।।
राग द्वेष सचित्त चित्त में, होंय शुभाशुभ तब परिणाम।
शुभ परिणाम से पुण्य पाप हो, करके कभी अशुभ परिणाम।।३२।।
प्रशस्तो भण्यते तत्र, पुण्यं पापं पुनः परः।
द्वयं पौद्गलिकं मूर्तं, सुखदुःख वितारकं।।३३।।
दोनों पुद्गल के विकार हैं, मूर्तिक सुख दुख कारी जान।
पुण्यपाप से सुखदुखप्राणी, पाते हैं कहते भगवान।।३३।।

अर्थ—जिस मनुष्य के सचित्त वा अचित्त पदार्थों में राग द्वेष आदि होते हैं उसके प्रशस्त वा अप्रशस्त परिणाम होते हैं। उनमें प्रशस्त परिणामों का नाम पुण्य है और अप्रशस्त परिणामों को पाप कहते हैं। ये दोनों ही पुण्य और पाप पौद्गलिक हैं पुद्गल के विकार हैं इसलिये मूर्तिक हैं और सुख दुःख देने वाले हैं अर्थात् पुण्य और पाप के निमित्त से जीवों को सुख दुःख भोगना पड़ता है।

भावार्थ—संसारी जीवों का यह एक प्रकार का स्वभाव सरीखा पड़ रहा है कि वे पुत्र मित्र स्त्री आदि सचित्त पदार्थों में वा उत्तम वस्त्र सुवर्ण धन आदि अचित्त पदार्थों में राग करते हैं और शत्रु सर्प आदि वा कांटा कंकड़ आदि पदार्थों में द्वेष करते हैं इसका परिणाम यह होता है कि इनके राग और द्वेष के निमित्त से पुण्य और पापों का बंध होता है और उनसे चिरकाल तक ये सुख दुःख का भोग करते हुये इस संसार में रुलते रहते हैं।

मूर्त्तो भवति भुंजानः, सुख दुःख फलं तयोः।
मूर्त कर्मफलं मूर्तं, नामूर्तेन हि भुज्यते।।३४।।
सुख दुख के फल भोग समय पर, हो जाए यह आतममूर्त।
क्योंकि मूर्त का फल ना पाए, निश्चय से जो होय अमूर्त।।३४।।

अर्थ—जिस समय यह आत्मा पुण्य और पाप के सुख दुःखरूप फल का भोग करता है उस समय यह अमूर्त रहने पर भी मूर्त हो जाता है क्योंकि मूर्तिक कर्म का फल भी मूर्तिक होता है

और अमूर्त, मूर्तफल को भोग नहीं सकता।

भावार्थ–ऊपर कह दिया गया है कि कर्म पुद्गल हैं इसलिये रूप रस आदि मूर्तियों के धारक होने से वे मूर्त हैं तथा जिनका उपादान कारण जैसा होता है वे कार्य भी वैसे ही होते हैं। सुख दु:ख के उपादान कारण मूर्तिक कर्म हैं इसलिये सुख दु:खरूप फल भी मूर्तिक हैं। तथा जो पदार्थ मूर्तिक होता है वही मूर्तिक फल को भोग सकता है अमूर्तिक पदार्थ, मूर्तिक फल का भोग नहीं कर सकता इसलिये यह बात पूर्ण रूप से निश्चित है कि जिस समय आत्मा मूर्तिक कर्म के फल सुख दु:ख का उपभोग करता है अर्थात् जब तक संसारी रहता है तब तक कथंचित् मूर्तिक भी रहता है।।३४।। तथा–

मूर्त्तो भवत्यमूर्तोऽपि, पुण्यपाप वशीकृतः।
यदा विमुच्यते ताभ्या-ममूर्तोऽस्ति तदा पुनः।।३५।।
है अमूर्त जिय पुण्य पाप से, होय मूर्त इसका व्यापार।
पुण्य पाप विरहित होवे तो, हो अमूर्त स्वभाव अनुसार।।३५।।

अर्थ–अमूर्त भी यह आत्मा जब तक पुण्य पाप के आधीन रहता है तब तक मूर्त बना रहता है किन्तु जिस समय यह पुण्य और पापों से सर्वथा रहित हो जाता है उस समय फिर यह वैसा का वैसा ही अमूर्त हो जाता है।।३५।। क्योंकि–

विकारं नीयमानोऽपि, कर्मभिः स विकारिभिः।
मेघैरिव नभो याति, स्वस्वभावं तदत्यये।।३६।।
मेघों से ज्यों नभ आवृत हो, मेघ नशे हो निज स्वरूप।
त्यों कर्माव्रत हो सविकारी, कर्म नाश से हो निजरूप।।३६।।

अर्थ–जिस प्रकार विकार करने वाले मेघों से विकृत बना हुआ आकाश मेघों के नष्ट होने पर फिर अपने स्वभाव को धारण कर लेता है–ज्यों का त्यों स्वच्छ अमूर्तिक हो जाता है उसी प्रकार विकार करने वाले कर्मों से विकृत भी यह आत्मा कर्मों के नष्ट हो जाने पर फिर अपने स्वभाव को धारण कर लेता है–ज्यों का त्यों अमूर्तिक हो जाता है।

भावार्थ–यदि देखा जाय तो आकाश स्वभाव से स्वच्छ अमूर्तिक है परन्तु जिस समय उसके साथ मेघों का संबंध हो जाता है उस समय तो वह विकृत हो जाता है और जब मेघों का

नाश हो जाता है उस समय फिर ज्यों का त्यों स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार चिदानंद चैतन्य स्वरूप का धारक यह आत्मा भी स्वभाव से अमूर्तिक है परंतु जिस समय इसके साथ कर्मों का संबंध हो जाता है उस समय इसका असली स्वभाव ढक जाता है और यह मूर्तिक हो जाता है किन्तु जिस समय कर्मों का संबंध नष्ट हो जाता है उस समय इसका असली स्वभाव प्रकट हो जाता है और यह अमूर्तिक हो जाता है।।३६।। तथा–

अर्हदादौ परा भक्तिः, कारुण्यं सर्व जंतुषु।
पावने चरणे रागः, पुण्यबंध निबंधनं।।३७।।
अर्हदादि में भक्ती एवं, जीवों में हो करुणावान।
सच्चारित में प्रीति करके, पुण्य बंध हो अतिशयवान।।३७।।
निंदकत्वं प्रतीक्ष्येषु, नैर्घृण्यं सर्वजंतुषु।
निंदिते चरणे रागः, पापबंध विधायकः।।३८।।
परमेष्ठी की निंदा जीवों, में निर्दय हो दुष्चारित्र।
दुष्चारित में रुचि होने से, पाप बंध होता हे मित्र!।।३८।।

अर्थ–अर्हंत सिद्ध आदि पांचों परमेष्ठियों में भक्ति, समस्त जीवों पर करुणा और पवित्र चारित्र में प्रीति करने से तो पुण्य बंध होता है तथा अर्हंत आदि पूज्य पुरुषों की निंदा करना समस्तजीवों में निर्दयभाव रखना और निंदित आचरणों में प्रेम रखना आदि पाप बंध का कारण है।

भावार्थ–अच्छे कार्यों के करने से पुण्यबंध और बुरे कार्यों के करने से पापबंध होता है। अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुओं में भक्तिभाव रखना समस्त जीवों में दयाभाव और पवित्र चारित्र में प्रेम, आदि अच्छे कार्य हैं तथा पूज्य पुरुषों की निंदा करना सब जीवों में निर्दयभाव रखना और निन्दित आचरणों में प्रेम रखना आदि बुरे कार्य है।।३७-३८।।

सुखदुःखविधानेन, विशेषः पुण्यपापयोः।
नित्यं सौख्य-मपश्यद्-भिर्-मन्यते मुग्धबुद्धिभिः।।३९।।
मूढ़ बुद्धि सुख ज्ञान रहित जो, पुण्य पाप में माने भेद।
सौख्य पुण्य से उत्तम माने, पाप से दुख हो माने खेद।।३९।।

पश्यंतो जन्मकांतारे प्रवेशं पुण्यपापतः।
विशेषं प्रतिपद्यंते, न तयोः शुद्धबुद्धयः।।४०।।
शुद्ध बुद्धिधर पुण्य पाप को, भव के भ्रमण का कारण जान।
दोनों ही दुख दायी माने, होय निराकुलता युत मान।।४०।।

अर्थ—जो पुरुष मूढ़बुद्धि हैं और निराकुलतामय अविनाशी सुख के ज्ञान से वंचित हैं वे तो सुख दुःख रूप कार्य के भेद से पुण्य और पाप में विशेष मानते हैं अर्थात् वे यह समझते हैं कि पुण्य से सुख मिलता है इसलिये पुण्य उत्तम है और पापों से दुःख होता है इसलिये पाप बुरे हैं परंतु जो मनुष्य शुद्धबुद्धि के धारक हैं और निराकुलतामय अविनाशी सुख के भले प्रकार ज्ञाता हैं वे यह समझ कर कि पुण्य पाप दोनों से ही संसार में भ्रमण करना पड़ता है उन दोनों को ही दुःखदायी मानते हैं।

भावार्थ—जो सुख निराकुलतामय और अविनाशी हो वह तो वास्तविक सुख है किन्तु जिस सुख में आकुलता हो और जो परिणामों में विनाशीक हो वह सुख नहीं दुःख ही है। यद्यपि पुण्य से संसार में चक्रवर्ती कामदेव तीर्थंकर आदि पदों में उत्तमोत्तम सुख मिलते हैं परंतु वे भी विनाशीक होने से दुःख ही माने गये हैं। खैर! मान भी लिया जाय कि पुण्य से सुख मिलता है तो भी जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब पाप का उदय होता है और उससे नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं एवं अनंतकाल तक संसार में घूमना पड़ता है इसलिये जो पुरुष विद्वान पूर्णरूप से आत्मस्वरूप के जानकार हैं वे यह समझकर कि पुण्य पाप दोनों से ही संसार में घूमना पड़ता है पुण्य को उत्तम और पाप को बुरा नहीं कहते कितु जो मनुष्य भोले भाले हैं—जरा से सुख से सुखी और जरा से दुःख से दुखी हो जाते हैं वे पुण्य से कुछ सुख मिलता देख उसे उत्तम मानते हैं और पाप से दुःख मिलता देख उसे बुरा कहते हैं और आत्मा के स्वरूप को न जानने की कोशिश कर उनको ही प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।।३९-४०।।

विषयसुखतो व्यावृत्य, स्वस्वरूप-मवस्थितस्-
स्त्यजति धिषणां धर्माधर्म प्रबंधनिबंधनीं।
जननगहने दुःख व्याघ्रे प्रवेशपटीयसीं कलिल-
विकलं लब्ध्वात्मानं स गच्छति निर्वृतिं।।४१।।

विरहित विषय सुखों से निश्चल, दुख बाघों युत भव वन मांहि।
भ्रमण कराए पुण्य पापमय, बुद्धी छोड़े ज्ञान जगाएं।।
निष्कलंक कर्मों से विरहित, आत्म स्वरूप करे शुभ प्राप्त।
अविनाशी निर्वाण धाम में, जा पहुँचे बनकर के आप्त।।४१।।

इति श्री अमितगति आचार्यकृत योगसार चतुर्थोऽध्याय समाप्तः।

अर्थ—जो मनुष्य विषयसुख से रहित होकर अपने स्वरूप में निश्चलरूप से स्थित होता है और दुःखरूपी बाध से युक्त संसाररूपी वन में घुमाने वाली पुण्य पाप संबंधी बुद्धि को सर्वथा छोड़ देता है वह समस्त कर्मों से रहित निष्कलंक आत्मस्वरूप को प्राप्त कर अविनाशी निर्वाण धाम में जा विराजता है।

भावार्थ—जब तक मनुष्य विषयसुख से मुख न मोड़ेगा तब तक वह अपने आत्मिक स्वरूप में निश्चलरूप से नहीं हो सकता क्योंकि विषयसुख के सेवन से चित्त में चञ्चलता रहती है और जिस समय परिणाम निश्चल रहते हैं उस समय स्व स्वरूप में स्थिति होती है तथा जब तक मनुष्य स्व रूप में स्थित न होगा तब तक अनंतकाल पर्यंत अनेक प्रकार दुःखों से जटिल संसार में घुमाने वाली पुण्य पाप संबंधी बुद्धि का त्याग न कर सकेगा। जब तक पुण्य पाप संबंधी बुद्धि का नाश न होगा तब तक सदा कर्मों का बंध होता रहेगा और जब तक कर्मों का नाश न होगा तब तक मोक्ष धाम की प्राप्ति न हो सकेगी जो कि जीवों को अचिंत्य शांति प्रदान करने वाली है इसलिये जो मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति के अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे सबसे पहिले अपना मुख विषयों से मोड़ें पश्चात् स्वस्वरूप में स्थित हों, स्वस्वरूप में स्थित होकर पुण्य पाप की वासना को छोड़ें और फिर समस्त कर्मों का नाश कर मोक्षसुख का अनुभव करें।।४१।।

इस प्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित श्री विशदसागराचार्य अनुवादित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रन्थ में बंधाधिकार समाप्त हुआ।।४।।

मुझे वो प्रार्थना मत दो, जिसे तुम सुन नहीं सकते।
मुझे वो आँख मत देना, जिससे तुम दिख नहीं सकते।।
तुम्हारे ही भरोसे पर, मैं दुनियाँ छोड़ आया हूँ।
न ऐसी दो मुझे राहें जहाँ तुम मिल नहीं सकते।।

अथ संवराधिकार ।।५।।

कल्मषागमनद्वार, निरोधः संवरो मतः।
भावद्रव्यविभेदेन, द्विविधः कृतसंवरैः।।१।।
होय कषायास्रव जिन द्वारों, से रुकना संवर कहलाय।
द्रव्य भाव संवर दो भेदों, वाला माने श्री जिनाय।।१।।
रोधस्तत्र कषायाणां, कथ्यते भावसंवरः।
दुरितास्रवविच्छेदस्-तद्रोधे द्रव्यसंवरः।।२।।
कहा भाव संवर कषाय का, रुकना आगम में विख्यात।
कर्मों का रुक जाना एवं, द्रव्य संवर कहलाए भ्रात।।२।।

अर्थ—जिन द्वारों से कषायों का आस्रव होता है उन द्वारों का रुक जाना संवर है और वह संवर के धारक केवली महात्मा ने भावसंवर और द्रव्यसंवर के भेद से दो प्रकार का बतलाया है। उनमें कषायों का रुकना तो भावसंवर है और कषायों के रुक जाने पर जो कर्मास्रव का रुक जाना है वह द्रव्यसंवर है।

भावार्थ—पहिले तो कह दिया गया है कि शुभ अशुभ मन वचन काय के व्यापारों द्वारा जो कर्मों का आना है उसका नाम आस्रव है और यहाँ जिन द्वारों से कर्म आते हैं उन द्वारों का रुक जाने रूप संवर कहा है तथा यह संवर दो प्रकार का है एक भावसंवर, दूसरा द्रव्यसंवर। जो भावरूप कषायों का रुकना है वह तो भावसंवर है और उन कषायों के रुक जाने पर द्रव्यरूप कर्मों को आना बंद हो जाना है वह द्रव्यसंवर बतलाया है।।१-२।।

कषायेभ्यो यतः कर्म, कषायाः सन्ति कर्मतः।
ततो द्वितयविच्छेदे, शुद्धिः संपद्यते परा।।३।।
कर्मोत्पत्ती हो कषाय से, कर्म कषायों से (उत्पन्न) हों भ्रात।
कर्मकषायों के नशते ही, उत्तम शुद्धी हो विख्यात।।३।।

अर्थ—क्योंकि कषायों से कर्म की उत्पत्ति और कर्म से कषायों की उत्पत्ति होती है इसलिये जिस समय कर्म और कषाय दोनों का नाश हो जाता है उस समय उत्कृष्ट शुद्धि की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—यहाँ पर कषाय शब्द से भावकर्मों का और कर्मशब्द से द्रव्यकर्मों का ग्रहण ग्रन्थकार को अभिमत है इन दोनों का अर्थात् द्रव्यकर्म और भावकर्मों का आपस में बीज वृक्ष के समान अन्योन्याश्रय संबंध है क्योंकि जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की उत्पत्ति होती है यह कोई नहीं कह सकता कि बीज पहिले था या वृक्ष। उसी प्रकार कषाय-भावकर्मों से द्रव्यकर्मों की उत्पत्ति होती है और द्रव्य कर्मों से भावकर्मों की उत्पत्ति होती है यहाँ पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कषाय पहिले थे या द्रव्यकर्म। तथा जिसप्रकार बीज वा वृक्ष के सर्वथा नष्ट कर देने पर आगे परम्परा नहीं चलती उसी प्रकार कषाय वा द्रव्य कर्म के नष्ट हो जाने पर 'कषाय से कर्म और कर्म से कषाय' यह परम्परा भी नष्ट हो जाती है तथा जिस समय यह परम्परा नष्ट हो जाती है उस समय आत्मा में विशेष शुद्धि प्रकट हो जाती है।।३।। तथा–

कषायाकुलितो जीवः, परद्रव्ये प्रवर्तते।
परद्रव्यप्रवृत्तस्य, स्वात्मबोधः प्रहीयते।।४।।
जीव कषायों से कलुषित हो, पर द्रव्यों में होय प्रवृत्त।
जिससे स्वात्म बोध नश जाए, मिथ्या मति तव होय प्रवृद्ध।।४।।
प्रहीण स्वात्मबोधस्य, मिथ्यात्वं वर्धते यतः।
कारणं कर्मबंधस्य, कषायस्-त्यज्यते ततः।।५।।
पर पदार्थ निज माने तब वह, करे विपर्यय जो श्रद्धान।
कर्म बंध होता है जिससे, अतः कषाएँ तजें प्रधान।।५।।

अर्थ—कषाय से कलुषित यह जीव परद्रव्यों में प्रवृत्ति करता है–उन्हें अपनाता है परद्रव्यों में प्रवृत्ति करने से इसका स्वात्मबोध-स्वरूप ज्ञान नष्ट होता है। जब स्वात्मबोध नष्ट हो जाता है उस समय इसके मिथ्यात्व की वृद्धि होती है–यह परपदार्थों में विपरीत श्रद्धान कर उन्हें अपना समझने लगता है और परपदार्थों को अपना समझने से कर्मबंध होता है इसलिये कर्मबंध के प्रधान कारण कषायों को मान उनका त्याग किया जाता है।

भावार्थ—यह नियम है जब तक यह आत्मा कर्मबंधनों से बँधा रहेगा तब तक कभी इसे शांति की प्राप्ति नहीं हो सकती और कर्मबंधनों में कारण कषायें हैं क्योंकि जिस समय यह क्रोध आदि कषायों से कलुषित होता है उस समय पर द्रव्य-स्त्री पुत्र आदि में कभी राग कभी द्वेष कभी मोह आदि करता है। पर द्रव्यों में राग आदि करने से इसका स्वाधीनबोध नष्ट हो जाता है। स्वाधीनबोध के नष्ट हो जाने पर इसके मिथ्यात्व की वृद्धि होती है जिससे इसका सब श्रद्धान

विपरीत हो जाता है और उस विपरीत श्रद्धान के द्वारा इसके निरन्तर कर्मों का आस्रव और बंध होता रहता है इसलिये कर्मों के आस्रव वा बंध में कषाय ही कारण हैं ऐसा जानकर विद्वान लोग कषायों का सर्वथा त्याग कर देते हैं।।४-५।।

कषायों का नाश कौन कर सकता है यह बतलाते हैं–

निष्कषायो निरारंभः, स्वान्य द्रव्य विवेचकः।
धर्माधर्म निराकांक्षो, लोकाचार निरुत्सुकः।।६।।
रहित कषायारंभ रहा जो, स्व पर भेद का ज्ञाता जान।
पुण्य पाप आकांक्षा विरहित, लोकाचार निरुत्सुक मान।।६।।
विशुद्धदर्शनज्ञान-चारित्रमयमुज्ज्वलं।
यो ध्यायत्यात्मनात्मानं, कषायं क्षपयत्यसौ।।७।।
जो सद्दर्श ज्ञान चारितमय, निज आतम का करता ध्यान।
वह अवश्य ही सर्व कषायों का विनाशकारी पहिचान।।७।।

अर्थ–जो महात्मा कषाय और आरंभों से रहित है, स्व और पर का पूर्णरूप से भेद जानता है, पुण्य पाप में आकांक्षा रहित है, लोक के व्यवहारों में उदासीन है और अपनी आत्मा से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप निर्दोष अपनी आत्मा का ध्यान करता है वह अवश्य ही समस्त कषायों का नाश कर देता है।

भावार्थ–जब तक कषाय और आरंभों में प्रवृत्ति होगी, अपना पराया भेद न जाना जायगा, पुण्य और पाप में अभिलाषा बनी रहेगी, लोक व्यवहार में भी परिणति फँसी रहेगी और विशुद्ध सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप अपनी आत्मा का अपने से ध्यान न किया जायेगा तब तक कदापि कषायों का क्षय नहीं हो सकता इसलिये जो महात्मा यह चाहते हैं कि हमारे कषायों का नाश हो जाय उन्हें चाहिये कि वे कषाय और आरंभ का त्याग करें, अपने और पर पदार्थों के स्वरूप को समझें, पुण्य पापरूप वासनाओं में किसी प्रकार की आकांक्षा न रक्खे, लोक के जितने व्यवहार हैं उनसे उदासीन रहें और विशुद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप अपनी आत्मा का ध्यान करें।।६-७।। तथा–

वर्ण गंध रस स्पर्श-शब्दयुक्तैः शुभाशुभैः।
चेतनाऽचेतनै-रमूर्तैर्-मूर्तैः पुद्गलै-रयं।।८।।

पुद्गल रस स्पर्श गंधमय, वर्ण और है शब्दोंवान।
मूर्तामूर्त चेतना चेतन, पुण्य-पाप शुभ अशुभ प्रधान।।८।।

शक्यो नेतुं सुखं दुःखं, संबंधाभावतः कथं।
रागद्वेषौ यतस्तत्र, क्रियेते मूढमानसैः।।९।।

सुख दुख कैसे पहुँचा सकता, जीव से जिसका न संबंध।
किन्तू अज्ञानी व्यर्थ रूपादिक, में कर राग-द्वेष कर बंध।।९।।

निग्रहानुग्रहौ कर्तुं, कोऽपि शक्तोऽस्ति नात्मनः।
रोषतोषौ न कुत्रापि, कर्तव्याविति तात्त्विकैः।।१०।।

अतः सार्वतत्वज्ञ आत्मा, को चैतन्य स्वरूपी जान।
सुख दुख न कर सकता कोई, रागद्वेष क्यों करे पुमान।।१०।।

अर्थ—यह पुद्गल वर्ण गन्ध रस स्पर्श और शब्दों से युक्त है, शुभ अशुभ-पुण्य पाप स्वरूप है, चेतन अचेतन और मूर्तिक अमूर्तिक है इसलिये न इसके द्वारा जीव को सुख पहुंच सकता है और न दु:ख। क्योंकि इसके साथ जीव का कोई संबंध नहीं। परन्तु ये मनुष्य इतने मूढ-अज्ञानी हो रहे हैं कि वृथा रूप रस गंध आदि में राग द्वेष करते हैं इसलिये जो पुरुष भले प्रकार तत्त्वों के जानकार हैं उन्हें यह समझकर कि इस चिदानंदरूप आत्मा को न कोई सुखी बना सकता है और न कोई दुखी, किसी में राग और द्वेष नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—जिसमें मिलना बिछुड़ना होता है उसमें नियम से रूप आदि गुण विद्यमान रहते हैं पुद्गल में मिलने बिछुड़ने की शक्ति मौजूद है इसलिये वह रूप रस आदि गुणों से युक्त है, शुभ और अशुभ है अर्थात् किसी जाति के पुद्गल परमाणु शुभ कहलाते हैं और किसी जाति के अशुभ, चेतनस्वरूप और अचेतनस्वरूप हैं अर्थात् जो पुद्गल परमाणु राग द्वेष क्रोध मान आदि भावकर्म रूप परिणत हो जाते हैं वे चेतनस्वरूप और अन्य अचेतनस्वरूप कहे जाते हैं एवं वह मूर्तिक और अमूर्तिक स्वरूप भी हैं अर्थात् राग द्वेष पुद्गल की पर्याय आत्मा के विभाव परिणाम कहे जाते हैं इसलिये उन्हें अमूर्तिक भी कह देते हैं और उनसे भिन्न मूर्तिक हैं। ऐसे पुद्गल के साथ जीव का कोई संबंध नहीं क्योंकि जीव का स्वरूप भिन्न है और पुद्गल का भिन्न। तथापि ये मूढ़ मनुष्य व्यर्थ ही उत्तम रूप उत्तम रस उत्तम गंध आदि में राग और निन्दितरूप निंदितरस और दुर्गंध आदि में द्वेष करते हैं इसलिये जो मनुष्य विद्वान हैं–स्व पर का वास्तविक भेद समझते हैं उन्हें यह जानकर कि आत्मा को कोई सुखी दुखी नहीं बना सकता है अत: जरा भी किसी पदार्थ में राग द्वेष नहीं करना

चाहिये किंतु मध्यस्थ हो अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाने का उपाय करना चाहिये।।८-९-०।।

परस्याचेतनं गात्रं, दृश्यते न तु चेतनः।
उपकारेऽपकारे क्व, रज्यते क्व विरज्यते।।११।।
पर का दिखता है शरीर न, चेतन आतम दिखे विशेष।
उससे हो उपकार राग में, न अपकार में कीजे द्वेष।।११।।

अर्थ—विद्वान मनुष्य को यह विचार करना चाहिये कि अन्य मनुष्य का अचेतन शरीर दीखता है चेतन आत्मा नहीं इसलिये उससे कुछ उपकार होने पर राग करना और अपकार होने पर द्वेष करना वृथा है।।११।। तथा–

शत्रवः पितरौ दाराः, स्वजना भ्रातरोङ्गजाः।
निगृह्णंत्यनुगृह्णंति, शरीरं चेतनं न मे।।१२।।
पिता शत्रु परिवार स्त्रियाँ, भाई पुत्र सब प्राप्त शरीर।
का उपकार अपकार करेना, आतम का कर सकते वीर।।१२।।

अर्थ—बैरी पिता स्त्रियां परिवार के लोग भाई और पुत्र मेरे शरीर का ही उपकार अपकार कर सकते हैं किन्तु मेरे आत्मा का नहीं।

भावार्थ—बहुत से मूढ़ मनुष्यों का यह विचार रहता है कि बैरी पिता स्त्रियां आदि हमारे उपकारी और अपकारी हैं परंतु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि वे यदि उपकार वा अपकार करते हैं तो अचेतन शरीर का ही करते हैं आत्मा का नहीं क्योंकि वह चिदानंद चैतन्यस्वरूप अमूर्तिक है और मूर्तिक से अमूर्तिक का उपकार नहीं हो सकता ।।१२।।

मत्तश्च तत्त्वतो भिन्नं, चेतनात्-दचेतनं।
द्वेषरागौ ततः कर्तुं, युक्तो तेषु कथं मम।।१३।।
मैं हूँ चेतन देह अचेतन, भिन्न जान कर शत्रू मित्र।
मैं क्यों राग द्वेष हो सकता, है उपयुक्त या रहे पवित्र।।१३।।

अर्थ—मैं चेतनस्वरूप हूँ और शरीर अचेतनस्वरूप है इसलिये वह मुझसे सर्वथा भिन्न है ऐसा जानकार भी यदि मैं शत्रु मित्र आदि में राग द्वेष करूं तो वह मेरा कैसे युक्त हो सकता है? अर्थात् शत्रु मित्र आदि द्वारा शरीर में उपकार अपकार होने पर उनमें मेरा रागद्वेष करना सर्वथा व्यर्थ है।

भावार्थ—जो अपना हो यदि उसका कोई उपकार अपकार करे तब अवश्य राग द्वेष करना

चाहिये परंतु यह शरीर तो अपना है नहीं। यह तो आत्मा से सर्वथा भिन्न है इसलिये यदि शत्रु मित्र द्वारा उसका उपकार अपकार होता है तो उससे कदापि राग द्वेष न करना चाहिये।।१३।। तथा–

पश्याम्यचेतनं गात्रं, यतो न पुनरात्मनः।
निग्रहानुग्रहौ तेषां, ततोहं विदधे कथं।।१४।।
शत्रु मित्र जो दिखते हैं सो, दिखते उनके मात्र शरीर।
मैं उपकार अपकार चाहूँ तो, व्यर्थ है मेरी यह तस्वीर।।१४।।

अर्थ–मुझे जो शत्रु मित्र आदि दिख रहे हैं सो उनके अचेतन शरीर दिख रहे हैं। वे (उनकी आत्मा) नहीं इसलिये यदि मैं उनका कुछ अपकार वा उपकार करना चाहूं तो व्यर्थ है अर्थात् शत्रु मित्र आदि के शरीरों के उपकार अपकार से उनका (उनकी आत्मा का) उपकार अपकार नहीं हो सकता क्योंकि शरीर आत्मा से सर्वथा भिन्न है।।१४।।

स्वदेहोपि न मे यस्य, निग्रहानुग्रहे क्षमः।
निग्रहानुग्रहौ तस्य, कुर्वन् मन्ये वृथामतिः।।१५।।
तत उपकार अपकारक मेरा, नहीं है तो फिर अन्य पुमान।
उपकार अपकार करेगा कैसे, मेरा व्यर्थ विचार है मान।।१५।।

अर्थ–जब मेरा शरीर भी मेरे उपकार वा अपकार करने में समर्थ नहीं तब मेरा दूसरा उपकार वा अपकार करता है यह मेरा विचार निरर्थक है।

भावार्थ–यदि अपना शरीर भी अपना उपकार अपकार करता तो कथंचित् यह कह दिया जाता कि अन्य भी मेरा उपकार अपकार कर सकता है परंतु जब अपना शरीर भी मेरा उपकार अपकार कर नहीं सकता तब दूसरा मनुष्य उपकार अपकार कैसे कर सकता है? इसलिये ऐसा मानने वाला पुरुष कि मैं इसका उपकार वा अपकार करता हूं मूढ़बुद्धि है।।१५।।

शक्यंते न गुणाः कर्तुं, हर्तुमन्येन मे यतः।
कर्तुं हर्तुं परस्यापि, न पार्यंते गुणा मया।।१६।।
मम् गुण का कर्त्ता हर्ता न, कोइ न मैं परका हूँ खास।
मूढ़ कल्पना करते हैं मैं, पर गुण की उत्पत्ति विनाश।।१६।।
मयान्यस्य ममान्येन, क्रियतेऽक्रियते गुणाः।
मिथ्यैषा कल्पना सर्वा, क्रियते मोहिभिस्ततः।।१७।।

कर देता हूँ और मेरे गुण, नष्टोत्पादक अन्य विशेष।
इस प्रकार की बुद्धि सर्वथा, मिथ्या जानो कहे जिनेश।।१७।।

अर्थ—न कोई मेरे गुणों का कर्ता हर्ता है और न मैं किसी के गुणों का कर्ता हर्ता हूँ इसलिये मूढ़ पुरुष जो यह कल्पना करते हैं मैं दूसरे के गुण की उत्पत्ति वा नाश कर देता हूँ और दूसरा मेरे गुण को उत्पन्न वा नष्ट कर देता है यह बुद्धि सर्वथा मिथ्या है।

भावार्थ—गुण आत्मा के स्वभाव हैं और जो स्वभाव होते हैं उनका कभी नाश नहीं हो सकता इसलिये न तो कोई मेरे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि अविनाशी गुणों को उत्पन्न वा नष्ट कर सकता है और न मैं ही दूसरे के गुण उत्पन्न वा नष्ट कर सकता हूँ इसलिये जो मैं दूसरे के सम्यग्दर्शन आदि गुणों को उत्पन्न और नष्ट कर देता हूँ और दूसरा मेरे उन गुणों की उत्पत्ति वा विनाश कर देता है यह विचार स्वपर के भेद से सर्वथा विमुख अज्ञानी जीवों का है। गुण पदार्थ का कभी नष्ट हो ही नहीं सकता।।१६-१७।।

ज्ञानदृष्टिचरित्राणि, ह्रियंते नाक्षगोचरैः।
क्रियंते न च गुर्वाद्यैः, सेव्यामानैरनारतं।।१८।।
दर्श ज्ञान चारित इंद्रिय के, विषयों से न गुरु आदि देव।
किन्तू सेवा से उत्पत्ति हो, जीव परिणमन होय सदैव।।१८।।
उत्पद्यंते विनश्यंति, जीवस्य परिणामिनः।
ततः स्वयं स दाता न, परतो न कदाचन।।१९।।
गुण पर्यायों के परिवर्तन, से उत्पत्ती होय विनाश।
अतः सिद्ध है कोई उत्पत्ति, न कर सके न हो नाश।।१९।।

अर्थ—ज्ञान दर्शन और चारित्र का न तो इंद्रियों के विषयों से हरण होता है और न गुरुओं की निरंतर सेवा से उनकी उत्पत्ति होती है किन्तु इस जीव के परिणमन शील होने से प्रति समय इसके गुणों की पर्याय पलटती हैं–मतिज्ञान आदि की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है इसलिये मतिज्ञान आदि का उत्पाद विनाश न तो स्वयं जीव ही कर सकता है और न कभी पर पदार्थ से ही उनका उत्पाद विनाश हो सकता है।

भावार्थ—यहाँ पर ग्रन्थकार ने आत्मा का गुण चैतन्य माना है और ज्ञान दर्शन आदि को पर्याय की कोटि में ग्रहण किया है किंतु अन्य शास्त्रों में ज्ञान दर्शन को भी गुण ही माना है इसलिये

कोई यदि यहां पर यह शंका करे कि इंद्रियों के विषयों से ज्ञान दर्शन और चारित्र का नाश होता अनुभव में आता है और गुरु आदि की सेवा से उनकी उत्पत्ति हुई देखी जाती है फिर उनके उत्पाद और व्यय का निषेध क्यों? उसका समाधान यहां ग्रंथकार ने दिया है तुम जो यह मानते हो कि इंद्रियों के विषयों में फस जाने से ज्ञान आदि का नाश और गुरु आदि की सेवा से उनकी उत्पत्ति होती है यह भ्रम है क्योंकि यह आत्मा परिणामशाली है इसलिये उसके गुणों का स्वयं परिणमन हुआ करता है कभी ज्ञान मतिज्ञानरूप परिणत हो जाता है और कभी श्रुतज्ञान आदिरूप, ऐसा नहीं कि वे गुण तो थे नहीं और उत्पन्न हो गये।।१८-१९।।

शरीरमिंद्रियं द्रव्यं, विषयो विभवो विभुः।
ममेति व्यवहारेण, भण्यते न च तत्त्वतः।।२०।।
देह विषय ऐश्वर्य इंद्रिय, द्रव्य स्वामी मेरे यह बात।
कही जाय व्यवहार से निश्चय, से ना मानो मेरे भ्रात।।२०।।
तत्त्वतो यदि जायंते, तस्य ते न तदा भिदा।
दृश्यंते दृश्यते चासौ, ततस्तस्य न ते मताः।।२१।।
यदि निश्चय से माने तो फिर, तन चेतन में न हो भेद।
किंतू भिन्न दिखे तन चेतन, अतः एक ना माने चेत्।।२१।।

अर्थ–शरीर इंद्रिय द्रव्य विषय ऐश्वर्य और स्वामी मेरे हैं यह बात व्यवहार से कह दी जाती है निश्चयनय से नहीं। यदि निश्चयनय से भी यह बात मान ली जाय शरीर आदि आत्मा के हैं तब शरीर आदि और आत्मा में भेद नहीं होना चाहिये और भेद तो देखने में आता है–शरीर आदि भिन्न दिख पड़ते हैं और आत्मा भिन्न दिखता है इसलिये शरीर आदि आत्मा के नहीं।

भावार्थ–यहाँ पर यदि कोई ऐसी शंका करे कि संसार में यह व्यवहार देखने में आता है कि शरीर मेरा है स्पर्शन आदि इंद्रियाँ, सुवर्ण चाँदी आदि द्रव्य, रूप रस गंध आदि इंद्रियों के विषय, भांति भांति के ऐश्वर्य और स्वामी मेरे हैं। इसलिये ये आत्मा के ही हैं तो उसका समाधान यहाँ ग्रंथकार ने किया है कि उपर्युक्त बातें व्यवहार नय से हैं निश्चय नय से नहीं यदि उनको निश्चय नय से भी मान लिया जायेगा तो शरीर आदि और आत्मा में जो भेद देखने में आता है वह भेद नहीं दिखना चाहिये इसलिये यह स्पष्ट रूप से जान पड़ता है कि शरीर आदि आत्मा के नहीं वे उससे भिन्न हैं।।२०-२१।।

विज्ञायेति तयोर्द्रव्यं, परं स्वं मन्यते सदा।
आत्मतत्त्वरतो योगी, विदधाति स संवरं।।२२।।
पर पदार्थ आतम स्वरूप को, जो भी जाने भली प्रकार।
आत्म तत्त्व में लीन सुयति के, संवर होवे योगानुसार।।२२।।

अर्थ—जो योगी इस प्रकार आत्मा और पर पदार्थों के स्वरूप को भली प्रकार पहचान कर पर को पर और स्व को स्व मानता है एवं आत्मतत्त्व में लीन होता है उसी योगी के संवर होता है।

भावार्थ—जब तक वास्तविक रूप से द्रव्यों के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब तक पर पदार्थ क्या है? और स्व क्या है? यह बोध नहीं हो सकता हो जब तक स्वपर का वास्तविक ज्ञान नहीं, तब तक स्व-आत्मतत्त्व में लीनता नहीं होती और जब तक आत्मतत्त्व में लीनता नहीं होती तब तक, संवर की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये जो योगी संवर करना चाहता है उसे चाहिये कि वह पूर्वोक्त रीति से स्व पर का ज्ञान कर आत्मतत्त्व में लीन हो।।२२।।

विदधाति परो जीवः, किंचित्कर्म शुभाशुभं।
पर्यायापेक्षया भुंक्ते, फलं तस्य पुनः परः।।२३।।
पर्यायार्थिक नय से कोई, कर्म शुभाशुभ करता जीव।
अन्य शुभाशुभ उसके फल का, भोक्ता होवे 'विशद' अतीव।।२३।।
य एव कुरुते कर्म, किंचिज्जीवः शुभाशुभं।
स एव भजते तस्य, द्रव्यार्थापेक्षया फलं।।२४।।
द्रव्यार्थिक से कर्म शुभाशुभ, बांधे हो उसका फलवान।
उसके फल को वही भोगता, आगम का यह कथन महान।।२४।।
मनुष्यः कुरुते पुण्यं, देवो वेदयते फलं।
आत्मा वा कुरुते पुण्य-मात्मा वेदयते फलं।।२५।।
व्यवहार से जो पुण्य का संचय, करके जब बनता है देव।
पुण्य सुफल भोगे निश्चय से, उसका ही फल पाए सदैव।।२५।।

अर्थ—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा एक जीव शुभ अशुभ कर्म को उपार्जन करता है और दूसरा उसके शुभ अशुभ फल को भोगता है किंतु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जो जीव शुभ अशुभ कर्मों का उपार्जन करता है वही उसके फल को भोगता है क्योंकि अनुभव में आता है कि

पर्यायार्थिक नय से मनुष्य पुण्य का संचय करता है और जब वह मरकर देव होता है उस समय वह पुण्य के फल को भोगता है परंतु द्रव्यार्थिकनय से जो कर्म करता है वही उसके फल को भोगता है अर्थात् देव आदि गतियों में भी आत्मा पूर्व का ही है वह नवीन उत्पन्न नहीं हुआ।

भावार्थ—पहिले कह दिया जा चुका है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से मूलनय दो प्रकार का है। जो नय पर्यायों को विषय न कर केवल द्रव्य को विषय करता है वह द्रव्यार्थिक है और जो द्रव्य को न विषय कर केवल पर्यायों को विषय करता है वह पर्यायार्थिक है। जिस समय आत्मा के साथ पर्यायार्थिक नय का संबंध किया जाता है उस समय वह एक भी अनेक प्रकार का कह दिया जाता है अर्थात् वह कभी मनुष्य, कभी देव, कभी नारकी आदि होता है इसलिये पर्यायों के भेद से उसके भी भेद हो जाते हैं किंतु जिस समय द्रव्यार्थिक नय का संबंध किया जाता है उस समय वह एक ही कहा जाता है अर्थात् मनुष्य आदि स्वरूप होने पर भी उसकी आत्मा द्रव्य एक ही रहती है इसलिये यहाँ यह कहा गया है कि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा दूसरा शुभ अशुभ कर्मों का संचय करता है और दूसरा उसके फल को भोगता है जैसे कि मनुष्य कर्मों का उपार्जन करता है और देव उसके फल को भोगता है क्योंकि मनुष्य पर्याय से देव पर्याय भिन्न है परंतु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जो कर्मों का उपार्जन करता है वही उसके फल को भोगता है जैसे कि जो आत्मा मनुष्य अवस्था में कर्मों का संचय करता है वही देव अवस्था में उसके फल को भोगता है क्योंकि मनुष्य अवस्था वा देव अवस्था में एक ही आत्मा है है इसलिये जो मनुष्य यह कहते हैं दूसरा आत्मा कर्मों का उपार्जन करता है और दूसरा उसके फल को भोगता है वह कथन सर्वथा तो असत्य है और कथंचित्-उपर्युक्त रीति से सत्य भी है।।२३-२५।।

नित्यानित्यात्मके जीवे, तत्सर्व-मुपपद्यते।
किंचिद्धटते तत्र, नित्येऽनित्ये च सर्वथा।।२६।।

नित्यानित्य है जीव कथंचित्, ऐसा कहना रहा उचित।
नित्यानित्य सर्वथा माने, तो होगा कहना अनुचित।।२६।।

अर्थ—जब जीव को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य स्वीकार किया जायेगा उस समय ऊपर कही हुईं सब बातें ठीक हो सकती हैं और यदि उसे सर्वथा नित्य किं वा अनित्य ही माना जायेगा। तब वे बातें उत्पन्न नहीं हो सकतीं।

भावार्थ—जैनसिद्धांत अनेकांत सिद्धांत है—एकांतरूप से उसमें कोई बात नहीं मानी इसलिये उसमें सब पदार्थों को नित्य अनित्य उभयस्वरूप भी माना गया है अर्थात् द्रव्यार्थिक नय

की अपेक्षा सब पदार्थ नित्य हैं, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा सब अनित्य हैं। आत्मा भी पदार्थ है इसलिये पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अर्थात् कभी यह देव अवस्था से मरकर मनुष्य और कभी मनुष्य अवस्था से मरकर देव होता है इत्यादि नई पुरानी पर्यायों के धारण करने से अनित्य है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वह नित्य है अर्थात् चाहे कैसी भी पर्याय को धारण कर ले उसका नाश नहीं हो सकता-समस्त पर्यायों में वह अविनाशी आत्मा बना ही रहता है। यदि सर्वथा आत्मा को नित्य मान लिया जायेगा तो दूसरा (मनुष्य) कर्मों का उपार्जन करता है और दूसरा (देव) उनके फलों को भोगता है यह बात न बन सकेगी और यदि सर्वथा अनित्य मान लिया जायेगा तो वहीं कर्मों को उपार्जन करता है और वही फलों को भोगता है यह बात न बन सकेगी तथा अनुभव में आत्मा की नित्यता अनित्यता दोनों अवस्थायें आती हैं इसलिये जो आत्मा को सर्वथा नित्य किंवा अनित्य ही मानते हैं उन्हें चाहिये कि वे कथञ्चित् अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य और कथञ्चित् अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य मानें।।२६।।

चेतनः कुरुते भुंक्ते, भावैरोदयिकै-रयं।
न विधत्ते न वा भुंक्ते, किंचित्कर्म तदत्यये।।२७।।
औदायिक भावों से करके, कर्म शुभाशुभ फल को पाय।
भाव औदायिक नशे कर्म का, न संचय न फल को पाय।।२७।।

अर्थ—जिस समय इस आत्मा में औदयिक भावों का उदय होता है उस समय उनके द्वारा यह शुभ अशुभ कर्मों को करता है और उनके फल को भोगता है किंतु जिस समय वे औदयिक भाव नष्ट हो जाते हैं उस समय यह न किसी प्रकार के कर्मों का संचय करता है और न उनके फल को ही भोगता है।

भावार्थ—गति कषाय आदि इक्कीस प्रकार के औदयिक भाव पहले बतला दिये हैं, यह आत्मा जब कर्मों का उपार्जन करता है उस समय औदयिक भाव निमित्त कारण होते हैं इसलिये जिस समय इस आत्मा में नरक तिर्यंच आदि गति, क्रोध मान आदि कषाय, पुलिङ्ग आदि लिङ्ग मिथ्यादर्शन आदि औदयिक भावों का उदय होता है उस समय वह शुभ अशुभ कर्मों का उपार्जन करता है और उनके सुख दुख आदि फलों को भोगता है किन्तु जिस समय औदयिक भावों का नाश हो जाता है आत्मा में इनकी सत्ता विद्यमान नहीं रहती उस समय न यह किसी प्रकार के कर्मों का उपार्जन करता है और न उनके फल को ही भोगता है।।२७।। तथा–

पंचाक्ष विषयाः किंचिन्-नास्य कुर्वंत्-यचेतनाः।

मन्यते स विकल्पेन, सुखदा दुःखदा मम।।२८।।

इंद्रिय विषय आत्मा का कुछ, कर न सके अचेतन जान।

जीव मोह वश सुख दुख देने, वाला माने हो अज्ञान।।२८।।

अर्थ—रूप आदि पांचों इंद्रियों के विषय इस आत्मा का कुछ नहीं कर सकते क्योंकि वे अचेतन है परंतु यह जीव विकल्प से अर्थात् मोह से उत्पन्न हुये भावों से यह मान लेता है कि वे मुझे सुख देने वाले वा दु:ख देने वाले हैं।

भावार्थ—स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु: और श्रोत्र के भेद से इंद्रियाँ पाँच हैं और उनके स्पर्श-रस-गंध-वर्ण और शब्द ये पांच क्रम से विषय हैं एवं ये सब अचेतन हैं इसलिये न इस जीव को सुखी बनाते हैं न दुखी परंतु यह मूढ़ जीव मोह आदि के विकल्पों से ऐसा समझ लेता है कि इंद्रियों के विषय मुझे सुखदायी दुखदायी हैं।।२८।।

न द्रव्यगुणपर्यायाः, संप्राप्ता बुद्धिगोचरं।

इष्टानिष्टाय जायंते, संकल्पेन विना कृताः।।२९।।

केवल बुद्धीगम्य द्रव्य के, गुण पर्याय बिना संकल्प।

इष्टानिष्ट नहीं कर सकते, छोड़ो मन के सभी विकल्प।।२९।।

अर्थ—केवल बुद्धि से गम्य द्रव्य के गुण और पर्याय भी बिना संकल्प के आत्मा का इष्ट अनिष्ट नहीं कर सकते।

भावार्थ—यदि यहाँ पर कोई ऐसी शंका कर बैठे कि जीव के बुद्धिगोचर गुण और पर्यायों से ही जीव का इष्ट वा अनिष्ट होता है तो उसका समाधान ग्रंथकार ने किया है कि बिना संकल्प के गुण पर्याय भी जीव का इष्ट अनिष्ट नहीं कर सकते अर्थात् जब तक गुण पर्यायों में यह संकल्प विकल्प रहेगा कि ये मेरे हैं वा दूसरे के हैं तब तक तो उनसे इस जीव का इष्ट अनिष्ट होता रहेगा और जब उनमें अपने पराये का संकल्प विकल्प नष्ट हो जायेगा तब उनसे भी जीव का इष्ट अनिष्ट नहीं होगा क्योंकि संकल्प विकल्प ही इष्ट अनिष्ट में कारण हैं।।२९।। तथा–

न निंदास्तुतिवाक्यानि, श्रूयमाणनि कुर्वते।

संबंधाभावतः किंचिद्-रुष्यते तुष्यते वृथा।।३०।।

निंदा स्तुति युक्त वचन न, कुछ भी कर सकते हैं जान।

क्योंकि हैं संबंध रहित जो, रोष तोष है व्यर्थ निदान।।३०।।

अर्थ—तथा सुने गये निन्दा और स्तुति के वचन भी इस जीव का कुछ नहीं करते क्योंकि

उनका और जीव का कोई आपस में संबंध नहीं इसलिये जो यह जीव निंदावचनों से रोष करता है और स्तुतिवचनों से संतोष मानता है यह भी व्यर्थ है।

भावार्थ—यह बात स्पष्टरूप से अनुभव में आती है कि जिस समय यह जीव अपनी किसी से निन्दा सुनता है उस समय द्वेष करता है और जब प्रशंसा सुनता है उस समय प्रसन्न होता है परन्तु इसका ऐसा करना व्यर्थ है क्योंकि निन्दा और स्तुति का आत्मा के साथ कोई संबंध नहीं-उनका संबंध शरीर के साथ है।।३०।। किंतु–

आत्मनः सकलं बाह्यं, शर्माशर्म विधायकं।
क्रियते मोहदोषेण, परथा न कदाचन।।३१।।
आतम में सुख दुख होते जो, मोह रहा उसमें कारण।
अन्य प्रकार कभी सुख दुख हों, जीवों को भी निस्कारण।।३१।।

अर्थ—आत्मा में जो बाह्य सुख दुःख उत्पन्न होते हैं उनकी उत्पत्ति में कारण मोह है। अन्य प्रकार से कभी सुख दुख की उत्पत्ति नहीं होती।

भावार्थ—ऊपर यह कह आये हैं कि आत्मा को जो सुख दुख होता है उसमें न तो इंद्रियों के विषय कारण हैं न आत्मा के गुण और पर्याय कारण हैं और न निंदा और स्तुति के वचनों का सुनना कारण है तब शंका होती है कि बिना कारण के फिर आत्मा में सुख दुख होते कहाँ से हैं? उसका समाधान ग्रंथकार ने यहाँ किया है कि जीव को जो सुख और दुख उत्पन्न होते हैं उनमें निमित्त कारण मोह है जिस समय यह मोह से पर पदार्थों में राग और द्वेष करता है उस समय स्वपर के ज्ञान से रहित हो यह परपदार्थों को इष्ट वा अनिष्ट मानता है और इष्ट के वियोग वा अनिष्ट के संयोग आदि से सुखी दुखी होता है।।३१।।

नांजसा वचसा कोऽपि, निंद्यते स्तूयतेऽपि वा।
निंदितोऽहं स्तुतोऽहं वा, मन्यते मोह योगतः।।३२।।
निंदा स्तुति कोई किसी की, नहीं वास्तविक करता जान।
ऐसा यदी मानता कोई, मोह का फल यह रहे प्रधान।।३२।।

अर्थ—वास्तविक रूप से न तो कोई किसी की निंदा करता है न स्तुति करता है परंतु यह जो जीव मानता है कि मेरी अमुक ने निंदा की और अमुक ने स्तुति की यह मोह से है।।३२।। तथा–

नानंदो वा विषादो वा, परे सक्रांत्-यभावतः।
परदोषगुणैर्नूनं कदाचिन्-न विधीयते।।३३।।
पर के जो गुण दोष है पर में, हो सकते न कभी प्रविष्ट।
हो आनंद विषाद कभी न, जीवों को यह कथन विशिष्ट।।३३।।

अर्थ—पर के दोष और गुण पर पदार्थ में प्रविष्ट नहीं होते इसलिये उनसे आनंद और विषाद कभी नहीं हो सकता।

भावार्थ—अन्य के दोष वा गुण उसी समय आनंद वा विषाद कर सकते हैं जब वे अन्य में प्रविष्ट हो जांय सो तो है नहीं इसलिये अन्य के दोष वा गुणों से अन्य को हर्ष किं वा विषाद नहीं हो सकता।।३३।। तथा–

अयं मेऽनिष्टमिष्टं वा, ध्यायतीति वृथा मतिः।
पीड्यते पाल्यते वापि, न परः परचिंतया।।३४।।
करे अनिष्ट चिंतवन कोई, इष्ट भी रहा निरर्थक जान।
पर चिंता से पर पीड़ित न, रक्षक भी न होवे मान।।३४।।

अर्थ—यह विचार करना कि यह मेरा अनिष्ट चिन्तवन करता है और यह इष्ट, यह भी निरर्थक है क्योंकि दूसरे की चिन्ता से दूसरा न पीड़ित किया जा सकता है और न उसकी रक्षा की जा सकती है।

भावार्थ—मूढ़ मनुष्य, शत्रु अनिष्ट और मित्र इष्ट चिन्तवन करते हैं इसीलिये हमारा इष्ट अनिष्ट होता है यह समझते हैं परंतु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि ये पर पदार्थ हैं इसलिये उनके इष्ट अनिष्ट के चिन्तवन करने से दूसरे की आत्मा का हित अहित नहीं हो सकता।।३४।। तथा–

अन्योन्यस्य विकल्पेन, वर्द्धते हाप्यते यदि।
न संपत्तिर्वा विपत्तिर्वा, तदा कस्यापि हीयते।।३५।।
पर के कोइ संकल्प विकल्पों, से पर की हानी न वृद्धि।
यदि ऐसा हो तो इस जग में, हानि वृद्धि की नशे प्रवृत्ति।।३५।।

अर्थ—दूसरे के संकल्प विकल्पों से दूसरे की हानि वृद्धि नहीं होती। यदि ऐसा ही होता तो इस संसार में किसी भी कभी हानि और वृद्धि ही नष्ट न होती।

भावार्थ—यदि एक के इष्ट चिन्तवन से दूसरे का इष्ट और अनिष्ट चिन्तवन से अनिष्ट होता

तो एक जीव के बहुत से तो इष्ट चिन्तवन करते हैं इसलिये उसका इष्ट ही होता रहता और बहुत से अनिष्ट चिन्तवन करते रहते हैं तो अनिष्ट ही होता रहता पर ऐसा होता नहीं इष्ट अनिष्ट होना तो कर्माधीन है इसलिये दूसरों के संकल्प विकल्पों से दूसरों की वृद्धि हानि होती है यह बात मिथ्या है ऐसा विचार करना चाहिए।।३५।।

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो, भावोऽनिष्टस्तथा परः।
न द्रव्यं तत्त्वतः किंचिद्-इष्टानिष्टं हि विद्यते।।३६।।
मोह से इष्ट जिसे समझा वह, हो जाता है वही अनिष्ट।
समझा जिसे अनिष्ट इष्ट हो, निश्चय से न इष्टानिष्ट।।३६।।

अर्थ—मोह से जिसे इष्ट समझ लिया जाता है वही अनिष्ट हो जाता है और जिसे अनिष्ट समझ लिया जाता है वह इष्ट हो जाता है क्योंकि निश्चयनय से संसार में न कोई पदार्थ इष्ट है और न अनिष्ट है।

भावार्थ—जो कपड़े शीतकाल में हितकारी इष्ट जान पड़ते हैं वे ही ग्रीष्मकाल में अनिष्ट-अहितकारी हो जाते हैं और जो ग्रीष्मकाल में इष्ट-हितकारी मालूम पड़ते हैं वे ही शीत-काल में अनिष्ट अहितकारी जान पड़ते हैं इसलिये यह बात स्पष्टरूप से मालूम पड़ती है कि निश्चयनय से कोई भी पदार्थ इष्ट वा अनिष्ट नहीं किन्तु यह जीव जो किसी पदार्थ को इष्ट वा अनिष्ट समझता है यह इसका घोर मोह है।।३६।।

रत्नत्रये स्वयं जीवः, पावने परिवर्तते।
निसर्गनिर्मलः शंखः, शुक्लत्वे केन वर्त्यते।।३७।।
शंख श्वेत रहता स्वभाव से, कोई श्वेत बनाए नहीं।
वैसे जीव पवित्र स्वयं से, रत्नत्रय युत रहे कहीं।।३७।।

अर्थ—जिस प्रकार स्वभाव से निर्मल शंख स्वयं अपने श्वेतस्वभाव से विद्यमान रहता है किंतु कोई उसे श्वेत बनाता नहीं उसी प्रकार यह जीव भी स्वयं पवित्र रत्नत्रयस्वरूप अपने स्वभाव में विद्यमान रहता है।

भावार्थ—रत्नत्रय शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है तथा यह जीव का स्वभाव है तो जिस प्रकार शंख स्वभाव से ही निर्मल अपने श्वेतस्वभाव में विद्यमान रहता है उसी प्रकार स्वभाव से विशुद्ध यह आत्मा भी सदा अपने रत्नत्रय स्वभाव में विद्यमान रहता है।।३७।।

स्वय-मात्मा परं द्रव्यं, श्रद्धत्ते वेत्ति पश्यति।

शंखचूर्णः किमाश्रित्य, धवली कुरुते परं।।३८।।

शंख चूर्ण ज्यों अन्य द्रव्य का, धवल हेतु न आश्रय पाय।

पर द्रव्यों की श्रद्धा करके, दर्श ज्ञान चारित प्रगटाय।।३८।।

अर्थ–जिस प्रकार शंख का चूरा दूसरे पदार्थ के स्वच्छ बनाने में किसी अन्य पदार्थ का आश्रय नहीं करता-स्वभाव से ही उसे स्वच्छ बना देता है उसीप्रकार यह आत्मा भी स्वभाव से उसे ही पर द्रव्यों का श्रद्धान करता है और उन्हें जानता देखता है अन्य कोई इसमें श्रद्धान, ज्ञान और दर्शन की शक्ति उत्पन्न नहीं कर देता।।३८।। परंतु-

मोहेन मलिनो जीवः, क्रियते निज संगतः।

स्फटिको रक्तपुष्पेण, रक्ततां नीयते न किं।।३९।।

रक्त पुष्प स्फटिक सुमणि को, क्यों कर देता रक्त समान।

मोह मलिन कर देय जीव को, पाकर पर संबंध प्रधान।।३९।।

अर्थ–जिस प्रकार रक्तपुष्प अपने संबंध से स्फटिक पाषाण को रक्त वर्ण बना लेता है उसी प्रकार मोह भी अपने संबंध से जीव को मलिन कर देता है।

भावार्थ–स्फटिक पाषाण स्वभाव से निर्मल श्वेत है उसमें किसी प्रकार के हरे पीले लाल रंग का संबंध नहीं किंतु जिस समय रक्त वर्ण आदि पुष्प उसके सामने आ जाते हैं उस समय जिस प्रकार वे श्वेत भी स्पटिक को रक्त वर्ण बना देते हैं उसी प्रकार यह जीव भी स्वभाव से विशुद्ध है इसमें रागद्वेष आदि कोई विकार नहीं है किंतु जिस समय यह मोह के फंद में फँस जाता है उस समय मलिन हो जाता है–मोह के उदय से इसके विशुद्ध गुण अविशुद्ध हो जाते हैं।।३९।।

निजरूपं पुनर्याति, मोहस्य विगमे सति।

उपाध्यभावतो याति, स्फटिकः स्वस्वरूपतां।।४०।।

ज्यों स्फटिक उपधि के हटते, पा लेता है निज स्वरूप।

मोह दूर होते आतम त्यों, पाता निज चेतन का रूप।।४०।।

अर्थ–किंतु जिस प्रकार उपाधि-रक्तपुष्प आदि के दूर हो जाने पर स्फटिक पुनः अपना स्वरूप धारण कर लेता है–वह जैसा स्वच्छ श्वेत था वैसा का वैसा ही फिर हो जाता है उसी प्रकार जिस समय इस आत्मा से मोह दूर हो जाता है उस समय यह भी वैसा का वैसा ही हो जाता है–इसका शुद्ध चैतन्य स्वरूप दमकने लगता है।।४०।।

इत्थं विज्ञाय यो मोहं, दुःख बीजं विमुंचति।
सोऽन्यद्रव्य परित्यागी, कुरुते कर्मसंवरं।।४१।।
दुख का कारण मोह जानकर, कर देते जो उसका त्याग।
अन्य द्रव्य के त्यागी होते, संवर उनके हो गत राग।।४१।।

अर्थ—इस प्रकार जो मनुष्य यह जानकर कि मोह दु:ख का कारण है उसका सर्वथा त्याग कर देते हैं वे अन्य द्रव्यों के भी त्यागी हो जाते हैं और उनके कर्मों का संवर होता है।

भावार्थ—जब तक मोह का त्याग नहीं किया जाता तब तक पर पदार्थों का त्याग नहीं हो सकता क्योंकि मोह के उदय से सदा परपदार्थों में राग द्वेष उत्पन्न हुआ करते हैं तथा जब तक परपदार्थों का त्याग नहीं होता तब तक शांति सुख नहीं मिल सकता क्योंकि परपदार्थों में राग द्वेष के कारण दु:ख भोगना पड़ता है इसलिये जो मनुष्य अपने आत्मा का हित चाहते हैं वे यह विचार कर कि मोह दु:ख का कारण है उसका सर्वथा त्याग कर देते हैं और मोह का त्याग हो जाने से पर पदार्थों में राग द्वेष न होने के कारण उनके पर पदार्थों का भी त्याग हो जाता है इसलिये उनके कर्मों का संवर होता रहता है।।४१।।

शुभाशुभ परद्रव्य, रागद्वेष विधायिनः।
न जातु जायते शुद्धिः, कुर्वतोऽपि चिरं तपः।।४२।।
राग-द्वेष जो करें शुभाशुभ, पर पदार्थ में उनके जान।
तपकर भी चिरकाल में उनके, आत्म शुद्धि न होवे मान।।४२।।

अर्थ—जो मनुष्य शुभ किं वा अशुभ-परपदार्थों में राग और द्वेष करते हैं उनके चिरकाल पर्यन्त तप करने पर भी कभी शुद्धि की प्राप्ति नहीं होती।

भावार्थ—यदि वास्तव में देखा जाय तो राग द्वेष के त्याग का ही नाम तप है क्योंकि जब तक राग द्वेष का त्याग नहीं होता तब तक तप बन ही नहीं सकता इसलिये जो मनुष्य शुभ पदार्थों में राग करते हैं और अशुभ पदार्थों द्वेष करते हैं वे चाहें कितना भी कायक्लेश तप क्यों न तपें कभी आत्मा को विशुद्ध नहीं बना सकते इसलिये आत्मा की विशुद्धि के अभिलाषियों को चाहिये कि वे सबसे पहिले राग द्वेष का त्याग करें।।४२।।

कुर्वाणः कर्म चात्मायं, भुंजानः कर्मणां फलं।
अष्टधा कर्म बध्नाति, कारणं दुःख संततेः।।४३।।
कर्म उपार्जन करे आत्मा, उसका फल सुख-दुख जो पाय।

जिसके कारण अष्ट कर्म का, बंध जीव यह करता जाय।।४३।।

अर्थ—पहिले यह आत्मा कर्मों का उपार्जन करता है उसके बाद कर्मों के सुख दुख आदि फलों को भोगता है पश्चात् फिर भी दुख की परंपरा के कारण आठ प्रकार के कर्मों का बंध करता है।

भावार्थ—कर्मों के नाश करने में प्रधान कारण स्वपर का भेद विज्ञान है जब तक यह भेद विज्ञान आत्मा के अंदर प्रकट नहीं होता तब तक यह आत्मा कर्मों का संचय करता है और उनके सुख दु:ख आदि फलों को भोगता है तथा सुख-दुख आदि के भोगने से इसकी आत्मा में राग द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है इसलिये पुन: यह ज्ञानावरण दर्शनावरण, आदि आठ प्रकार के कर्मों का संचय करता है और फिर अनेक प्रकार के दु:ख भोगता है।।४३।।

सर्वं पौद्गलिकं वेत्ति, कर्मपाकं सदापि यः।
सर्वकर्मबहिर्भूत-मात्मानं स प्रपद्यते।।४४।।

किन्तू आतम सब कर्मों के, उदय को माने पुद्गलवान।
कर्म रहित वह शुद्धातम की, प्राप्ति करे यह जीव महान।।४४।।

अर्थ—किन्तु जो आत्मा समस्त कर्मों के उदय को पुद्गलीक समझता है उसे समस्त कर्मों से रहित विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सर्वकर्मों से रहित-विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति उसी समय हो सकती है जब कर्म और कर्म के फल आदि को भिन्न पुद्गलीक समझ लिया जाता है इसलिए जिन महात्माओं को विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति की अभिलाषा है। उन्हें चाहिए कि वे अवश्य कर्म और कर्म फल आदि को पुद्गल का विकार समझें एवं उन्हें अपने से भिन्न मान किसी प्रकार का राग द्वेष न करें।

ज्ञानवांश्चेतनः शुद्धो, न गृह्णाति न मुंचति।
गृह्णाति मुंचते कर्म, मिथ्याज्ञान मलीमसः।।४५।।

शुद्धचेतना वान ज्ञानमय, कर्म ग्रहण न करते त्याग।
कर्म ग्रहण या त्याग करें जो, मोही प्राणी करते राग।।४५।।

अर्थ—जो मनुष्य ज्ञानी हैं–भले प्रकार स्वपर के भेद को जानते हैं और शुद्ध हैं वे तो न कर्मों को ग्रहण करते हैं न छोड़ते हैं किंतु जो मिथ्याज्ञान से मलिन हैं वे सदा कर्मों का ग्रहण और त्याग करते रहते हैं।

भावार्थ—कर्मों के ग्रहण और छोड़ने में कारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान आदि हैं अर्थात् जब

तक पदार्थों का विपरीत श्रद्धान वा ज्ञान रहता है तब तक सदा कर्म आते रहते हैं और अपनी स्थिति पूरी कर खिरते रहते हैं किंतु जिस समय मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान आदि नष्ट हो जाते हैं, निश्चय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि की प्राप्ति हो जाती है और आत्मा विशुद्ध हो जाता है उस समय कर्मों का ग्रहण करना और छूटना बंद हो जाता है। जो महात्मा ज्ञानवान हैं–सम्यग्ज्ञान आदि विभूति से मण्डित हैं और शुद्ध हैं उनके कर्मों का ग्रहण वा छूटना नहीं होता किंतु मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी हैं–जिनको पदार्थों का श्रद्धान वा ज्ञान विपरीत रहता है वे सदा कर्मों का ग्रहण और मोचन करते रहते हैं।।४५।।

सामायिके स्तवे भक्त्या, वंदनायां प्रतिक्रमे।
प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे, वर्तमानस्य संवरः।।४६।।
सामयिक जो स्तुति वंदन, प्रतिक्रमण कर प्रत्याख्यान।
कायोत्सर्ग आवश्यककारी, कर्म का संवर करते मान।।४६।।

अर्थ–जो महानुभाव भक्तिपूर्वक सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों का आचरण करता हैं उसके कर्मों का संवर हुआ करता है।।४६।।

यत्सर्व द्रव्य संदर्भे, राग-द्वेष व्यपोहनं।
आत्म तत्त्व निविष्टस्य, तत्सामायिक-मुच्यते।।४७।।
आत्म तत्त्व के जो स्वरूप में, नित्य निरंतर रहते ध्यानी जान।
राग द्वेष का त्याग हो उनके, सामायिक यह कही महान् ।।४७।।

अर्थ–जो महानुभाव आत्मतत्त्व के स्वरूप के ध्यान में लीन रहते हैं उनका जो समस्त द्रव्यों में राग द्वेष का त्याग रहता है उसी का नाम सामायिक है।

भावार्थ–जो अपने ज्ञान से समस्त पदार्थों को जाने उसका नाम समय अर्थात् आत्मा है और जो आत्मा में हो उसका नाम सामायिक है तो जिस समय आत्मतत्त्व के रस के आस्वादन करने वाले मनुष्यों की आत्मा में समस्त पदार्थों के राग और द्वेष का त्याग हो जाता है उसे सामायिक कहते हैं।।४७।।

रत्नत्रयमयं शुद्धं, चेतन चेतनात्मकं।
विविक्तं स्तुवतो नित्यं, स्तवज्ञैः स्तूयते स्तवः।।४८।।
रत्नत्रय युत शुद्ध चेतना, गुणधर कर्मोपाधि विहीन।
आतम स्तुतिकारी स्तवन, ज्ञाता माने ज्ञान प्रवीण।।४८।।

अर्थ–जो पुरुष रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध, चैतन्य गुणों के धारक और समस्त कर्मजनित

उपाधियों से रहित आत्मा की स्तुति करता है स्तवन के जानकार महापुरुषों ने उसके स्तवन को उत्तम स्तवन माना है।

भावार्थ–जिस स्तवन से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप विशुद्ध, अनंत सौख्य आदि चैतन्य गुणस्वरूप, और समस्तकर्मों से विशुद्ध आत्मा की प्रशंसा की जाती है वही वास्तविक स्तवन है किंतु राग द्वेष विशिष्ट राजा आदि की वा उनके कार्यों की प्रशंसा करना स्तवन नहीं इसलिये ऐसे ही वास्तविक स्तवन से कर्मों का आगमन रुकता है।।४८।।

पवित्र दर्शन ज्ञान, चारित्र मय मुत्तमं।
आत्मानं वंद्यमानस्य, वंदनाऽकथि कोविदैः।।४९।।
दर्शनज्ञान चारितमय उत्तम, आतम का जो वंदनकार।
है पवित्र वह आत्म वंदना, ज्ञानी जन करते स्वीकार।।४९।।

अर्थ–तथा जो पुरुष पवित्र दर्शन ज्ञान और चारित्र स्वरूप उत्तम आत्मा की वंदना करता है। विद्वानों ने उसी वंदना का उत्तम वंदना कहा है।

भावार्थ–बहुत से लोग मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र को आचरण करने वाले सभी रागी और द्वेषी आत्माओं की वंदना करते हैं परंतु वह यथार्थ वंदना नहीं किंतु जो आत्मा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप है–उत्तम-राग द्वेष आदि से रहित है उसी की वंदना करना वास्तविक वंदना है।।४९।।

कृतानां कर्मणां पूर्वं, सर्वेषां पाक-मीयुषां।
आत्मीयत्व परित्यागः, प्रतिक्रमण-मीर्यते।।५०।।
पहले किए हुए कर्मों के, जो प्रदत्त फल को पहचान।
अपना नहीं मानना भाई, प्रतिक्रमण कहलाए प्रधान।।५०।।

अर्थ–पहले किसी किये हुए कर्मों के प्रदत्त फलों को अपना न मानना प्रतिक्रमण कहा जाता है।

भावार्थ–जो कुछ मैंने जीवों की विराधना की है उन्हें दुःख पहुँचाया है वह पूर्व में किये हुये कर्मों के उदय में आने से परवश हो पहुँचाया है उनसे मेरा कोई संबंध नहीं इस प्रकार के भाव करना प्रतिक्रमण है।।५०।।

आगम्यागो निमित्तानां, भावानां प्रतिषेधनं।

प्रत्याख्यानं समादिष्टं, विविक्तात्म विलोकिनः।।५१।।

कर्म जनित जो रहित वासना, आतम को जो देखे जान।

पाप के कारण भाव त्याग है, प्रत्याख्यान इसी को मान।।५१।।

अर्थ—जो महापुरुष समस्त कर्मजनित वासनाओं से रहित आत्मा को देखने वाले हैं उनके जो पापों के आने में कारण भूत भावों का त्याग है उसे प्रत्याख्यान कहते हैं।

भावार्थ—प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है इसलिये जिन भावों से कर्मों का आगमन होता है उन भावों का सर्वथा त्याग कर देना प्रत्याख्यान है और यह प्रत्याख्यान उन्हीं महापुरुषों के होता है जो समस्त कर्मजनित उपाधियों से रहित आत्मा के निहारने वाले हैं।।५१।।

ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं, नश्वरं कर्मनिर्मितं।

न तस्य वर्तते कार्ये, कायोत्सर्गं करोति सः।।५२।।

देह अचेतन विनाशीक हैं, कर्म जनित है उसके जान।

पोषण नहीं करे उसका जो, कहलाए कायोत्सर्गवान।।५२।।

अर्थ—जो महानुभाव यह समझकर कि यह शरीर अचेतन है, विनाशीक है और कर्मों से उत्पन्न हुआ है, उसके लिये कुछ कार्य नहीं करता अर्थात् उत्तमोत्तम भोजन भूषण आदि से उसका भरण पोषण नहीं करता वह मनुष्य कायोत्सर्ग का धारक गिना जाता है।

भावार्थ—शरीर में किसी प्रकार का ममत्व परिणाम न रखना कायोत्सर्ग है। जो मनुष्य शरीर को अपना मानकर उसका रात दिन भरण पोषण करता है उसके कायोत्सर्ग नहीं होता किन्तु जो यह समझता है कि शरीर अचेतन है मैं चेतन हूँ, शरीर विनाशीक हैं मैं अविनाशी हूँ, शरीर कर्म जनित उपाधि हैं मैं कर्म रहित परम शुद्ध हूँ इसीलिये उसके भरण पोषण के लिये किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करता उसके कायोत्सर्ग होता है।।५२।।

यः षडावश्यकं योगी, स्वात्म तत्त्व व्यवस्थितः।

अनालस्यः करोत्येव, संवृतिस्तस्य रेफसां।।५३।।

योगी आत्मलीन निश्चल हो, निरालस्य सामायिक आदि।

षड् आवश्यक पालन करता, उसके हो संवर मिथ्यादि।।५३।।

अर्थ—इस प्रकार जो योगी अपने आत्मतत्त्व में निश्चल रूप से स्थित और आलस रहित होकर सामायिक आदि छह आवश्यकों को पालता है उसके अवश्य कर्मों का संवर होता है।

भावार्थ—ऊपर कह दिया जा चुका है कि सामायिक स्तव वंदना आदि छह आवश्यकों का पालन कर्मों के संवर के लिये किया जाता है तथा आवश्यकों का पालन उसी समय हो सकता है जिस समय निश्चलरूप से आत्म स्वरूप में स्थिति हो और किसी प्रकार का आलस्य न किया जाय इसलिये जो योगी निश्चलरूप से आत्मस्वरूप में लीन होकर आलस्य का सर्वथा परित्यागकर उपर्युक्त छह आवश्यकों का पालन करता है उसके अवश्य कर्मों का संवर होता है।।५३।। तथा–

मिथ्याज्ञानं परित्यज्य, सम्यग्ज्ञानपरायणः।
आत्मनात्म परिज्ञायी, विधत्ते रोध-मेनसां।।५४।।
मिथ्याज्ञान त्याग जो सम्यक्, ज्ञान में रहते लीन सदैव।
निज स्वरूप के ज्ञाता हैं वे, कर्म का संवर करते एव।।५४।।

अर्थ—जो महानुभाव मिथ्याज्ञान का सर्वथा त्यागकर सम्यग्ज्ञान में लीन रहता है और अपने से ही अपने स्वरूप का जानने वाला है उसके पापों का संवर होता है नवीन कर्मों का उसकी आत्मा में आगमन नहीं होता।।५४।।

द्रव्यतो भोजकः कश्चिद्-भावतोस्ति त्वभोजकः।
भावतो भोजकस्त्वन्यो, द्रव्यतोस्ति त्वभोजकः।।५५।।
ज्ञानी द्रव्य विषय के भोगी, भाव भोग करते परित्याग।
अज्ञानी द्रव्य से न भोगें, भाव भोग में करते राग।।५५।।

अर्थ—जो पुरुष ज्ञानी हैं वे द्रव्यरूप से विषयों के भोगने वाले होने पर भी भावरूप से भोगने वाले नहीं हैं और जो अज्ञानी हैं वे द्रव्यरूप से भोगने वाले न होकर भी भावरूप से भोगने वाले हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष स्व पर का पूर्ण भेद जानता है इसलिये वह असमर्थता के कारण द्रव्यरूप से विषयों का भोग करता है परन्तु उनमें आसक्ति न होने के कारण भावरूप से भोग नहीं करता परंतु जो पुरुष अज्ञानी है हित अहित के विचार से सर्वथा शून्य है वह द्रव्यरूप से विषयों का भोग न भी करे तथापि विषयों में अति अनुरक्तता होने के कारण भावरूप से अवश्य विषयों का भोग करता है अर्थात् सदा उसके परिणाम ऐसे बने रहते हैं कि कब अमुक विषय मिले और कब मैं उसका भोग करूँ।।५५।। इसलिये–

द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति, स पूज्यो व्यवहारिभिः।

भावतो यो निवृत्तोसौ, पूज्यो मोक्षं यियासुभिः।।५६।।
व्यवहारी द्रव्य निवृत की भी, पूजा कर सकते हैं जान।
मोक्षाभिलाषी भाव रूप से, निवृत के पूजक हों मान।।५६।।

अर्थ–जो मनुष्य व्यवहारी हैं वे द्रव्यरूप से निवृत्त भी मनुष्य की पूजा कर सकते हैं किन्तु जो मोक्षाभिलाषी हैं–मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं भावरूप से निवृत्त मनुष्यों की ही पूजा करनी चाहिये।

भावार्थ–जो मनुष्य व्यवहारी हैं उन्हें कार्य को सिद्धि काल में सब प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं इसलिये वे किसी प्रयोजन से केवल द्रव्य रूप से विषयों के न सेवन करने वाले मनुष्यों का भी पूजन कर सकते हैं किंतु जिन महानुभावों को मोक्ष प्राप्त करना है और जो संसार संबंधी प्रयोजनों से विमुख हैं–उन्हें भावरूप से विषयों से पराङ्मुख मनुष्यों की ही पूजा करनी चाहिये।।५६।। क्योंकि-

द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य, नास्ति निर्वृति-रेनसां।
भावतोस्ति निवृत्तस्य, तात्त्विकी संवृतिः पुनः।।५७।।
द्रव्य विषय से निवृत हैं, जो पाप से वे ना हो निवृत।
भाव से निवृत हैं जो ज्ञानी, वे संसार में होय प्रवृत्त।।५७।।

अर्थ–जो मनुष्य केवल द्रव्यरूप से विषयों से निवृत्त हैं उनके पापों की निवृत्ति नहीं किंतु जो भावरूप से निवृत्त है उन्हीं के वास्तविक रूप से कर्मों का संवर होता है।

भावार्थ–कर्मों का आना जाना परिणामों के ऊपर निर्भर है यदि जीव के परिणाम रागरूप रहेंगे तो वह कितना ही ऊपर से ढोंग क्यों न रचे अवश्य उसके कर्मों का आगमन होता रहेगा और यदि उसके परिणामों में राग नहीं है और वह कथंचित् विषय आदि में प्रवृत्त भी है तथापि उसके कर्मों का संवर होता है यहाँ पर ग्रंथकार ने यही आशय इस श्लोक से प्रकट किया है अर्थात् यदि कोई पुरुष द्रव्यरूप से विषय आदि से निवृत्त है–प्रत्यक्षरूप से विषय सेवन आदि कार्य नहीं करता। किंतु परिणामों में उनके सेवन की लालसा रखता है उस मनुष्य के अवश्य पापों का आस्रव होता है किंतु जिस मनुष्य की विषय सेवन में लालसा नहीं होता है। उन्हीं के वास्तविक रूप से कर्मों का सम्वर होता है।।५७।। इसलिये–

विज्ञायेति निराकृत्य, निवृत्तिं द्रव्यतस्-त्रिधा।
भाव्यं भावनिवृत्तेन, समस्तैनो-निषिद्धये।।५८।।
द्रव्यभाव निवृत्ति जानकर, द्रव्यविषय से निवृतमान।
सब पापों के नाश हेतु वे, भाव निवृत्ति पाएँ महान्।।५८।।

अर्थ–जो पुरुष विद्वान हैं उन्हें द्रव्य और भावरूप निवृत्ति का भले प्रकार स्वरूप जानकर और मन वचन काय से द्रव्यरूप से विषयों से निवृत्त होकर समस्त पापों के नाशार्थ भावरूप से भी विषयों से निवृत्त हो जाना चाहिये।

भावार्थ–यद्यपि द्रव्यरूप से विषयों की निवृत्ति की अपेक्षा भावरूप से निवृत्ति उत्कृष्ट है परंतु केवल भावनिवृत्ति से भी समस्त पापों का नाश नहीं हो सकता इसलिये जो महानुभाव विद्वान हैं उन्हें चाहिये कि समस्त पापों के नाशार्थ पहिले मन वचन काय से द्रव्यरूप से विषयों से निवृत्ति करें पश्चात् भावरूप से भी निवृत्त हों।।५८।।

शरीरमात्मनो भिन्नं, लिंगं येन तदात्मकं।
न मुक्तिकारणं लिंगं, जायते तेन तत्त्वतः।।५९।।
भिन्न आत्मा से शरीर है, लिंग शरीर स्वरूप प्रधान।
निश्चय से हैं भिन्न आत्म से, मुक्ति का कारण अतः न मान।।५९।।
यन्मुक्तिं गच्छता त्याज्यं, न मुक्तिर्-जायते ततः।
अन्यथा कारणं तस्य, कर्म केन निवर्तते।।६०।।
लिंग मुक्त हो मुक्त जीव तो, यदि मुक्ती में कारण जान।
तो फिर कर्म के कारणपन को, कौन निषेध करेगा मान।।६०।।

अर्थ–शरीर आत्मा से भिन्न है और लिंग शरीरस्वरूप है इसलिये आत्मा से भिन्न होने के कारण निश्चयनय से लिंग मोक्ष का कारण नहीं। क्योंकि मुक्तावस्था में जिस पदार्थ का संबंध छूट जाता है वह मोक्ष में कारण नहीं हो सकता। लिंग मोक्षावस्था में छूट जाता है इसलिये वह उसमें कारण नहीं। यदि भिन्न होने पर लिंग को मोक्ष की प्राप्ति में कारण माना जायेगा तब कर्म को कारण पने का कौन निषेध करेगा?

भावार्थ–यदि व्यवहार से देखा जाय तो शरीर वा लिङ्ग भी मोक्ष में कारण हैं क्योंकि जब

तक शरीर को तप में न लगाया जायेगा और दिगम्बर लिङ्ग न धारण न किया जायेगा तब तक कर्मों का क्षय नहीं हो सकता और कर्मों का बिना क्षय किये मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, परंतु निश्चयनय से लिङ्ग मोक्ष की प्राप्ति में कारण नहीं हो सकता क्योंकि जिसका आत्मा के साथ अभेद संबंध है और जो मुक्तावस्था में विद्यमान रहता है–छूटता नहीं, वही मुक्ति का कारण हो सकता है लिङ्ग शरीरस्वरूप होने से आत्मा से भिन्न है और वह मुक्तावस्था में छूट जाता है यदि शरीर वा लिङ्ग को भी मोक्ष का कारण मान लिया जायेगा तो ज्ञानावरण आदि कर्म भी मोक्ष के कारण कहने पड़ेंगे क्योंकि जिस प्रकार शरीर वा लिङ्ग आत्मा से भिन्न है और मुक्तावस्था में छूट जाता है उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से भिन्न है तथा मुक्तावस्था में छूट जाता है।।५९-६०।।

अचेतनं ततः सर्वं, परित्याज्यं मुमुक्षुणा।
चेतनं सर्वदा सेव्यं, स्वात्मस्थं संवरार्थिना।।६१।।
संवरार्थी जो हैं मुमुक्षु वे, सर्व अचेतन कर दें त्याग।
आत्मीक चेतन पदार्थ हैं, उनमें करें सदा अनुराग।।६१।।

अर्थ–अंत में ग्रन्थकार उपसंहार करते हुये लिखते हैं कि जो महानुभाव मुमुक्षु हैं–मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और संवरार्थी हैं कर्मों के संवर की अभिलाषा रखते हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त अचेतन पदार्थों का त्याग करें और जो आत्मिक चेतन पदार्थ हैं उनका सेवन करें।

भावार्थ–ऊपर चेतन अचेतन पदार्थों को बतला आये हैं और यह भी कह आये हैं कि अचेतन पदार्थों का आश्रय हानिकारक है एवं आत्मिक चेतन पदार्थों के आश्रय से कल्याण की प्राप्ति होती है इसलिये यहाँ ग्रंथकार सबका संक्षेप में सार बतलाते हैं कि जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और कर्मों के संवर के आकांक्षी हैं उन्हें चाहिये कि वे अचेतन पदार्थों का सर्वथा त्याग कर दें और आत्मिक चेतन पदार्थों को अपनावें क्यों कि अचेतन पदार्थों के अपनाने से संवर वा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती किंतु आत्मिक चेतन पदार्थों के अपनाने से ही संवर और मोक्ष मिल सकते हैं।।६१।।

आत्मतत्त्व-महस्तित रागं, ज्ञान-दर्शन चरित्रमयं यः।
मुक्तिमार्ग-मवगच्छति योगी, संवृणोति दुरितानि स सद्यः।।६२।।
राग रहित आतम स्वरूप जो, सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र।
मोक्षमार्ग को प्राप्त हुए हैं, योगी संवर करें पवित्र।।६२।।

इति अमितगति आचार्य विरचित योगसार पंचमोध्यायः।

अर्थ–जो योगी रागभाव से रहित, आत्मा के स्वरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग को प्राप्त हो चुका है वह योगी शीघ्र ही समस्त पापों का संवर करता है–अर्थात् किसी नवीन कर्म का आस्रव उसकी आत्मा में नहीं होता।

भावार्थ–सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रस्वरूप समुदाय को मोक्षमार्ग बतलाया है और वह रागरहित आत्मस्वरूप है इसलिये जो योगी इस प्रकार मोक्षमार्ग को प्राप्त कर चुका है उसके ही पापों का संवर होता है और जिसको यह प्राप्त नहीं उसके सदा कर्मों का आस्रव हुआ करता है।।६२।।

इस प्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित श्री विशदसागराचार्य अनुवादित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथ में संवराधिकार समाप्त हुआ।।५।।

❑❑

मन से मनन करें–

हम अपनी सफलता पर कितने खुश होते हैं और आगे क्या करना है।
हमारा अपनों के प्रति कितना सद्भाव है।
हम ईर्ष्यालू से कितने सावधान हैं।
हम कितने गुणग्राही हैं।
हम मित्र या शत्रू की बात को कितने ध्यान से सुन रहे हैं।
हमने कितना यथार्थ को जानने का प्रयत्न किया।
हम कितने अनुशासन प्रिय हैं।
हमने कितनी अपनी कमी स्वीकार की।
हम असफलता में कितना धैर्य धारण कर रहे हैं और पूर्वकृत कर्म विपाक के फल के बारे में सोच रहे हैं।
हम कितना श्रेष्ठ कार्य कर रहे हैं।
हम कितना सुनते हैं कितना बोलते हैं उसमें क्या उचित है।
हम कितनी आज्ञा पालन करते हैं? या औरों से कराना चाहते हैं।

अथ निर्जराधिकार ।।६।।

पूर्वोपार्जित कर्मैक, देश संक्षय लक्षणा।
निर्जरा जायते द्वेधा, पाकजाऽपाकजात्वतः।।१।।
पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय, एक देश हो कहे जिनेश।
होय निर्जरा दो प्रकार से, सविपाक अविपाक विशेष।।१।।

अर्थ—पहिले उपार्जन किये हुये कर्मों का एकदेशरूप से क्षय होना है उसका नाम निर्जरा है और वह पाकजा और अपाकजा के भेद से दो प्रकार की है।

भावार्थ—पहले कह दिया गया है जिसके द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाय उसे संवर कहते हैं इसलिये जिस समय यह आत्मा संवर स्वरूप को प्राप्त कर लेता है उस समय नवीन कर्म तो इसकी आत्मा में आते नहीं परंतु जो कर्म पहिले से संचित हैं उनका नाश कैसे होता है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा प्रश्न होने पर उनके नाश की कारण निर्जरा का यहाँ वर्णन किया जाता है। निर्जरा का सामान्य अर्थ कर्मों का झड़ना है और विशेष अर्थ–एक देशरूप से कर्मों का झड़ना यह है। यह निर्जरा दो प्रकार की है एक सविपाकजा और दूसरी अविपाकजा। स्थिति पूरी हो जाने पर जो स्वयं कर्मों का खिर जाना है वह सविपाक निर्जरा है और यह हर एक संसारी जीव के प्रतिसमय हुआ करती है तथा कर्मों की स्थिति पूरी हो या न हो तप आदि के द्वारा उनकी स्थिति पूरी कर जो कर्मों का मध्य में ही खिरा देना वह अविपाक निर्जरा है यह निर्जरा संवर के बाद होती है, और इसी निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।।१।।

प्रक्षयः पाकजातायां, पक्कस्यैव प्रजायते।
निर्जराया-मपक्वायां, पक्वापक्वस्य कर्मणः।।२।।
कर्मों की स्थिति पूर्णकर, कर्म का हो क्षय यह सविपाक।
पक्व अपक्व कर्मक्षय दोनों, कहलाते हैं जो अविपाक।।२।।
शुष्काशुष्का यथा वृक्षा, दह्यंते दववह्निना।
पक्वापक्वास्तथा ध्यान, प्रक्रमेणाघ संचयाः।।३।।

वन में अग्नी के लगते ज्यों, हरे शुष्क जलते तरुजान।
ध्यानाभ्यास से कर्मों का क्षय, त्योंही दोनों होय ध्यान।।३।।

अर्थ—पाकजा अर्थात् सविपाकनिर्जरा में पक्व-अर्थात् पूर्ण स्थितिवाले कर्मों का ही क्षय होता है और अपाकजा-अविपाक निर्जरा से पक्व-अपक्व दोनों प्रकार के कर्मों का नाश होता है क्योंकि जिसप्रकार वन में लगी हुई अग्नि से सूखे हरे समस्त प्रकार के वृक्ष जलकर खाक हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यान के अभ्यास से पक्व अपव्व दोनों प्रकार के कर्म खिर पड़ते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार वृक्ष पर जब फल पक जाते हैं उस समय वे अपने आप खिर पड़ते हैं उसी प्रकार जिस समय कर्म पक जाते हैं अर्थात् अपनी स्थिति पूरी कर लेते हैं उस समय स्वयं नष्ट होजाते हैं यह सविपाक निर्जरा है और जिसप्रकार डंडे आदि से पके कच्चे दोनों प्रकार के फल मध्य में ही गिरा दिये जाते हैं उसी प्रकार ध्यान के द्वारा पूर्ण स्थिति वाले वा अपूर्ण स्थिति वाले दोनों प्रकार के कर्मों का नाश कर देना अविपाक निर्जरा है। यह सविपाक वा अविपाक निर्जरा का प्रचलित दृष्टांत दिया गया है किंतु यहाँ ग्रंथकार को अभिमत यह दृष्टांत है–कि जिस प्रकार वृक्ष सूखकर अपने आप गिर जाता है उसी प्रकार जो कर्मों की स्थिति पूरी होने पर स्वयं खिर जाना है वह सविपाक निर्जरा है और जिसप्रकार वन में लगी हुई अग्नि से हरे सूखे समस्त प्रकार के वृक्ष जलकर खाक हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा पूर्णस्थिति वाले वा अपूर्ण स्थिति वाले दोनों प्रकार के कर्मों का मध्य में ही नाश हो जाना है वही अविपाक निर्जरा है।।२-३।।

दूरीकृतकषायस्य, विशुद्ध ध्यान लक्षणः।
विधत्ते प्रक्रमः साधोः, कर्मणां निर्जरां परां।।४।।

साधु कषायों विरहित उनका, तीन योग से करना ध्यान।
होय निर्जरा अविपाकज तप, ऐसा कहते हैं भगवान।।४।।

अर्थ—जो साधु समस्त कषायों से रहित है उसका जो विशुद्ध ध्यान करना रूप अभ्यास है उसके द्वारा अविपाक निर्जरा होती है।

भावार्थ—यह कह दिया जा चुका है कि अविपाक निर्जरा में प्रधान कारण ध्यान और ध्यान उसी योगी का ग्रहण किया गया है जो समस्त कषायों से रहित हैं इसलिये जो योगी अविपाक निर्जरा के अभिलाषी हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त कषायों का नाश कर शुद्ध ध्यान का अवलंबन करें जिससे उनके कर्मों की अविपाक निर्जरा हो जाय।।४।। तथा

आत्मतत्त्वरतो योगी, कृत कल्मष संवरः।
यो ध्याने वर्तते नित्यं, कर्म निर्जीर्यतेऽमुना।।५।।
योगी आत्म तत्त्व में रत हो, कर्मों के हैं संवर जान।
ध्यानालीन के होय निर्जरा, ऐसा कहते हैं भगवान।।५।।

अर्थ–जो योगी आत्मस्वरूप में लीन हैं और कर्मों का संवर कर चुके हैं वे जिस समय ध्यान में लीन होते हैं उस समय उनके कर्मों की निर्जरा होती है।।५।। किंतु–

संवरेण विना साधोर्-नास्ति पातकनिर्जरा।
नूतनांभः प्रवेशेस्ति, सरसो रिक्तता कुतः।।६।।
ज्यों नवीन जलके आने पर, खाली नहीं सरोवर होय
बिन संवर के कर्मनिर्जरा, अविपाकी ना होवे सोय।।६।।

अर्थ–जिस प्रकार नवीन जल के आने पर सरोवर खाली नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना संवर के साधु के कर्मों की अविपाक निर्जरा नहीं हो सकती।

भावार्थ–सरोवर उसी समय रिक्त हो सकती है जब कि उसमें नवीन जल लाने वाली नालियाँ बंद कर दी जांय किन्तु जब तक उसमें नवीन पानी आता रहेगा तब तक वह सदा जल से भरा पूरा रहेगा उसी प्रकार जब तक आत्मा संवर अवस्था को धारण न करेगा तब तक उसके कभी अविपाक निर्जरा नहीं हो सकती क्योंकि- अविपाक निर्जरा संवर के बाद होती है और जब तक नवीन कर्म आते रहेंगे तब तक संवर प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये जब तक संवर न होगा तब तब अविपाक निर्जरा का होना असंभव है।।६।।

रत्नत्रयमयं ध्यान-मात्मरूप प्ररूपकं।
अनन्यगत चित्तस्य, विधत्ते कर्मसंक्षयं।।७।।
आत्म तत्त्व धारक योगी जन, आत्म स्वरूप प्ररूपणकार।
रत्नत्रय स्वरूप ध्यान से, कर्मनाश हों अपरंपार।।७।।

अर्थ–जो योगी अनन्यगतचित्त का धारक है–परपदार्थों में चित्त न लगाकर केवल आत्मा का विचार करने वाला है उस योगी का आत्मा के स्वरूप की प्ररूपणा करने वाला एवं रत्नत्रयस्वरूप ध्यान कर्मों का नाश करता है।

भावार्थ–मन-की गति बड़ी चञ्चल है। जब तक यह पर पदार्थों में फंसा रहता है–आत्मा का विचार न कर पर पदार्थों का ही विचार करता रहता है तब तक कभी यह रत्नत्रयस्वरूप और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्ररूपण करने वाले ध्यान को प्राप्त नहीं हो सकता और जब तक ऐसा ध्यान नहीं प्राप्त होता तबतक कर्मों का क्षय नहीं हो सकता इसलिये जो योगी कर्मों का क्षय करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे परपदार्थों में चित्त न लगाकर केवल आत्मा की ओर उसे लगावें जिससे उन्हें आत्मस्वरूप को प्रकटरूप से जनाने वाले रत्नत्रय स्वरूप ध्यान की प्राप्ति हो और उससे कर्मों का नाश हो।।७।।

त्यक्तांतरेतरग्रंथो, निर्व्यापारो जितेंद्रियः।
लोकाचारपराचीनो-मलं क्षालयतेऽखिलं।।८।।

बाह्याभ्यन्तर परिग्रह त्यागी, इंद्रिय जय त्यागी व्यापार।
लौकिक सब व्यापारों विरहित, करें सर्व कर्मों का क्षार।।८।।

अर्थ–जो योगी बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह के त्यागी हैं–निर्व्यापार-किसी प्रकार का व्यापार नहीं करते इंद्रियों के जीतने वाले और समस्त लौकिक व्यवहार से पराङ्मुख हैं वे समस्त कर्मों का नाश कर देते हैं।

भावार्थ–'ममेदं' यह मेरा है ऐसा जो मोहयुक्त भाव है उसे परिग्रह कहते हैं। यह परिग्रह वाह्य अभ्यंतर के भेद से दो प्रकार का है। सुवर्ण रजत आदि मेरे हैं ऐसा भाव बाह्य परिग्रह है और राग-द्वेष आदि अंतरंग परिग्रह हैं। जब तक यह आत्मा इस परिग्रह में में फसा रहता है तब तक यह अनेक प्रकार के व्यापार करता रहता है, इंद्रियां भी इसकी वश नहीं रहती और सब प्रकार के लोक व्यवहार में तत्तचित्त रहता है इसलिये इसके सदा कर्मबंध हुआ करता है किन्तु जिस समय इसका बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों से ममत्व हट जाता है उस समय इसका व्यापार करना भी छूट जाता है। इंद्रियाँ भी विषयों की ओर नहीं दौड़ती और लोकव्यवहार से भी सर्वथा विमुखता आ जाती है इसलिये उस समय इसके कर्मों का नाश होता रहता है।।८।।

शुभाशुभ विशुद्धेषु, भावेषु प्रथम-द्वयं।
यो विहायांतिमं धत्ते, क्षीयते तस्य कल्मषं।।९।।

भाव शुभाशुभ शुद्ध भेद त्रय, योगी आदिक के द्वय जान।
रहित शुद्ध भावों को धारण, कर पापों का क्षय हो मान।।९।।

अर्थ—शुभ अशुभ और विशुद्ध के भेद से भाव तीन प्रकार के हैं उनमें जो योगी आदि के दो अर्थात् शुभ अशुभ दोनों भावों को छोड़कर अंत के विशुद्ध भावों को धारण करता है उसके पापों का क्षय होता है।

भावार्थ—समस्त प्राणियों में मित्रता, गुणियों को देखकर हर्षित होना, दीन जीवों पर दया करनी आदि शुभ भाव है। समस्त जीवों में शत्रुता, गुणियों को देखकर डाह ईर्षा आदि करना अशुभ भाव हैं और दोनों से विरुद्ध केवल आत्मस्वरूप का विचार करने वाले विशुद्ध भाव हैं। इनमें शुभ भावों से पुण्य, अशुभभावों से पाप और विशुद्धभावों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य विशुद्ध भावों की ओर ध्यान न देकर शुभ और अशुभ भावों को करते रहते हैं उनके कर्मों का नाश नहीं होता किंतु उनसे पुण्य पाप की उत्पत्ति होती है और पुण्य किं वा पाप से संसार में घूमना पड़ता है किंतु जो योगी शुभ अशुभ दोनों भावों का सर्वथा त्याग कर विशुद्ध भावों को धारण करते हैं उनके कर्मों का क्षय होता है।।१।।

बाह्यमाभ्यंतरं द्वेधा, प्रत्येकं कुर्वता तपः।
नैनो निर्जीर्यते शुद्ध-मात्मतत्त्व-मजानता।।१०।।
शुद्ध आत्म स्वरूप न जानें, बाह्यभ्यंतर तप को धार।
कर्म निर्जरा हो न फिर भी, भ्रमण करे प्राणी संसार।।१०।।

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं जानता है वह चाहे बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार के तप करे वा एक प्रकार का करे कभी कर्मों की निर्जरा नहीं कर सकता।

भावार्थ—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश के भेद से छह प्रकार का बाह्य तप और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग के भेद से छह प्रकार का अभ्यंतर तप है। जिस समय यह बारह प्रकार का तप शुद्ध आत्मस्वरूप को जानकर तपा जाता है उस समय इससे कर्मों की निर्जरा होती है और जिस समय अज्ञान पूर्वक तप किया जाता है उस समय कर्मबंध होता है इसलिये जो पुरुष अज्ञानी है—भले प्रकार शुद्ध आत्मा के स्वरूप को नहीं जानता वह उपर्युक्त दोनों प्रकार के तप वा एक प्रकार के तप करने पर भी कर्मों की निर्जरा नहीं कर सकता इसलिये तपस्वियों को सबसे प्रथम शुद्ध आत्मा के स्वरूप का जानना आवश्यकीय है।।१०।।

कर्म निर्जीयते पूतं, वि दधानेन संयमं।
आत्मतत्त्व निवष्टेन, जिनागम निवेदितं।।११।।

शुद्ध आत्म स्वरूप लीन जो, जैनगम में शास्त्र स्वरूप।
कहा गया वैसा करता है, कर्म निर्जरा कर निज रूप।।११।।

अर्थ–जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन है और जैनशास्त्र में जैसा संयम का स्वरूप बतलाया है उसीप्रकार के पवित्र संयम का आचरण करने वाला है वह नियम से कर्मों की निर्जरा करता है।

भावार्थ–यदि आत्मस्वरूप का भले प्रकार ज्ञान न हो और संयम का पालन किया जाय तब भी कर्मों की निर्जरा नहीं होती तथा आत्मस्वरूप का ज्ञान रहने पर भी यदि संयम न पाला जाय तब भी कर्म निर्जीर्ण नहीं हो सकते इसलिये कर्मों की अविपाक निर्जरा में आत्मस्वरूप के ज्ञान के साथ पवित्र संयम का पालन करना ही कारण है।।११।।

अन्याचार परावृत्तः, स्वतत्त्व चरणादृतः।
संपूर्णसंयमो योगी, वि धुनोति रजः स्वयं।।१२।।

सर्वाचरण विमुख जो योगी, आत्म स्वरूप आचरणवान।
संयम का पालन अखंड कर, कर्मनाश पाए निर्वाण।।१२।।

अर्थ–जो योगी अन्य समस्त आचरणों से विमुख है, आत्मस्वरूप के आचरण करने में तत्पर है और अखंड संयम का पालन करने वाला है वह योगी स्वयं समस्त कर्मों का नाश कर देता है अर्थात् ऐसे योगी के कर्मरज स्वयं नष्ट हो जाते हैं।।१२।। किंतु–

हित्त्वा लोकोत्तराचारं, लोकाचार मुपैति यः।
संयमो हीयते तस्य, निर्जरायां निबंधनं।।१३।।

शुभाचरण जो छोड़ मूढ़धी, निकृष्ट लौकिक आचारवान।
विशद निर्जरा का कारण जो, उसका संयम नशता मान।।१३।।

अर्थ–जो मूढ़ पुरुष उत्तम आचार को छोड़कर निकृष्ट लौकिक आचार का आचरण करता है उसकी निर्जरा का कारण संयम नष्ट हो जाता है।

भावार्थ–ऊपर कह दिया जा चुका है कि संयम अविपाक निर्जरा में प्रधान कारण है जबतक आत्मज्ञान के साथ संयम न धारण किया जायेगा तबतक अविपाक निर्जरा होनी दुस्साध्य है तथा यह संयम उत्कृष्ट आचार को छोड़कर केवल लोकाचार के आचरण से विद्यमान नहीं रह सकता इसलिये जो पुरुष उत्कृष्ट आचार को छोड़कर लौकिक आचार को अपनाते हैं उनके यथार्थ

संयम का उदय नहीं होता तथा यथार्थ संयम के उदय के अभाव से उनके कर्मों की निर्जरा भी नहीं होती।।१३।। तथा–

चारित्रं वि दधानोऽपि, पवित्रं यदि तत्त्वतः।
श्रद्धत्ते नार्हतं वाक्यं, न शुद्धिं श्रयते तदा।।१४।।
उत्तम चारित पालन कर भी, अरहंतों के वचन प्रमाण।
उन पर जो श्रद्धान करे न, उसे शुद्धि ना होवे मान।।१४।।

अर्थ–पवित्र चारित्र का आचरण करता हुआ भी जो पुरुष वास्तविक रूप से भगवान अर्हंत के वचनों पर श्रद्धान नहीं करता वह मनुष्य शुद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता।

भावार्थ–सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता की प्राप्ति शुद्धि में कारण है यदि इनमें एक की भी न्यूनता रहेगी तो भी कभी शुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती यदि कोई पदार्थ का स्वरूप भले प्रकार जानकर पवित्र चारित्र का आचरण करता है परन्तु भगवान अर्हन्त के वचनों पर श्रद्धान नहीं करता उसके कभी शुद्धि की प्राप्ति नहीं होती इसलिये शुद्धि के अभिलाषियों को चाहिये कि वे जिस प्रकार अखण्ड चारित्र का पालन करते हैं उसी प्रकार भगवान अर्हन्त के वचनों पर श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन को भी अवश्य धारण करें।।१४।।

विचित्रे चरणाचारे, वर्तमानोऽपि संयतः।
जिनागम-मजानानः, सदृशो गत चक्षुषः।।१५।।
जो विचित्र चारित का धारी, श्री जिनेन्द्र का आगम ज्ञान।
शास्त्र रहस्यों को ना जाने, उसको जानो अंध समान।।१५।।

अर्थ–तथा जो संयमी मनुष्य विचित्र चारित्र का आचरण करता हुआ भी यदि भगवान जिनेन्द्र के आगम का ज्ञाता नहीं–शास्त्रों के रहस्य को भले प्रकार नहीं जानता वह (नेत्रवाला होने पर भी) अन्धे के समान है।

भावार्थ–ऊपर के श्लोक में बतला दिया गया है कि बिना सम्यग्दर्शन के धारण किये चारित्र किसी काम का नहीं और यहाँ यह बात बतलाई है कि बिना ज्ञान के चारित्र किसी काम का नहीं क्योंकि शास्त्रज्ञान को भी व्यवहार से सम्यग्ज्ञान कहा है इसलिये जो योगी भले प्रकार चारित्र के आचरण करने पर भी शास्त्रज्ञान-सम्यग्ज्ञान से शून्य है यह सर्वथा अंधा है।।१५।। क्योंकि–

साधूना-मागमस्-चक्षुः भूतानां चक्षु-रिंद्रियं।
देवाना-मवधिश्चक्षुर्निर्-निर्वृताः सर्वचक्षुषः।।१६।।
नेत्र साधु के शास्त्र कहे हैं, चक्षू जग जीवों के जान।
अवधि ज्ञान देवों की आँखें, सर्व चक्षु सिद्धों के मान।।१६।।

अर्थ—साधुओं का नेत्र शास्त्र हैं। प्राणियों का नेत्र चक्षुरिंद्रिय है। देवों का नेत्र अवधिज्ञान है और जो निवृत अर्थात् निर्वाण धाम को प्राप्त सिद्ध है वे सर्वचक्षु अर्थात् केवलज्ञानरूपी नेत्र के धारक हैं वे अपने अखंड ज्ञान से ही समस्त पदार्थों को देखते हैं।।१६।।

प्रदर्शित-मनुष्ठान-मागमेन तपस्विनः।
निर्जराकारणं सर्वं, ज्ञात तत्त्वस्य जायते।।१७।।
जो पदार्थ स्वरूप के ज्ञाता, परम तपस्वी भले प्रकार।
शास्त्र विहित चारित को धारें, यही निर्जरा का है सार।।१७।।

अर्थ—इसलिये जो तपस्वी भले प्रकार पदार्थ के स्वरूप का जानकार है उसके जो शास्त्र में बतलाये हुए चारित्र का आचरण है वह सब निर्जरा का कारण है अर्थात् शास्त्रानुसार चारित्र के आचरण से कर्मों की निर्जरा होती है।।१७।।

अज्ञानी बध्यते यत्र, सेव्यमानेऽक्षगोचरे।
तत्रैव मुच्यते ज्ञानी, पश्यताश्चर्य-मीदृशं।।१८।।
इंद्रिय विषयों का सेवन कर, अज्ञानी के होता बंध।
है आश्चर्य की बात सुज्ञानी, होते जग में सदा अबंध।।१८।।
शुभाशुभविकल्पेन, कर्मायाति शुभाशुभं।
भुज्यमानेऽखिले द्रव्ये, निर्विकल्पस्य निर्जरा।।१९।।
क्योंकि शुभाशुभ हों विकल्प तो, कर्म शुभाशुभ आते जान।
रहित शुभाशुभ के विकल्प से, योगी कर्म निर्जरावान।।१९।।

अर्थ—इंद्रियों के विषयों के सेवन करने पर अज्ञानी के तो कर्म बंध होता है परन्तु ज्ञानी के नहीं उल्टा उसके कर्मों का नाश होता है यह आश्चर्य की बात है। ठीक भी है क्योंकि शुभ अशुभ विकल्पों के करने से शुभ अशुभ कर्मों का आगमन होता है जो योगी शुभ अशुभ विकल्पों को नहीं करता उसके समस्त द्रव्यों के भोगने पर भी कर्मों की निर्जरा ही होती है।

भावार्थ—यह बात ऊपर भी बता दी गई है कि शुभ अशुभ कर्मों के बधने में शुभ अशुभ विकल्प कारण हैं। जब तक यह अच्छा है यह बुरा है इस प्रकार के विकल्प हुआ करते हैं तब तक नियम से कर्मबंध हुआ करता है क्योंकि पदार्थों के अच्छे बुरे मानने से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं और रागद्वेष से कर्मबंध होता है। अज्ञानी मनुष्य जिस समय विषयों का सेवन करता है उस समय उनमें घनिष्ट लोलुपता के कारण राग द्वेष करता रहता है और राग द्वेष से सदा उसके कर्मों का बंध हुआ करता है परंतु ज्ञानी पुरुष जिससमय विषय भोग करता है उस समय वह शुभ अशुभ विकल्प नहीं करता। शुभ अशुभ विकल्पों के न करने से उसके राग द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये उसके कर्मों का बंध नहीं होता, उल्टी निर्जरा ही होती है।

अह-मस्मि न कस्यापि, न ममान्यो बहिस्ततः।
इति निष्किंचनो योगी, धुनी ते निखिलं रजः।।२०।।
कोई ना मेरा मैं न किसी का, सब पदार्थ मुझसे हैं भिन्न।
निष्किंचन ऐसा विचार कर, कर्म नाश कर होय अभिन्न।।२०।।

अर्थ—न तो मैं किसी का हूँ और न कोई मेरा है किंतु समस्त बाह्य पदार्थ मुझसे भिन्न हैं जो योगी ऐसा विचार करने से निष्किंचन है पर पदार्थों को अपनाता नहीं वह समस्त कर्मों का नाश करता है।

भावार्थ—आत्मा में जब तक यह विकल्प हुआ करता है कि स्त्री पुत्र आदि पदार्थों का मैं हूँ और स्त्री पुत्र आदि पदार्थ मेरे हैं तब तक अज्ञानता से कर्मबंध हुआ करता है परंतु जिस समय उक्त विकल्प नष्ट हो जाता है और निराकांक्ष हो मन में यह भावना ही निकलती है कि मैं किसी अन्य पदार्थ का नहीं और मेरा भी कोई पदार्थ नहीं उस समय कर्मों का बंध नहीं होता—वे नष्ट होते रहते हैं।

मुक्त्वा विविक्त-मात्मानं, मुक्त्यै येऽन्य-मुपासते।
ते भजंति हिम मूढ़ा, विमुच्याग्नि हिमच्छिदे।।२१।।
कर्म रहित निर्दोष आत्म तज, अन्य उपाशक मूढ़ महान्।
शीत नाश को अग्नि छोड़कर, बर्फ का सेवन करता मान।।२१।।

अर्थ—समस्त कर्मों से रहित निर्दोष आत्मा को छोड़कर जो मूढ़ मोक्ष के लिये अन्य की उपासना करते हैं वे ठंडी के नाश के लिये अग्नि को छोड़कर बर्फ का सेवन करते हैं ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ—यह बात भले प्रकार निश्चित है कि ठंडी का नाश अग्नि के सेवन से ही हो सकता है बर्फ के सेवन से नहीं किन्तु बर्फ के सेवन से और भी अधिक ठंड का कष्ट भोगना पड़ता है उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति भी कर्मों से रहित निर्दोष आत्मा के सेवन से ही हो सकती है अन्य पदार्थ के उपासन से नहीं किंतु अन्य पदार्थ के उपासन से संसार में घूमना पड़ता है और नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं और जो पुरुष ठंडी के नाश के लिये अग्नि को छोड़कर बर्फ का सेवन करता है वह जिस प्रकार मूढ़ समझा जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य मोक्ष के लिये निष्कलंक आत्मा को छोड़कर अन्यपदार्थ की उपासना करता है वह महामूर्ख समझा जाता है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे मोक्ष की प्राप्ति के लिये शुद्ध आत्मा का ही आराधन करें।।२१।।

योन्यत्र वीक्षते देवं, देहस्थे परमात्मनि।
सोन्ने सिद्धे गृहे शंके, भिक्षां भ्रमति मूढधीः।।२२।।

देह स्थितपरमात्म मूढ़धी, देख रहा जो अन्य स्थान।
घर में भोजन होने पर भी, भीख मांगता वह इंसान।।२२।।

अर्थ—जो मूढ़ पुरुष परमात्मा के देह में विद्यमान रहते भी दूसरी जगह उसे देखता फिरता हैं मैं समझता हूँ वह पुरुष घर में भोजन तैयार रहने पर भी भीख के लिये घूमता फिरता है ऐसा जान पड़ता है।

भावार्थ—जैनसिद्धान्त में आत्मा के मूल भेद दो माने हैं एक जीवात्मा दूसरा परमात्मा। जो आत्मा कर्मों से जिकड़ा हुआ है और संसार में रहने वाला है वह जीवात्मा कहा जाता है और समस्त कर्मों का नाश करने वाला एवं सिद्धशिला में विराजमान परमात्मा कहा जाता है। जिस समय यह जीवात्मा समस्त कर्मों से रहित होकर सिद्धशिला में विराजमान होता है उस समय यही परमात्मा कहलाता है इसलिये यदि निश्चयनय से देखा जाय तो परमात्मा हमारे शरीर के भीतर ही विराजमान है परंतु जिस प्रकार घर में भोजन तैयार रहने पर भी इधर उधर भीख माँगने वाला पुरुष निन्दनीक समझा जाता है उसी प्रकार अपने शरीर में विद्यमान परमात्मा को छोड़कर जो पुरुष अन्यत्र कंकर पत्थरों में उनको देव मानकर उसकी खोज करता फिरता है वह भी महामूढ़ और निन्दनीक समझा जाता है।।२२।।

कषायोदयतो जीवो, बध्यते कर्मरज्जुभिः।
शांत क्षीणकषायस्य, त्रुट्यंति-रभसेन ताः।।२३।।

जीव कषायोदय के कारण, कर्म रज्जु से बँधता जान।
शांत क्षीण होते कषाय के, कर्म रज्जु नश जाए मान।।२३।।

अर्थ—कषाय के उदय से यह जीव कर्मरूपी रस्सियों से बँधता है किंतु जिस समय इसके कषाय शांत वा क्षीण हो जाते हैं उस समय इसकी कर्मरूपी रस्सी वात की वात में टूट पड़ती हैं।

भावार्थ—कर्मों को, (रस्सी) की उपमा इसलिये दी गई है कि जिस प्रकार रज्जु से मजबूती से जकड़ा हुआ मनुष्य स्वतंत्रता पूर्वक कुछ भी कार्य नहीं कर सकता किंतु जिससमय इसकी रस्सी दूर हो जाती हैं उस समय वह स्वतंत्रता से इच्छानुसार आनंद भोगता है उसी प्रकार जब तक यह आत्मा कर्मों से बँधा रहता है तब तक इसे स्वाधीन सुख-मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती किंतु जिस समय यह कर्मों से रहित हो जाता है उस समय यह स्वाधीन सुख का भोग करता है। तथा यह जो आत्मा कर्मों के फंद में फसता है उसमें कारण क्रोध आदि कषाय हैं और जिस समय वे कषाय शांत वा क्षीण हो जाते हैं उस समय इसके किसी प्रकार का कर्म बंध नहीं होता।।२२।।

सर्वत्र प्राप्यते पापैः, प्रमाद निलयीकृतः।
प्रमाददोष निर्मुक्तः, सर्वत्रापि हि मुच्यते।।२४।।
जीव प्रमादी हो कर्मों से, बंध प्राप्त करता है जान।
दोष कषायादिक से विरहित, कर्म बंध ना होवे मान।।२४।।

अर्थ—जब तक यह आत्मा प्रमादी बना रहता है तब तक प्रमाद से उत्पन्न हुये पाप कर्मों से यह सदा सर्वत्र बँधता रहता है किंतु जिस समय यह कषाय आदि दोषों से रहित हो जाता है उस समय कहीं पर भी यह कर्मों से नहीं बँधता-उल्टा छूटता है।

भावार्थ—क्रोध मान माया आदि के भेद से प्रमाद पंद्रह प्रकार का है जब तक यह जीव क्रोधी मानी आदि प्रमादी बना रहता है तब तक इसके प्रमाद के द्वारा सदा पापों का उदय होता रहता है और उन पापों से यह सदा सर्वत्र बंधता रहता है किन्तु जिस समय इसके प्रमाद नष्ट हो जाते हैं यह क्रोधी मानी लोभी आदि नहीं रहता उस समय इसके पापों की उत्पत्ति नहीं होती इसलिये उसे जरा भी कहीं पर नहीं बँधता उल्टा छूटने लगता है।।२४।।

स्वतीर्थ-ममलं हित्त्वा, शुद्ध्येऽन्यद्-भजंति ये।
ते मन्ये मलिनाः स्नांति, सरः संत्यज्य पल्वले।।२५।।
निर्मल आत्म तीर्थ तज के जो, अन्य तीर्थ में कर स्नान।
मलिन बुद्धि तज शुद्ध सरोवर, मलिन ताल करते स्नान।।२५।।

अर्थ—जो पुरुष निर्मल आत्मरूपी तीर्थ को छोड़कर शुद्धि के लिये अन्यतीर्थ की उपासना करते हैं–उसमें स्नान करते हैं मैं समझता हूँ वे मलिन-निकृष्ट पुरुष, सुंदर सरोवर को छोड़कर पल्वल-कीचड़युक्त जल के धारण करने वाले तुच्छ तालाब में स्नान करते हैं।

भावार्थ—जिसके द्वारा मनुष्य तिरें-अविनाशी आनंद सुख को भोगें उसका नाम तीर्थ है बहुत से मनुष्यों ने शुद्धि के लिये गंगा यमुना आदि को तीर्थ समझ रक्खा है इसलिये वे उसी में स्नान कर अपने को शुद्ध मान लेते हैं परंतु यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि गंगा जमुना आदि तीर्थों के आश्रय से शरीर की शुद्धि होती है आत्मा की शुद्धि नहीं और आत्मा की शुद्धि के बिना निराकुलतामय सुख प्राप्त नहीं होता किंतु आत्मारूपी तीर्थ में स्नान करने से ही आत्मा की विशुद्धि और अव्याबाधस्वरूप सुखकी प्राप्ति होती है इसलिये जो मूढ़ पुरुष परम पवित्र आत्मारूपी तीर्थ का सर्वथा त्यागकर अन्य तीर्थ गंगा यमुना आदि की उपासना करते हैं वे सुंदर स्वच्छ सरोवर को छोड़कर कीचड़युक्त तालाब में स्नान करते हैं ऐसा जान पड़ता है अत: विद्वानों को चाहिये कि वे अपने आत्मारूपी तीर्थ में ही अवगाहन करें। नाम मात्र के झूंठे तीर्थों में चित्त को न भटकावें।।२५।।

स्वात्मान-मिच्छुभिर्-ज्ञातुं, सहनीयाः परीषहाः।
नश्यत्-यसहमानस्य, स्वात्मज्ञानं परीषहात्।।२६।।
आत्म स्वरूप के ज्ञानभिलाषी, सहें परीषह कर विश्वास।
क्योंकि परीषह सहें न उनके, स्वत्मज्ञान का होय विनाश।।२६।।

अर्थ—जो पुरुष अपनी आत्मा के जानने के अभिलाषी हैं उन्हें अवश्य परीषह सहने चाहिये क्योंकि परीषहों को न सहने वाले पुरुषों का स्वात्मज्ञान नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—भूख प्यास का सहना, ठंडी गरमी का दु:ख भोगना, मच्छर डांस आदि से उत्पन्न पीड़ा भोगना आदि परीषह हैं। जिस समय मोक्षाभिलाषी मुनिवर परिग्रहों से ममत्व हटाकर और दिगंबर व्रत को धारण कर वन में निवास करते हैं उस समय वे इन सब परीषहों को सहते हैं और वास्तविक आत्मा के ज्ञान का लाभ करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि परीषहों से शरीर को कष्ट होता है और शरीर हमारा है नहीं। यदि वे शरीर में किसी प्रकार का ममत्व करें तो संक्लिष्ट परिणाम होने से उन्हें कभी आत्मज्ञान नहीं हो सकता इसलिये जो महानुभाव आत्मा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवश्य परीषहों को सहें। क्योंकि शरीर में ममत्वकर

परीषह न सहने से उनका स्वात्मज्ञान नष्ट हो जाता है।।२६।।

अनुबंधः सुखे दुःखे, न कार्यो निर्जरार्थिभिः।
आर्तं तदनुबंधेन, जायते भूरिकर्मदं।।२७।।
कर्म निर्जरा चाहें जो वे, सुख दुख से न रखें संबंध।
सुख दुख से कर्मों के हेतू, आर्त्त ध्यान का होवे बंध।।२७।।

अर्थ—जो मनुष्य निर्जरार्थी हैं-कर्मों की निर्जरा करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सुख या दुःख से किसी प्रकार का संबंध न रखें क्योंकि सुख और दुःख के संबंध से अनेक प्रकार के कर्मों के प्रदान करने वाले आर्तध्यान की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—संसार में तो इष्ट पदार्थों के समागम वा वियोग आदि सदा हुआ करते हैं और उनसे सुख दुख उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये जो पुरुष कर्मों की निर्जरा चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सुख या दुख आ पड़ने पर जरा भी सुखी दुःखी न हों क्योंकि सुखी दुःखी होने से आर्तध्यान की उत्पत्ति होती है और आर्तध्यान से अनेक प्रकार के कर्मों का आगमन होता है।।२७।।

आत्मावबोधतो नून-मात्मा शुद्ध्यति नान्यतः।
अन्यतः शुद्धि-मिच्छंतो, विपरीतदृशोऽखिलाः।।२८।।
आत्मज्ञान से आत्मशुद्धि हो, अन्य कोई न हेतु विशेष।
अन्य हेतु से आत्म शुद्धि जो, चाहें वे मिथ्यात्वी शेष।।२८।।

अर्थ—यह निश्चय है कि आत्मा के ज्ञान से ही आत्मा की शुद्धि होती है अन्य से नहीं परंतु जो पुरुष अन्य पदार्थ से शुद्धि चाहते हैं वे समस्त भ्रांत-मिथ्यादृष्टि हैं।

भावार्थ—आत्मा की शुद्धि का अर्थ आत्मा को अनंतज्ञानादि गुणों की प्राप्ति है और यह शुद्धि उसी समय प्राप्त हो सकती है जब कि अन्य पदार्थों की ओर दृष्टि न लगाकर केवल आत्मिक ज्ञान आदि गुणों का चिन्तन किया जाय। इसलिये जो महापुरुष आत्मा के स्वरूप को जानते हैं और उसी का आराधन करते हैं उन्हीं की आत्मा शुद्ध होती है और अन्य प्रकार से शुद्धि चाहने वालों की आत्मा की शुद्धि नहीं बल्कि वैसा करने वाले हित अहित के विचार से शून्य मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं।।२८।।

स्पृश्यते शोध्यते नात्मा, मलिने-नामलेन वा।
परद्रव्यबहिर्भूतः, परद्रव्येण सर्वथा।।२९।।

जीव सर्वथा बहिर्भूत है, पर पदार्थ हो शुद्ध मलीन।
शुद्ध और स्पृष्ट नहीं हो, आतम पर में होके लीन।।२९।।

स्वरूपमात्मनो भाव्यं, परद्रव्यजिहासया।
न जहाति परद्रव्य-मात्मरूपाभिभावकः।।३०।।

पर पदार्थ को अतः त्यागकर, निज स्वरूप का भाव विचार।
आत्म स्वरूप की चाह बिना न, पर का त्याग हो किसी प्रकार।।३०।।

अर्थ—यह आत्मा परपदार्थों से सर्वथा बहिर्भूत है—परद्रव्य और आत्मा का कोई आत्मिक संबंध नहीं इसलिये चाहे परद्रव्य मलिन हो वा निर्मल हो उससे कभी यह आत्मा स्पृष्ट और शुद्ध नहीं हो सकता इसलिये विद्वानों को चाहिये कि परपदार्थों के त्याग की इच्छा से आत्मा के स्वरूप की भावना करें क्योंकि जो पुरुष आत्मा के स्वरूप की परवाह नहीं करते वे परद्रव्यों का त्याग नहीं कर सकते।

भावार्थ—यह ऊपर भी बतला दिया गया है कि आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और परद्रव्य जड़ हैं इसलिये चाहे वे मलिन हों वा निर्मल हों कभी आत्मा को स्पष्ट वा शुद्ध नहीं बना सकते। तथा जो पुरुष परद्रव्य का त्याग करना चाहते हैं वे आत्मस्वरूप की भावना से ही कर सकते हैं इसलिये जिन महानुभावों को परद्रव्यों के त्यागने की इच्छा हो उन्हें चाहिये कि वे अवश्य आत्मा के स्वरूप की भावना करें क्योंकि जो पुरुष आत्मा के स्वरूप की भावना नहीं करते उनके परद्रव्यों का त्याग नहीं हो सकता।।२९-३०।।

विज्ञातव्यं परद्रव्य-मात्मद्रव्य जिघृक्षया।
अविज्ञातपरद्रव्यो, नात्मद्रव्यं जिघृक्षति।।३१।।

आत्म द्रव्य के ग्रहण की इच्छा, से पर द्रव्य स्वरूप को जान।
पर पदार्थ ना जाने जो कोइ, आत्म ग्रहण न करता मान।।३१।।

अर्थ—तथा आत्मद्रव्य की ग्रहण करने की इच्छा से परद्रव्य का स्वरूप अवश्य जानना चाहिये क्योंकि जो पुरुष परपदार्थ को नहीं जानता वह कभी आत्मा के ग्रहण करने की इच्छा नहीं कर सकता।

भावार्थ—पदार्थ अच्छे बुरे दोनों प्रकार के होते हैं परन्तु अच्छे की कदर उसी समय हो सकती है जब बुरे पदार्थ वा उसके दोषों को जान लिया जाय क्योंकि जब तक हमको बुरा पदार्थ अपना अहितकारी न मालूम होगा तब तक हम अच्छे की कैसे कदर कर सकते हैं? आत्मा पदार्थ

अच्छा हितकारी और ग्रहण करने के योग्य है परंतु इसका ग्रहण उसी समय हो सकता है जब पर पदार्थों को अहितकारी और बुरा समझ लिया जाय अर्थात् जब तक हम पर पदार्थों के स्वरूप को न समझेंगे तब तक कभी आत्मा के ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त नहीं हो सकते इसलिये जो पुरुष आत्मा के स्वरूप की जानने की इच्छा रखते हैं उन्हें चाहिये कि वे पहले अवश्य परपदार्थों के स्वरूप का ज्ञान करें।।३१।।

स्वतत्त्वरक्तये नित्यं, परद्रव्य विरक्तये।
स्वभावो जगतां भाव्यः, समस्तमल मुक्तये।।३२।।
निज स्वरूप में प्रीति बढ़ाने, पर पदार्थ से प्रीति विनाश।
कर संसार स्वभाव भावना, जिससे हो पापों का नाश।।३२।।

अर्थ—उत्तम पुरुषों को चाहिये कि वे आत्मा के स्वरूप में प्रेम करने के लिये पर पदार्थों से प्रेम हटाने के लिये और समस्त पापों के नाश के लिये संसार के स्वभाव को जानकर उनसे विरक्ति की अवश्य भावना करनी चाहिए।

भावार्थ—संसार असार है, जो आज राजा दिखते हैं वे कल रंक और जो रंक दिखते हैं वे कल राजा हो जाते हैं। यह जीव कर्मों के फंद में पड़कर कभी नारकी कभी तिर्यंच आदि हो नाना प्रकार का दुःख भोगता है असली शांति इसे क्षणभर के लिये भी कहीं नहीं मिलती इत्यादि जब तक संसार का स्वरूप नहीं विचारा जाता तब तक आत्मा के स्वरूप के विचारने में चित्त नहीं लगता एवं परपदार्थों से विराग नहीं होता किंतु जिस समय संसार के असार स्वरूप की भाव मन में हो निकलती है उस समय चित्त में निर्दोष आत्मा के स्वरूप का चिंतवन होने लगता है पर पदार्थों से विरक्ति हो जाती है इसलिये कर्मों का नाश हो जाता है क्योंकि कर्मों के नाश में आत्मस्वरूप का चिन्तन और परपदार्थों से विरक्ति प्रधान कारण है इसलिये जो मनुष्य कर्मों से मुक्त होना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे आत्मस्वरूप के चिन्तन करने और परपदार्थों से विरक्त होने के लिये अवश्य संसार के स्वरूप की भावना करें।।३२।।

यत्पंचाभ्यंतरैः पापैः, सेव्यमानः प्रबध्यते।
न तु पंचबहिर्भूत-माश्चर्यं किमतः परं।।३३।।
जो अभ्यंतर पंच पाप से, सेवित है वह बंधता जीव।
पाप रहित न बधे कभी यह, आश्चर्य जानो विशद अतीव।।३३।।

अर्थ—जो जीव पाँच अभ्यंतर पापों से सेवित है वह तो बँधता है और जो पांच पापों से

रहित है वह नहीं बंधता है यह बड़ा आश्चर्य है।

भावार्थ–सेना के कई भेद हैं उनमें एक प्रकार की अभ्यंतर सेना भी है जो अंगरक्षक कही जाती है। जिस राजा के पास यह अभ्यंतर सेना रहती है वह शत्रुओं द्वारा नहीं बँधता और जिस समय वह उस सेना से बाहर निकल जाता है उस समय देखते देखते शत्रु उसे बाँध लेते हैं परंतु यहाँ पर विपरीत बात है जो जीव पाँच प्रकार के अभ्यंतर पापों से सेवित-रक्षित है वह तो कर्मबंधन से बंध जाता है किंतु जो उन पापों से रहित है–जिसका कोई भी पाप रक्षक नहीं कर्मबंध उसके पास भी नहीं फटकने पाते। सारार्थ-पापों के कारण नियम से कर्मबंधन होता है।।३३।।

ज्ञानस्य ज्ञानमज्ञान-मज्ञानस्य प्रयच्छति।
आराधना कृता यस्माद्-विद्यमानं प्रदीयते।।३४।।
ज्ञान प्राप्त ज्ञानाराधन से, हो अज्ञान से अज्ञान प्राप्त।
जिसके पास जो हो वह देता, ऐसा कहते हैं जिन आप्त।।३४।।

अर्थ–जो पुरुष ज्ञान की आराधना करता है उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है और जो अज्ञान की आराधना करता है उसे अज्ञान प्राप्त होता है क्योंकि जो चीज जिसके पास विद्यमान रहती है वही दी जाती है।

भावार्थ–जो पुरुष विद्यावान है वह विद्या ही प्रदान कर सकता है धन नहीं और जो धनवान है वह धन प्रदान कर सकता है विद्या नहीं। ज्ञान के पास ज्ञान है इसलिये जिस समय ज्ञान की आराधना की जाती है उस समय ज्ञान की प्राप्ति होती है और अज्ञान के पास अज्ञान है इसलिये जिस समय अज्ञान की आराधना की जाती है उस समय अज्ञान मिलता है।।३४।।

न ज्ञानज्ञानिनोर्-भेदो-विद्यते सर्वथा यतः।
ज्ञाने ज्ञाते ततो ज्ञानी, ज्ञातो भवति तत्त्वतः।।३५।।
भेद ज्ञान ज्ञानी में है न, जब निश्चय से जाना जाय।
तब ज्ञानी आतम का भी शुभ, ज्ञान भी ज्ञान रूपता पाय।।३५।।

अर्थ–ज्ञान और ज्ञानी का आपस में सर्वथा भेद नहीं इसलिये जिस समय निश्चयनय से ज्ञान जान लिया जाता है उस समय ज्ञानी-आत्मा का भी ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ–पहले कह दिया जा चुका है कि जैनसिद्धांत में व्यवहार और निश्चय दो नय मानी

गई हैं और इनके द्वारा पदार्थों की व्यवस्था होती है। व्यवहार नय से संज्ञा-संख्या आदि के भेद से यद्यपि ज्ञान ज्ञानी में भेद माना गया है परंतु निश्चयनय से नहीं। निश्चयनय से जो ज्ञान है वही ज्ञानी और जो ज्ञानी है वही ज्ञान है इसलिये जिस समय शुद्धनिश्चयनय से हम ज्ञान का ज्ञान करते हैं उस समय ज्ञानी-आत्मा का भी अवश्य ज्ञान होता है।।३५।।

ज्ञानं स्वात्मनि सर्वेण, प्रत्यक्ष-मनुभूयते।
ज्ञानानुभव हीनस्य, नार्थ ज्ञानं प्रसिद्ध्यति।।३६।।
ज्ञान आत्मा में है अनुभव, होता है प्रत्यक्ष विशेष।
ज्ञान का अनुभव नहीं है जिसको, न पदार्थ जाने अवशेष।।३६।।

अर्थ—ज्ञान आत्मा में मौजूद है इस बात का सबको प्रत्यक्ष अनुभव है अर्थात् स्वानुभव प्रत्यक्ष की महिमा से सबको आत्मा में ज्ञान की मौजूदगी का ज्ञान है और जिसको ज्ञान का अनुभव नहीं है वह पदार्थों का भी ज्ञान नहीं कर सकता।

भावार्थ—ज्ञान अमूर्तिक आत्मा का गुण होने के कारण अमूर्तिक है इसलिये मूर्तिक इंद्रियों से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता किंतु 'अहं अहं' (मैं मैं) इत्याकारक स्वानुभव प्रत्यक्ष से उसका अवश्य प्रत्यक्ष होता है इसलिये इस स्वानुभव प्रत्यक्ष के माहात्म्य से सब लोग आत्मा में ज्ञान की सत्ता मानते हैं एवं यह नियम है कि जो पुरुष ज्ञान का अनुभवी है—उसे जानता है वही अन्य पदार्थों को भी जान सकता है किंतु जिसको ज्ञान का ज्ञान नहीं वह अन्य पदार्थों का भी ज्ञान नहीं कर सकता।।३६।।

प्रतीयते परोक्षेण, ज्ञानेन विषयो यदि।
सोऽनेन परकीयेण, तदा किन्न प्रतीयते।।३७।।
ज्ञान परोक्ष कहोगे यदि यह, विषयों को जो जान रहा।
आतम कोष को क्यों जाने (न वह), जैसे दीप प्रकाशक श्रेष्ठ कहा।।३७।।
येनार्थो ज्ञायते तेन, ज्ञानी न ज्ञायते कथं।
उद्योतो दृश्यते येन, दीपस्तेन तरां न किं।।३८।।
घट पटादि दिखते दीपक भी, वैसे हो द्रव्यों का ज्ञान।
आतम ज्ञान न हो ज्ञानी को, कैसे हो सकता है मान।।३८।।

अर्थ—यदि यह कहोगे कि ज्ञान परोक्ष है—किसी प्रकार से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता

परंतु वह विषयों को अवश्य जानता है तब वह आत्मा को क्यों नहीं जानता-आत्मा का भी उसे अवश्य ज्ञान होना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में घट पट आदि पदार्थ दिखते हैं और साथ में प्रकाशक दीपक भी दिखता है उसी प्रकार ज्ञान से पदार्थों का ज्ञान हो और ज्ञानी आत्मा का ज्ञान न हो यह कैसे हो सकता है? आत्मा का भी अवश्य ज्ञान होना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार पदार्थों पर प्रकाश के पड़ने से पदार्थ भी दिखते हैं और दीपक भी स्पष्टरूप से दिखलाई देता है केवल यह बात नहीं कि पदार्थ ही पदार्थ दिखें प्रकाशक दीपक न दिखे उसी प्रकार जिस समय पदार्थों पर ज्ञान की झलक पड़ती है उस समय पदार्थों का जैसा ज्ञान होता है उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा का भी ज्ञान होता है इसलिये जो महाशय ज्ञान को परोक्ष और घट पट आदि पदार्थों का ज्ञायक होने पर भी आत्मा-ज्ञायक नहीं मानते उन्हें चाहिये कि वे ज्ञान से आत्मा का भी ज्ञान होना मानें।।३७-३८।।

विदंति दुर्धियो वेद्यं, वेदकं न विदंति किं।
द्योत्यं पश्यंति न द्योत-माश्चर्यं वत कीदृशं।।३९।।
आश्चर्य है जब मूढ़ वैद्य को, जाने वेदक।
क्यों न जब घौत्य द्रव्य को, क्यों ना मान।।३९।।

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं कि बड़ा आश्चर्य है कि जब मूढ़ पुरुष वेद्य-पदार्थों को जानते हैं तब वेदक-आत्मा को क्यों नहीं जानते क्योंकि जब द्योत्य पदार्थों को देखते हैं तब द्योत-प्रकाश को क्या नहीं देखते।

भावार्थ—वेद्य का अर्थ जानने योग्य पदार्थ, वेदक का अर्थ जानने वाला, द्योत्य का अर्थ प्रकाशित होने के लायक और द्योत का अर्थ प्रकाश करने वाला है जो मूढ़ पुरुष यह मानते हैं कि हम वेद्य को जानते हैं वेदक को नहीं उनका कथन बड़ा आश्चर्य परिपूर्ण और प्रत्यक्षबाधित है क्योंकि जिस प्रकार द्योत्य और द्योत दोनों दिखते हैं यह नहीं कि केवल द्योत्य की दिखे उसी प्रकार वेद्य और वेदक दोनों ही दिखते हैं केवल वेद्य नहीं इसलिये आत्मा का वा ज्ञान का ज्ञान नहीं होता यह कल्पना निर्मूल है।।३९।।

ज्ञेयलक्ष्येण विज्ञाय, स्वरूपं परमात्मनः।
व्यावृत्त्य लक्ष्यतः शुद्धं, ध्यायतो हानिरंहसां।।४०।।
जो परमात्म स्वरूप ज्ञेय को, जान लक्ष्य स्वरूप का त्याग।
शुद्ध स्वरूप का ध्यान करे न, पाप नाश होवें गतराग।।४०।।

अर्थ—इसप्रकार जो पुरुष ज्ञेय लक्ष्य रूप से परमात्मा के स्वरूप को जानकर और लक्ष्यस्वरूप का त्यागकर शुद्धस्वरूप का ध्यान करता है उसके पापों का नाश होता है।

भावार्थ—जब तक स्वयं परमात्मा के स्वरूप के जानने की सामर्थ्य न उत्पन्न हो तब तक उसका ज्ञेयस्वरूप से ज्ञान करना चाहिये अर्थात् स्वानुभव प्रत्यक्ष वा आगम प्रमाण से उसका स्वरूप जानना चाहिये किंतु जिस समय उसके स्वरूप के जानने की स्वयं सामर्थ्य हो जाय उस समय ज्ञेयस्वरूप से हटकर उसके शुद्धस्वरूप का ध्यान करना चाहिये क्योंकि परमात्मा के शुद्धस्वरूप के ध्यान से कर्मों का नाश होता है और शुद्धस्वरूप में लक्ष्य लक्षण वा ज्ञेय ज्ञान का कुछ विभाग नहीं।।४०।।

चट्टुकेन यथा भोज्यं, गृहीत्वा स विमुच्यते।
गोचरेण तथात्मानं, विज्ञाय स विमुच्यते।।४१।।
चम्मच से भोजन लेकर ज्यों, चम्मच छोड़ें उसी प्रकार।
इंद्रियज्ञान से आत्म जानकर, इंद्रिय ज्ञान तजें अनगार।।४१।।

अर्थ—जिस प्रकार करछी (चम्मच) से भोजन ग्रहण कर वह छोड़ दी जाती है उसी प्रकार इंद्रियज्ञान से आत्मा को जानकर इंद्रियज्ञान भी छोड़ दिया जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार भोजन के बाद चम्मच का रखना व्यर्थ है उसीप्रकार इंद्रियज्ञान-मानसिक प्रत्यक्ष आदि से आत्मा का ज्ञान हो जाने पर इंद्रियज्ञान भी निष्प्रयोजन है इसलिये भोजन के बाद जिस प्रकार चम्मच सर्वथा छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार इंद्रियज्ञान से आत्मा को जानकर इंद्रियज्ञान का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।।४१।।

उपलब्धे यथाऽहारे, दोषहीने सुखासिकः।
आत्मतत्त्वे तथा क्षिप्र-मित्यहो ज्ञानिनां रतिः।।४२।।
ज्यों निर्दोष आहार ग्रहण से, सुख मिलता है उसी प्रकार।
आत्म स्वरूप प्राप्त कर सुख हो, ज्ञानी की रति आश्चर्यकार।।४२।।

अर्थ—जिस प्रकार निर्दोष आहार के ग्रहण से आनंद मिलता है उसी प्रकार आत्मस्वरूप की प्राप्ति से भी परम आनंद प्राप्त होता है यह ज्ञानियों का प्रेम बड़ा आश्चर्यकारी है।

भावार्थ—जो पुरुष आहार के आकांक्षी हैं और शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहते हैं उनको जिस प्रकार निर्दोष आहार के मिल जाने से परम सुख मिलता है उसी प्रकार जो ज्ञानी मनुष्य आत्मस्वरूप के आकांक्षी हैं और शद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें भी शुद्ध

आत्मस्वरूप के प्राप्त हो जाने से परम संतोष होता है यह ज्ञानियों का प्रेम बड़ा आश्चर्यकारी है अर्थात् वे बाह्य पदार्थों की चटक मटक में न फस कर शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रेम करते हैं इसलिये उनका प्रेम सर्वोत्कृष्ट प्रेम है।।४२।।

परद्रव्यं यथा सद्भिर्-ज्ञात्वा दुःख वि भीरुभिः।
दुःखदं त्यज्यते दूर-मात्मतत्त्वरतैस्तथा।।४३।।
दुख से डरने वाले सज्जन, पर पदार्थ को छोड़ें दूर।
निज स्वरूप में लीन हैं वे भी, पर पदार्थ से रहें सुदूर।।४३।।

अर्थ–जिस प्रकार दुःख से डरने वाले सज्जन पुरुष पर पदार्थ सर्प कांटे आदि को दूर से ही छोड़ देते हैं उसी प्रकार जो पुरुष आत्मस्वरूप में लीन हैं वे भी शरीर आदि परपदार्थों को दूर से ही सर्वथा छोड़ देते हैं।

भावार्थ–सर्प कांटे आदि पदार्थ दुःख के देने वाले हैं इनके दर्शनमात्र से हृदय में दुःख की भावना ही निकलती है इसलिये दुःख से भय करने वाले सज्जन पुरुष जिसप्रकार उनका सर्वथा त्याग कर देते हैं उसी प्रकार जो पुरुष संसार के दुःख से भयभीत हैं और अपने आत्मिक शुद्धरूप में लीन हैं वे भी शरीर आदि परपदार्थों को दुःख का कारण जान उनका सर्वथा त्याग कर देते हैं–उन्हें कभी भी नहीं अपनाते।।४३।।

ज्ञाने विशोधिते ज्ञान-मज्ञानेऽज्ञान-मूर्जितं।
शुद्धं स्वर्ण-मिव स्वर्णे, लोहे लोह-मिवाश्नुते।।४४।।
स्वर्ण शुद्ध कर स्वर्ण लोह के, शुद्ध किए हो लोहा प्राप्त।
ज्ञान शुद्धि से ज्ञान शुद्ध, अज्ञान से हो अज्ञान सुप्राप्त।।४४।।

अर्थ–जिसप्रकार सुवर्ण के शुद्ध करने पर शुद्ध सुवर्ण और लोह के शुद्ध करने पर शुद्ध लोह की प्राप्ति होती है उसीप्रकार ज्ञान के शुद्ध होने पर शुद्धज्ञान और अज्ञान से अज्ञान की प्राप्ति होती है।

भावार्थ–यह नियम है कि जिस बात की चाह होती है उसकी प्राप्ति उसी के योग्य कार्य करने से होती है यदि सुवर्ण को शुद्ध किया जाता है तो शुद्ध सुवर्ण की और लोह को शुद्ध किया जाता है तो शुद्ध लोह की प्राप्ति होती है किंतु यह कभी नहीं हो सकता कि सुवर्ण को शुद्ध किया जाय और शुद्ध लोह की प्राप्ति हो अथवा लोह को शुद्ध किया जाय तो सुवर्ण की प्राप्ति हो उसी प्रकार ज्ञान की आराधना से शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति और अज्ञान की आराधना से अज्ञान की प्राप्ति

होती है किंतु यह कभी नहीं हो सकता कि ज्ञान की आराधना से भी अज्ञान की प्राप्ति हो।।४४।।

प्रतिबिंबं यथाऽऽदर्शे, दृश्यते परसंगतः।
चेतने निर्मले मोहस्-तथा कल्मष संगतः।।४५।।
ज्यों दर्पण में पर पदार्थ के, योग से दिखता है उस रूप।
त्यों शुचि आतम में कर्मों के, योग से मोह दिखे पर रूप।।४५।।

अर्थ–जिस प्रकार निर्मल दर्पण में पर पदार्थ के संयोग से प्रतिबिंब दिख पड़ता है उसी प्रकार निर्मल आत्मा में कर्मों के संसर्ग से मोह दिख पड़ता है।

भावार्थ–यदि वास्तविक रीति से देखा जाय तो दर्पण स्वभाव से शुद्ध पदार्थ है उसमें किसी भी परपदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं किंतु जिससमय उसके सामने पर पदार्थ आ जाता है उस समय उसमें प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है उसीप्रकार निश्चयनय से आत्मा कर्म की उपाधियों से रहित निष्कलंक परम शुद्ध है परंतु कर्म के संबंध से इसमें मोह दिख पड़ता है–मोह इसका असली स्वरूप नहीं।।४५।।

धर्मेण वासितो जीवो, धर्मे पापे न वर्तते।
पापेन वासितो नूनं, पापे धर्मे न सर्वदा।।४६।।
धर्मी धर्म प्रवृत्ती करता, पाप नहीं करता वह जीव।
पापी पाप प्रवृत्ती करता, धर्म नहीं वह करे सजीव।।४६।।
ज्ञानेन वासितो ज्ञाने, नाज्ञानेऽसौ कदाचन।
यतस्ततो मतिः कार्या, ज्ञाने शुद्धिं विधित्सुभिः।।४७।।
ज्ञानी ज्ञान प्रवृत्ती करता, न अज्ञान प्रवृत्ती वान।
शुद्ध्याभिलाषी आत्मशुद्धि को, ज्ञान में रहे प्रवृत्तीवान।।४७।।

अर्थ–जिसके हृदय में धर्म की वासना है उस जीव की धर्म में प्रवृत्ति होती है पाप में नहीं। जिसके मन में पाप की वासना है उसकी सदा पाप में प्रवृत्ति होती है धर्म में नहीं और जिसके हृदय में ज्ञान की वासना है उसकी ज्ञान में प्रवृत्ति होती है अज्ञान में नहीं इसलिये जो महात्मा शुद्धि के अभिलाषी हैं–अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे ज्ञान में ही अपनी बुद्धि को लगावें।

भावार्थ–वासना का अर्थ संस्कार है जिस मनुष्य के हृदय में जिस पदार्थ का संस्कार होता है उसकी उसी पदार्थ में प्रवृत्ति होती है, अन्य में नहीं। जो मनुष्य धर्म के संस्कार से युक्त है उसकी

धर्म में ही प्रवृत्ति होती है पाप में नहीं और और जिस मनुष्य के हृदय में पाप कीं वासना है उसकी पाप में प्रवृत्ति होती है धर्म में नहीं तथा जो मनुष्य ज्ञान के संस्कार से युक्त है उसकी ज्ञान में ही प्रवृत्ति होती है अज्ञान में नहीं एवं ज्ञान में प्रवृत्ति होने से आत्मा की विशुद्धि होती है इसलिये जो महानुभाव आत्मा को विशुद्ध बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अपनी बुद्धि को ज्ञान की ओर झुकावें।।४६-४७।।

ज्ञानी निर्मलतां प्राप्तो, नाज्ञानं प्रतिपद्यते।
मलिनत्वं कुतो याति, कांचनं हि विशोधितं।।४८।।

शोधित स्वर्ण मलिन न हो ज्यों, निर्मल आत्म विशुद्धीवान।
हो अज्ञान स्वरूप कभी न, ऐसा कहते हैं भगवान।।४८।।

अर्थ—जिस प्रकार अच्छी तरह से शुद्ध किया हुआ सुवर्ण फिर मलिन नहीं होता उसी प्रकार जिस समय ज्ञानी आत्मा निर्मल-विशुद्ध हो जाता है उस समय वह फिर अज्ञानस्वरूप परिणत नहीं होता।

भावार्थ—जिस समय सुवर्ण में सोलह ताव लग जाते हैं उस समय कीट कालिमा आदि के दूर हो जाने से वह शुद्ध सुवर्ण हो जाता है और फिर वह अशुद्ध नहीं होता उसीप्रकार जिस समय ज्ञानावरण कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है उस समय ज्ञान भी शुद्ध हो जाता है और फिर वह कभी अज्ञानस्वरूप परिणत नहीं होता।।४८।।

(स्रग्धरा छन्द)

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा, ध्येयमाराधनीयं,
पृच्छ्यं श्रव्यं भवति, विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयं।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं,
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वं।।४९।।

श्रवण उपार्जन ज्ञान कथन या, विशद प्रार्थना शिक्षाभ्यास।
दृश्यमान स्पर्श योग्य है, शुभ पदार्थ जो रहे महान्।।४९।।

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं उन्हें वही पदार्थ निश्चल मन से पढ़ने योग्य, ध्यान करने योग्य, आराधना के योग्य, पूछने के योग्य, सुनने के योग्य, अभ्यास के योग्य, उपार्जन करने के योग्य, जानने के योग्य, कहने के योग्य, प्रार्थना के योग्य, शिक्षा के योग्य, देखने के योग्य, और स्पर्श करने के योग्य है जिससे सदा आत्मा स्थिर बना रहे।

भावार्थ—निर्जरा की प्राप्ति के लिये आत्मा का निश्चल होना परम आवश्यकीय है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे ऐसे ही पदार्थ का अध्ययन ध्यान और आराधना आदि करें जिससे उनकी आत्मा स्वस्वरूप ज्ञान निश्चल बना रहे यदि वे अहितकारी पदार्थ का अध्ययन ध्यान आदि करेंगे तो कभी आत्मा उनका स्वरूप में निश्चल नहीं रह सकता।४९।

इत्थं योगी व्यपगतपर द्रव्यसंगप्रसंगो,
ज्ञात्वा कामं चपलकरण ग्राम मंतर्मुखत्वं।।
ध्यात्वात्मानं विशद चरण ज्ञानदृष्टि स्वभावं,
नित्यं ज्योतिः पद-मनुपमं याति निर्जीर्ण कर्मा।।५०।।

पर पदार्थ के संग से योगी, रहित सर्वथा रहे विशेष।
जान के चंचल इंद्रिय अपनी, रत्नत्रय धारी अवशेष।।५०।।
आत्म ध्यान करते वे योगी, कर्म निर्जरा करते जान।
दैदीप्यमान मोक्ष पद अनुपम, पाते हैं ज्ञानी गुणगान।।५१।।

इति श्री अमितगति आचार्य विरचित योगसार ग्रंथ निर्जराधिकार समाप्त।

अर्थ—इसप्रकार जो योगी परपदार्थों के संग से सर्वथा रहित होकर और चञ्चल इंद्रियों को जानकर अपने भीतर प्रविष्ट हो सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन स्वरूप स्वभाव के धारक आत्मा का ध्यान करता है वह योगी समस्त कर्मों की निर्जरा कर अविनाशी अनुपम दैदीप्यमान मोक्ष पद को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जब तक पर पदार्थों के संसर्ग से मुख न मोड़ा जायेगा, तब तक चञ्चल इंद्रियों के स्वभाव का ज्ञान न होगा, जबतक आत्मा की ओर दृष्टि न लगाई जायेगी तब तक कभी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप आत्मा का ध्यान नहीं हो सकता और आत्मा के ध्यान के बिना अविनाशी मोक्षपद मिलना कठिन है इसलिये मोक्षाभिलाषियों को चाहिये कि वे परपदार्थों से संबंध तोड़ें, इंद्रियों के जाल में न फसें, अंतरंग की ओर दृष्टि लगावें और सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप आत्मा का ध्यान करें।।५०।।

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित श्री विशदसागराचार्य अनुवादित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथ में निर्जराधिकार समाप्त हुआ।।६।।

❑❑

मोक्षाधिकार ।।७।।

अभावे बंधहेतूनां, निर्जरायां च भास्वरः।
समस्तकर्म विश्लेषो, मोक्षो वाच्योऽपुनर्भवः।।१।।
बंध के हेतू नशे निर्जरा, होय कर्म क्षय हो तो मोक्ष।
मोक्ष से आना फिर न होवे, अतिशय दैदीप्यमान प्रमोक्ष।।१।।

अर्थ—बंध के कारणों के अभाव और निर्जरा के होने पर जो समस्त कर्मों का नाश हो जाना है वह मोक्ष है और वह अतिशय देदीप्यमान और अपुनर्भव है-मोक्ष से फिर लौटना नहीं होता।

भावार्थ—पहले कह दिया गया है कि मिथ्यादर्शन-अविरति-प्रमाद-कषाय और योग ये बंध के कारण हैं जब तक इनका आत्मा के साथ संबंध रहता है तब तक सदा कर्मबंध हुआ करता है इसलिये जिस समय इन बंध के कारणों का अभाव हो जाता है उस समय अविपाक निर्जरा के द्वारा जो समस्त कर्मों का नाश हो जाना है उसी का नाम मोक्ष है तथा यह मोक्ष सर्वोत्कृष्ट स्थान है और जो जीव इसे प्राप्त कर लेते हैं उन्हें फिर जन्म मरण आदि का क्लेश नहीं भोगना पड़ता– वे सदा काल निराकुलतामय सुख का भोग करते हैं।।१।।

उदेति केवलं जीवे, मोहविघ्नावृतिक्षये।
भानुबिंब-मिवाकाशे, भास्वरं तिमिरात्यये।।२।।
मोहांतराय कर्म क्षय होते, ज्ञान दर्शनावरण विनाश।
नभ में तिमिर नाश हो तो ज्यों, रवि का होवे प्रखर प्रकाश।।२।।

अर्थ—जिस समय जीव के मोहनीय, अंतराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं उस समय इसके आकाश में रात्रि अंधकार के नष्ट हो जाने पर देदीप्यमान सूर्य के समान केवलज्ञान का उदय होता है।

भावार्थ—आकाश मे सूर्य के रहने पर भी जब तक अंधकार का नाश नहीं होता तब तक सूर्य का उदय नहीं होता किन्तु ज्यों ही अंधकार दूर हुआ त्यों ही सूर्य देखते-देखते उदित हो जाता है उसी प्रकार अविनाशी आत्मा के विद्यमान रहते भी जब तक मोहनीय, अंतराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मों का संबंध रहता है तब तक कभी केवलज्ञान उदित नहीं होता किंतु जिस समय मोहनीय आदि कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं उस समय आत्मा में केवलज्ञान चमचमा उठता है

इसलिये सूर्य के उदय में जिसप्रकार रात्रि अंधकार प्रतिबंधक है उसीप्रकार मोहनीय अंतराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म केवलज्ञान के उदय में प्रतिबंधक हैं।

न दोषमलिने तत्र, प्रादुर्भवति केवलं।
आदर्शे न मलग्रस्ते, किंचिद्रूपं प्रकाशते।।३।।
मैले दर्पण में जैसे कुछ, न स्वरूप का होय प्रकाश।
मलिन कर्म से आतम के त्यों, केवलज्ञान न होय विकास।।३।।

अर्थ—जिसप्रकार मलिन दर्पण में कुछ भी स्वरूप प्रकाशित नहीं होता उसीप्रकार कर्मों से मलिन आत्मा में केवलज्ञान का उदय नहीं होता।

भावार्थ—आत्मा निर्मल दर्पण के समान निर्मल है तथा घट पट आदि पदार्थों के प्रतिबिंब में जिस प्रकार दर्पण की स्वच्छता प्रधान कारण है उसीप्रकार केवलज्ञान के उदय में दोष रहित आत्मा प्रधान कारण है अर्थात् जबतक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्मों का आत्मा के साथ संबंध रहता है तबतक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता।।३।।

न मोहप्रभृतिच्छेदः, शुद्धात्म ध्यानतो विना।
कुलिशेन विना येन, भूधरो भिद्यते न हि।।४।।
बिना वज्र के भूधर का ज्यों, हो सकता है नहीं विनाश।
बिना ध्यान मोहादिक कर्मों, का भी न हो सकता नाश।।४।।

अर्थ—जिसप्रकार बिना वज्र के पर्वत का नाश नहीं होता उसीप्रकार बिना शुद्ध आत्मा ध्यान के मोह आदि कर्म भी नष्ट नहीं हो सकते।

भावार्थ—पर्वत सरीखे विशाल पदार्थ का भेदना अत्यंत कठिन है परंतु जिस समय उसके ऊपर वज्र गिरता है उस समय वह देखते देखते खण्ड-खण्ड हो जाता है उसी प्रकार मोहनीय अंतराय ज्ञानावरण दर्शनारण कर्मों का नाश हो जाना अत्यंत कठिन है परंतु जिस समय विशुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है उस समय कर्म देखते देखते झड़ पड़ते हैं इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे मोह आदि के नाशार्थ अवश्य शुद्ध आत्मा के ध्यान का आराधन करें।

विभिन्ने सति दुर्भेदे, कर्मग्रंथि-महीधरे।
तीक्ष्णेन ध्यानवज्रेण, भूरिसंक्लेश कारिणि।।५।।

रोगाक्रांत मनुज के जैसे, नशते रोग होय सुख प्राप्त।
वैसे ही दुर्भेद योगि के, संक्लेशकारी गिरि परिप्राप्त।।५।।
आनंदो जायतेऽत्यंतं, तात्त्विकोऽस्य महात्मनः।
औषधे-नेव सव्याधे-रभिभवे कृते।।६।।
तीक्ष्ण ध्यान रूपी व्रजों से, हो जाते हैं शीघ्र विनाश।
तब जीवों को निराकुलतामय, होय परम आनंद में वास।।६।।

अर्थ—जिसप्रकार रोगग्रस्त मनुष्य औषध से रोग के नष्ट हो जाने पर सुखलाभ करता है उसीप्रकार जिससमय योगी के दुर्भेद-कठिनता से मिटने वाला और अनेक प्रकार के संक्लेशों को प्रदान करने वाला कर्मरूपी पर्वत तीक्ष्ण ध्यानरूपी वज्र से नष्ट हो जाता है उस समय उसे भी वास्तविक निराकुलतामय परम आनंद की प्राप्ति होती है।।५-६।।

साक्षा-दतींद्रिया नर्थान्, दृष्ट्वा केवल चक्षुषा।
प्रकृष्ट पुण्य सामर्थ्यात्-प्रातिहार्यसमन्वितः।।७।।
ज्ञानावरण आदि कर्मों के, नशते होता केवलज्ञान।
नेत्र अतीन्द्रिय से वे ज्ञानी, स्पष्ट देखकर और महान् ।।७।।
अबंध्यदेशनः श्रीमान्, यथाभव्य नियोगतः।
महात्मा केवली कश्चिद्-देशनायां प्रवर्तते।।८।।
पुण्य से प्रातिहार्यादियुत्, हो भव्यों को दें उपदेश।
वह उपदेश अबंध्य लोक में, श्रोता पावें जो सुविशेष।।८।।

अर्थ—जिस समय ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मों के नाश से केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है उस समय भगवान केवली अपने केवलज्ञानरूपी नेत्र से अतींद्रिय पदार्थों को भी स्पष्टरूप से देखकर और महान पुण्य की सामर्थ्य से प्रातिहार्यों से युक्त होकर भव्यों की इच्छानुसार धर्मोपदेश देते हैं और उनका उपदेश अबंध्य उपदेश होता है अर्थात् राग विरहित उपदेश देते हैं अवश्य उस उपदेश का श्रोताओं पर असर पड़ता है।

भावार्थ—जिस समय भगवान तीर्थंकर को केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है उस समय देव उनके समवशरण की रचना करते हैं समवशरण में बारह कोठे बनाये जाते हैं और उनमें मुनि

आर्यिका आदि अपने अपने स्थानों पर बैठते हैं। समवशरण के ठीक मध्य में बहुमूल्य एक सिंहासन का निर्माण किया जाता है और उसमें विराजमान तीर्थंकर भगवान मूर्तिक अमूर्तिक समस्त पदार्थों को स्पष्टरूप से जानकर भव्यों की इच्छानुसार धर्मोपदेश देते हैं तथा उस समय उनके १. अशोकवृक्ष, २. पुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चमर, ५. सिंहासन ६. दुन्दुभि, ७. भामंडल, और ८. छत्र ये आठ प्रातिहार्य प्रकट हो जाते हैं और जो उनका उपदेश होता है उसका सब जीवों पर असर पड़ता है–तिर्यंच भी उनके उपदेश से यथार्थ ज्ञान लाभ करते हैं।।७-८।।

विभावसो-रिवोष्णत्वं, चरिष्णो-रिव चापलं।
शशांकस्येव शीतत्वं, स्वरूपं ज्ञान-मात्मनः।।९।।
अग्नी उष्ण वायु है चंचल, रहा चन्द्रमा शीतलवान।
वैसे ही आतम स्वरूप है, अतिशयकारी केवलज्ञान।।९।।

अर्थ–जिसप्रकार अग्नि का स्वरूप उष्णता है पवन का स्वरूप चपलता और चंद्रमा का स्वरूप शीतलता है उसी प्रकार आत्मा का स्वरूप ज्ञान है।

भावार्थ–स्वरूप का अर्थ स्वभाव भी है इसलिये यहाँ स्वरूप शब्द से स्वभाव अर्थ का ग्रहण है और इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव उष्णपना है पवन का स्वभाव चपलता और चंद्रमा का स्वभाव शीतलता है उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान है–स्वभाव से ही यह समस्त पदार्थों को जानता है।।९।।

चैतन्य-मात्मनो रूपं, तच्च ज्ञानमयं विदुः।
प्रतिबंधकसामर्थ्यान्-न, स्वकार्ये प्रवर्तते।।१०।।
आतम का स्वरूप चेतना, ज्ञानमयी न ज्ञान से भिन्न।
प्रतिबंधक सामर्थ्य से अपने, कार्य में परिणत न हो अन्य।।१०।।

अर्थ–आत्मा का स्वरूप चैतन्य है और वह ज्ञानमय है ज्ञान से भिन्न नहीं तथा प्रतिबंधक की सामर्थ्य से वह अपने कार्य में परिणत नहीं होता।

भावार्थ–कोई कोई सिद्धांतकार ज्ञान को जड़ प्रकृति का कार्य समझकर जड़ मानते हैं और आत्मा का स्वरूप चैतन्य मानते हैं उन्हीं के सिद्धांत के खंडनार्थ यहाँ ग्रंथकार ने यह लिखा है कि आत्मा का जो चैतन्य स्वभाव है वह ज्ञानस्वरूप है ज्ञान से भिन्न नहीं। यदि यहाँ पर यह शंका

उत्पन्न हो कि जब चैतन्य का ही अर्थ ज्ञान है और ज्ञान का अर्थ समस्त पदार्थों का जानना है तब आत्मा सदा समस्त पदार्थों को क्यों नहीं जानता तब इसका समाधान यह किया है कि यद्यपि आत्मा में ज्ञान विद्यमान है परंतु ज्ञानावरण कर्म ऐसा बलवान प्रतिबंधक पड़ा हुआ है जिससे यह समस्त पदार्थों के जानने रूप अपने कार्य में परिणत नहीं हो सकता किंतु जिस समय वह प्रतिबंधक सर्वथा नष्ट हो जाता है उस समय यह ज्ञान स्पष्टरूप से समस्त पदार्थों को देखता जानता है इसीलिये भगवान केवली प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्म के नष्ट हो जाने पर अपने केवलज्ञान गुण से स्पष्टतया समस्त पदार्थों को जानते हैं।

ज्ञानी ज्ञेये भवत्यज्ञो, नासति प्रतिबंधके।
प्रतिबंधं विना वहिर्-न, दाह्ये दाहकः कदा।।११।।
प्रतिबंधक न हो तो अग्नी, दाहकत्व धारे स्वरूप।
प्रतिबंधक कर्मों के नशते, आतम होवे ज्ञेयों रूप।।११।।

अर्थ—जिस प्रकार प्रतिबंधक चंद्रकांतमणि वा मंत्र के दूर हो जाने पर अग्नि काष्ठ आदि को भस्म करती है अर्थात् प्रतिबंधक के अभाव में वह अपना पूर्ण दाहकत्व स्वभाव धारण कर लेती है उसी प्रकार प्रतिबंधक ज्ञानावरणादिकर्म के नष्ट हो जाने पर आत्मा ज्ञेय-ज्ञान का विषय तो अवश्य होता है परंतु अज्ञ-ज्ञानशून्य जड़ नहीं हो सकता।

भावार्थ—कई सिद्धांतकारों का यह सिद्धांत है कि जब तक आत्मा संसार में विद्यमान रहता है तब तक उसमें ज्ञान रहता है किंतु जिस समय वह मुक्त हो जाता है उस समय उसमें ज्ञान-चेतना नहीं रहती क्योंकि उनका यह आशय है कि ज्ञान सुख दुःख का कारण है—मनुष्य जैसा जैसा ज्ञानवान होता जाता है उसको दुगुनी चिंता होती जाती है और चिंता से सुख दुख होते हैं इसीलिये उन्होंने बुद्धि सुख दुख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म (पुण्य) अधर्म (पाप) और संस्कार ये नौ गुण आत्मा के विशेष गुण माने हैं और जिस समय ये नष्ट हो जाते हैं उस समय मोक्ष होता है ऐसा स्वीकार किया है परंतु यह बात युक्तियुक्त नहीं क्योंकि संसार में जो ज्ञान दुःख का कारण अनुभव में आता है वह यथार्थ ज्ञान नहीं—अशुद्ध ज्ञान है। उसका प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्म मौजूद है किंतु जिससमय यथार्थ ज्ञान-केवलज्ञान उदित हो जाता है उस समय दुःख नहीं होता अर्थात् केवलज्ञान के होने पर वस्तु का यथार्थ स्वरूप मालूम पड़ जाता है। यथार्थस्वरूप के ज्ञान से परपदार्थों में रागद्वेष नहीं होते और रागद्वेष के अभाव से सुख दुख नहीं होता क्योंकि सुख दुख की उत्पत्ति में प्रधान कारण

रागद्वेष है इसलिये प्रतिबंधक कर्मों के अभाव में आत्म ज्ञानशून्य जड़ हो जाता है यह बात युक्त नहीं किंतु जिस प्रकार चंद्रकांत मणि मंत्र आदि प्रतिबंधक के अभाव में अग्नि और भी प्रकृष्ट रूप से दहकती है उसका दाहक स्वभाव नष्ट नहीं होता उसी प्रकार प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्म के अभाव से आत्मा स्पष्टरूप से समस्त पदार्थों को जानता है समस्त पदार्थों के जानने में उस समय उसे कोई प्रकार की अड़चन नहीं होती तथा समस्त पदार्थों के यथार्थ जानने से राग द्वेष भी नष्ट हो जाते हैं और राग द्वेष के अभाव से सुख दु:ख का सामना नहीं करना पड़ता इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि प्रतिबंधक के अभाव में उल्टी परम विशुद्ध आनंद की प्राप्ति होती है सर्वथा ज्ञान की नास्ति नहीं। हां! उस समय आत्मा ज्ञेय होने के कारण मोक्ष अवस्था में अन्य आत्मा के वा निजके ज्ञान का विषय अवश्य रहता है इसलिये उस समय उसे ज्ञेय कहना बाधित नहीं।

प्रतिबंधो न देशादि, वि प्रकर्षोऽस्य युज्यते।
तथानुभवसिद्धत्वात्-सप्तहेते-रिव स्फुटं।।१२।।
देशकाल स्वभाव सूर्य के, प्रतिबंधी नहिं है यह सिद्ध।
वैसे देशकाल स्वभाव के, प्रतिबंधक नहिं स्वानुभवसिद्ध।।१२।।

अर्थ—जिसप्रकार देश काल और स्वभाव सूर्य के प्रतिबंधक नहीं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है उसी प्रकार आत्मा के भी देश काल और स्वभाव प्रतिबंधक नहीं यह स्वानुभव सिद्ध है।

भावार्थ—जो पदार्थ देश की अपेक्षा दूर हों वे देशविप्रकृष्ट कहे जाते हैं, काल की अपेक्षा दूर कालविप्रकृष्ट और स्वभाव की अपेक्षा दूर स्वभावविप्रकृष्ट कहे जाते हैं। मेरु आदि पदार्थ देशविप्रकृष्ट हैं क्योंकि जहाँ ये पदार्थ विद्यमान हैं वह देश बहुत दूर है। राम लक्ष्मण आदि पदार्थ काल विप्रकृष्ट हैं क्योंकि इनको हुये बहुतकाल बीत गया और स्वभाव विप्रकृष्ट पदार्थ परमाणु है क्योंकि उसका स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म है। यदि यहाँ पर कोई ऐसी शंका करे कि आत्मा मेरु आदि पदार्थों को देश आदि की दूरीपने के कारण न जान सकेगा इसलिये देश आदि की दूरता भी समस्त पदार्थों के जानने में प्रतिबंधक है उसका समाधान ग्रंथकार ने यहाँ यह किया है कि जिस प्रकार देशविप्रकर्ष आदि के रहते भी सूर्य पदार्थों के प्रकाश करने का काम करता ही है सदा उसका स्वभाव पदार्थों के प्रकाश करने का रहता है उसी प्रकार देश आदि की दूरता रहने पर भी ज्ञान समस्त पदार्थों को स्पष्टरूप से जानता है उसे मेरु, राम, परमाणु आदि पदार्थों के जानने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं होती। यदि कहोगे कि सूर्य के देशविप्रकर्ष आदि प्रतिबंधकों के निषेध में जिसप्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण हैं उसप्रकार समस्त पदार्थों के ज्ञान में देश आदि का विप्रकर्ष

प्रतिबंधक नहीं इसमें क्या प्रमाण है? तब इसमें स्वानुभवप्रत्यक्ष ही प्रमाण कहना होगा। क्योंकि विद्वान लोग स्वानुभव प्रत्यक्ष से पूर्णतया इस बात को जान सकते हैं। यहाँ पर केवल ज्ञान की अपेक्षा यह बात कहीं है क्योंकि मतिज्ञान आदि में देशविप्रकर्ष आदि भी प्रतिबंधक हो जाते हैं इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जिसप्रकार सूर्य को प्रकाश करने में प्रतिबंधक मेघपटल है देशविप्रकर्ष आदि नहीं उसीप्रकार आत्मा के समस्त पदार्थों के जानने में प्रतिबंधक ज्ञानावरण कर्म है देशविप्रकर्ष आदि नहीं।।१२।।

सामान्यवद्-विशेषाणां, स्वभावो ज्ञेयभावतः।
ज्ञायते स च वा साक्षाद्विना विज्ञायते कथं।।१३।।
ज्यों सामान्य पदार्थों का है, ज्ञेय स्वभाव उसका हो ज्ञान।
ज्ञेय स्वभाव विशेषों, का त्यों होता अतएव उसका ज्ञान।।१३।।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च, तथा ज्ञानस्वभावतः।
नास्य ज्ञानस्वभावत्व-मन्यथा घटते स्फुटं।।१४।।
उस स्वभाव का ज्ञान केवली, जिन का होता है स्पष्ट।
ज्ञान से ही सर्वज्ञ सर्वदृश, ना माने तो ज्ञाना स्पष्ट।।१४।।

अर्थ—जिस प्रकार सामान्य पदार्थों का स्वभाव ज्ञेय-ज्ञान का विषय होना है इसलिये उसका ज्ञान होता है उसीप्रकार विशेषों का भी स्वभाव ज्ञेय है इसलिये उसका भी ज्ञान होता है परंतु उस स्वभाव का ज्ञान बिना प्रत्यक्षज्ञान-केवल ज्ञान के किसी प्रकार स्पष्ट नहीं हो सकता-केवलज्ञान ही उसे स्पष्टरूप से जानने वाला है तथा ज्ञानस्वभाव से ही आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है यदि इसे सर्वज्ञ वा सर्वदर्शी न माना जायेगा तो इसकी ज्ञानस्वभावता ही घटित होनी कठिन है।

भावार्थ—पदार्थ दो प्रकार के हैं एक सामान्य दूसरे विशेष। घट कहने से सब घड़ों का बोध होता है और पीत घट कहने से केवल पीले घड़े का ही ज्ञान होता है इसलिये पीला घड़ा विशेष और शेष घट सामान्य हैं यद्यपि सामान्य रूप से एक घड़े के देखने से सब घड़ों का स्वरूप जान सकते हैं परंतु यह पीला है यह बात किसी विशेष ज्ञान से ही जानी जायेगी। मेरु, परमाणु, रामचंद्र आदि पदार्थ भी विशेष हैं और इनका सिवाय विशेष ज्ञान केवलज्ञान के दूसरे से स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये जिस समय हम इनके स्वरूप का ज्ञान करेंगे उस समय अवश्य केवलज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा तथा यह आत्मा ज्ञानस्वभाव है इसीलिये सबको जानने वाला और सबको

देखने वाला यह सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहा जाता है यदि यह मेरु आदि विशेष पदार्थों के स्वभावों को न जानेगा तो यह कभी ज्ञानस्वभाव नहीं कहा जा सकता अत: यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञानस्वभाव होने से यह आत्मा सर्वज्ञ किं वा सर्वदर्शी है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने से इसके केवलज्ञान विद्यमान है केवलज्ञान से यह सामान्य पदार्थों के स्वरूप के समान विशेष पदार्थों के स्वरूप को भी जानता है इसलिये मेरु, परमाणु, रामचंद्र आदि का भी अवश्य इसे स्पष्टता से ज्ञान होता है–उनके ज्ञान में किसी प्रकार का संदेह नहीं।

वेद्यायुर्नाम गोत्राणि, यौगपद्येन केवली।
शुक्लध्यान कुठारेण, छित्त्वा गच्छति निर्वृतिं।।१५।।
केवलज्ञानी शुक्लध्यान की, शुभ कुठार से वेदनीय नाम।
आयू गोत्र कर्म को नाशें, जा पहुँचें फिर मुक्ती धाम।।१५।।

अर्थ–जिस समय यह आत्मा केवलज्ञान को प्राप्त होकर केवली हो जाता है उस समय शुक्लध्यान रूपी कुठार से इसके एकसाथ वेदनीय आयु, नाम और गोत्र कर्म नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्मों के सर्वथा नाश से यह मोक्षस्थान में जा विराजता है।

भावार्थ–पहले ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि कर्मों के आठ भेद बतला आये हैं उनमें ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया कर्म हैं और वेदनीय आयु नाम और गोत्र अघातिया कर्म हैं। जिस समय इस आत्मा के ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्मों का नाश हो जाता है उस समय इसके केवलज्ञान प्रगट हो जाता है और इसकी जीवन्मोक्ष संज्ञा पड़ जाती है पश्चात् शुक्लध्यान के माहात्म्य से इसके वेदनीय आयु नाम और गोत्र कर्म भी नष्ट हो जाते हैं तथा, इसप्रकार जब समस्त कर्मों के नष्ट हो जाने से इनका शरीर भी नष्ट हो जाता है तब यह अनुपम निराकुलतामय सुख का आस्वादन करने लगता है और लोक के शिखर पर जा विराजता है इसी अवस्था का नाम मोक्ष है।।१५।।

कर्मैव भिद्यते नास्य, शुक्लध्यान नियोगतः।
नासौ विधीयते कस्य, नेदं वचनमंचितं।।१६।।
शुक्लध्यान से कर्म नाश न, तथा मोक्ष भी न हो प्राप्त।
युक्त नहीं ये वचन सर्वथा, ऐसा कहते हैं जिन आप्त।।१६।।

अर्थ–इस आत्मा के शुक्लध्यान के द्वारा कर्मों का नाश ही नहीं होता तथा मोक्ष भी किसी

को प्राप्त नहीं होता यह वचन युक्त नहीं।

भावार्थ—यदि कोई ऐसा प्रश्न कर बैठे कि शुक्लध्यान से कर्मों का नाश होना असंभव है और कर्मों के नष्ट न होने से मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं होती तो उसका प्रश्न सर्वथा अयुक्त है क्योंकि शुक्लध्यान से कर्मों का नाश और मोक्ष की प्राप्ति अबाधित है अनुमान और आगम प्रमाण से इसकी सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती।।१६।।

कर्म व्यपगमे राग-द्वेषाद्यनुप-पत्तितः।
आत्मनः संगरागाद्याः, न नित्यत्वेन संगताः।।१७।।
कर्म नाश से राग द्वेषादि, की उत्पत्ती न हो जान।
परिग्रह राग-द्वेष फिर आतम, से संबंध नहीं हो मान।।१७।।

अर्थ—कर्मों के नाश हो जाने पर रागद्वेष आदि की उत्पत्ति नहीं होती। रागद्वेष आदि की उत्पत्ति न होने से उनसे उत्पन्न होने वाले परिग्रह राग आदि नहीं होते इसलिये परिग्रह रागद्वेष आदि सदा काल आत्मा वे साथ संबद्ध नहीं रहते।

भावार्थ—जब तक आत्मा कर्मों से जकड़ा हुआ संसार में घूमता रहता है तब तक इसके राग द्वेष आदि हर एक अवस्था में विद्यमान रहते हैं और उनसे सर्वदा रागद्वेष आदिकी उत्पत्ति हुआ करती है किंतु जिससमय यह आत्मा समस्त कर्मों को सर्वथा नष्ट कर देता है उस समय इसके राग द्वेष आदि नहीं होते क्योंकि राग द्वेष आदि मोहनीय आदि कर्मों के विकार हैं।।१७।।

न निर्वृतः सुखीभूतः, पुनरायाति संसृतिं।
सुखदं हि पदं हित्त्वा दुःखदं कः प्रपद्यते।।१८।।
मोक्ष निराकुलतामय सुख पा, लौट के ना आवे संसार।
होगा को धीमंत सौख्य तज, दुखमय भव में आए अवार।।१८।।

अर्थ—जो आत्मा मोक्ष अवस्था को प्राप्त होकर निराकुलतामय सुख का अनुभव कर चुका वह पुनः संसार में लौटकर नहीं आता क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो सुखदायी स्थान को छोड़कर दुखदायी स्थान में आकर रहेगा?

भावार्थ—यह अनुभव सिद्ध बात है कि जहाँ जरा भी सुख मिलता है प्राणी वहीं जाकर रहता है और दुखदायी स्थान की ओर ताक कर भी नहीं देखता। मोक्ष एक ऐसा सुखदायी स्थान

है जिसकी तुलना कोई भी स्थान नहीं कर सकता। जो जीव वहाँ पहुँच जाते हैं वे सदाकाल निराकुलतामय अनुपम आनंद का आस्वादन करते हैं इसलिये ऐसे अनुपम स्थान को छोड़कर कभी कोई जीव दु:खदायी स्थान संसार में लौटकर नहीं आ सकता। यहाँ पर ग्रंथकार का ऐसा लिखना मोक्षस्थान की सर्वोत्तमता प्रकट करता है वास्तव में तो संसार के कारण कर्मों के सर्वथा नष्ट हो जाने से जीव पुन: संसार में लौटकर नहीं आते क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं होता।।१८।।

शरीरं न स गृह्णाति, भूयः कर्म व्यपायतः।
कारणस्यात्यये कार्यं, न कुत्रापि प्ररोहति।।१९।।
सिद्ध देह के नशे कर्म के, नशते ग्रहण न करे शरीर।
क्योंकि कारण बिना कार्य न, नियम से न हो किसी प्रकार।।१९।।

अर्थ—सिद्धात्मा शरीर के कारण कर्म के नष्ट हो जाने से शरीर को भी ग्रहण नहीं करता क्योंकि यह नियम है कि बिना कारण के कार्य कदापि नहीं हो सकता।

भावार्थ—यदि कोई ऐसी शंका करें कि जो आत्मा संसार में था वही मोक्ष में हैं इसलिये जैसा संसार अवस्था में उसके शरीर था वैसा मोक्ष अवस्था में भी उसे शरीर धारण करना चाहिये तो उसका समाधान यही है कि कर्म के नष्ट हो जाने से मुक्तात्मा शरीर धारण नहीं करता क्योंकि यह नियम है कि बिना कारण के कदापि कार्य नहीं हो सकता शरीर की उत्पत्ति में कारण नाम कर्म है वह सर्वथा नष्ट हो चुका इसलिये मुक्तात्माओं के शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती।१९।।

न ज्ञानं प्राकृतो धर्मो, मंतव्यो मान्य बुद्धिभिः।
अचेतनस्य न ज्ञानं, कदाचन विलोक्यते।।२०।।
ज्ञान को जड़ प्रकृति धर्म नहिं, बुद्धिमान करते स्वीकार।
क्योंकि चेतन ज्ञान अचेतन, प्रकृति धर्म न होय असार।।२०।।

अर्थ—जो पुरुष बुद्धिमान हैं उन्हें ज्ञान को जड़ प्रकृति का धर्म नहीं स्वीकार करना चाहिये क्योंकि ज्ञान चेतन पदार्थ है वह अचेतन प्रकृति का धर्म कदापि नहीं हो सकता।

भावार्थ—सांख्य सिद्धांत में मुख्यरूप से प्रकृति और पुरुष दो पदार्थ माने हैं उनमें तम रज और सत्त्वस्वरूप प्रकृति पदार्थ को जड़ माना है और ज्ञान को प्रकृति का विकार स्वीकार किया है परंतु यह बात युक्त नहीं क्योंकि ज्ञान चेतनस्वरूप है वह जड़ प्रकृति का कभी विकार नहीं हो

सकता इसलिये जो पुरुष विद्वान हैं उन्हें चाहिये कि वे ज्ञान को प्रकृति का धर्म और जड़ स्वीकार न कर आत्मा का धर्म और चैतन्यस्वरूप मानें।।२०।।

दुरितानीव न ज्ञानं, निर्वृतस्यापि गच्छति।
कांचनस्य मले नष्टे, कांचनत्वं न नश्यति।।२१।।
मोक्ष में कर्म नष्ट होते ज्यों, ज्ञान का होता नहीं विनाश।
किट्ट कालिमादिक के नशने, स्वर्ण धातु ना होवे नाश।।२१।।
न ज्ञानादिगुणाभावे, जीवस्यास्ति व्यवस्थितिः।
लक्षणापगमे लक्ष्यं, न कुत्राप्यवतिष्ठते।।२२।।
मोक्ष में ज्ञानादिक अभाव यदि, मानें तो न रहेगा जीव।
क्योंकि गुण के नश जाने पर, गुणी नहीं रह सके सजीव।।२२।।

अर्थ—जिस प्रकार मोक्षावस्था में कर्म नष्ट हो जाते हैं उस प्रकार ज्ञान नष्ट नहीं होता क्योंकि कीट कालिमा आदि मल के नाश हो जाने पर भी सुवर्ण सुवर्णपना नष्ट नहीं होता। यदि मोक्षावस्था में ज्ञानादि गुणों का भी अभाव मान लिया जायेगा तो जीव ही व्यवस्थित न हो सकेगा। क्योंकि लक्षण-गुण के नष्ट हो जाने पर लक्ष्य-गुणी पदार्थ स्थित नहीं रह सकता।

भावार्थ—ऊपर बतला दिया जा चुका है कि अनेक सिद्धांतकारों का यह भी सिद्धान्त है कि मोक्ष अवस्था में आत्मा में ज्ञान आदि गुणों की विद्यमानता नहीं रहती किंतु जिस प्रकार पाप कर्म दूर हो जाते हैं उसीप्रकार ज्ञानादि गुण भी मुक्तावस्था में दूर हो जाते हैं परंतु यह बात युक्त नहीं क्योंकि जिस प्रकार सुवर्ण का सुवर्णपना स्वभाव होने से नष्ट नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान आदि गुण भी आत्मा के स्वभाव है इसलिये वे नष्ट नहीं होते। हां! जिसप्रकार सुवर्ण के कीट कालिमा आदि नष्ट हो जाते हैं क्योंकि वे सुवर्ण के स्वभाव नहीं उसी प्रकार कर्म मल अवश्य नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कर्ममल भी आत्मा के स्वभाव नहीं। यदि यही कहोगे मुक्तावस्था में ज्ञान आदि का नाश हो ही जाता है! तब तो जीव भी कायम न रह सकेगा क्योंकि यह सामान्य नियम है कि लक्षण के अभाव में लक्ष्य कभी स्थिर नहीं रह सकता। आत्मा लक्ष्य है। ज्ञानादि गुण लक्षण हैं। यदि ज्ञानादि ही नष्ट हो जायेंगे तो आत्मा स्थिर न रह सकेगा-वह भी अवश्य नष्ट हो जायेगा इसलिये जो मनुष्य यह मानते हैं कि आत्मा नित्य है उन्हें चाहिये कि वे उसके ज्ञान आदि गुणों को भी नित्य मानें और मोक्ष अवस्था में उनकी अवश्य विद्यमानता स्वीकार करें।।२२।।

विविधं बहुधा बंधं, बुध्यमानो न मुच्यते।
कर्मबद्धो विनोपायं, गुप्तिबद्ध इव ध्रुवं।।२३।।
कारागृह में बध्य जानकर, मुक्ती का न करे उपाय।
तब तक मुक्ती होय कभी न, वैसे जीव बंध को पाय।।२३।।
विभेदं लक्षणैर्बुद्ध्वा, स द्विधा जीवकर्मणोः।
मुक्तकर्मात्म तत्त्वस्थो, मुच्यते सदुपायवान् ।।२४।।
यदि छूटने का उपाय न, करे जीव तो छुटे न जान।
कर्म बंध को जान ध्यान से, कर्म मुक्त हो जीव महान्।।२४।।

अर्थ—जिस प्रकार कारागृह-कैदखाने में पड़ा हुआ मनुष्य मैं कैसे बँधा हूँ इस बात को पूर्णरूप से जानकर भी जब तक उससे मुक्त होने का उपाय नहीं करता तब तक मुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार कर्मों से बँधा हुआ मनुष्य नाना प्रकार के बंध के स्वरूप को जानकर भी जब तक उससे छूटने का उपाय नहीं करता तब तक छूट नहीं सकता परंतु जो पुरुष जीव और कर्म के लक्षणों को भले प्रकार पहचान कर पूर्णरूप से उन दोनों के भेद को जानता है और कर्मों से रहित शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन होकर कर्मों से छूटने का उपाय करता है वह कर्मों से मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—कर्मबंध से छूटने में उसका केवल ज्ञान ही कारण नहीं है किंतु ज्ञान के साथ उससे छूटने का उपाय करना प्रधान कारण है क्योंकि यह स्पष्ट अनुभव में आता है कि जिसप्रकार कैदखाने के अंदर पड़ा हुआ मनुष्य यद्यपि इस बात को जानता है कि बंध कैसे होता है परंतु जबतक उससे छूटने का उपाय नहीं करता तबतक छूटता नहीं उसीप्रकार कर्मों से बँधा हुआ मनुष्य भी नाना प्रकार के बंधों के स्वरूप को जानकर भी जब तक उससे छूटने का उपाय नहीं करता तब तक कभी कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता किंतु जिस समय कैदखाने में पड़ा हुआ मनुष्य उससे छूटने का उपाय करता है उस समय जिस प्रकार उससे वह सर्वथा छूट जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य जीव और कर्मों का उनके भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा खुलासारूप से भेद जानता है और शुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यान में स्थिर होकर कर्मों से छूटने का उपाय करता है वह अवश्य कर्मों से मुक्त हो जाता है।।२३-२४।।

एको जीवो द्विधा प्रोक्तः, शुद्धाशुद्ध व्यपेक्षया।
सुवर्ण-मिव लोकेन, व्यवहार-मुपेयुषा।।२५।।

वैसे जीव एक होने पर, शुद्धाशुद्ध कहें नर-नार।
कर्म बंध को जान ध्यान से, कर्म मुक्त हो जीव महान् ।।२५।।

अर्थ–जिस प्रकार व्यवहारी लोग एक ही सुवर्ण को दो प्रकार का कह देते हैं उसीप्रकार यद्यपि जीव पदार्थ एक ही है परंतु शुद्ध अशुद्ध की अपेक्षा उसे भी दो प्रकार का कह देते हैं।

भावार्थ–यदि शुद्धनिश्चयनय से देखा जाय तो सुवर्ण एक ही पदार्थ है परंतु व्यवहारनय से कीट कालिमा आदि से युक्त सुवर्ण को अशुद्ध सुवर्ण और कीट कालिमा आदि से रहित को शुद्ध सुवर्ण कहते हैं उसी प्रकार यदि शुद्धनिश्चयनय से देखा जाय तो आत्मा एक ही प्रकार का है किंतु व्यवहारनय से कर्मयुक्त आत्मा को अशुद्ध संसारी और कर्म रहित आत्मा को शुद्ध-मुक्त आत्मा कह दिया जाता है।।२५।।

संसारी कर्मणा युक्तो, मुक्तस्तेन विवर्जितः।
अशुद्धस्तत्र संसारी, मुक्तः शुद्धः पुनर्भवः।।२६।।
कर्म बंध संसारी एवं, कर्म रहित हैं मुक्त विशेष।
है अशुद्ध संसारी एवं, मुक्त शुद्ध हैं जीव अशेष।।२६।।

अर्थ–जो आत्मा कर्मों से युक्त है वह संसारी और जो कर्मों से रहित है वह मुक्त है तथा संसारी को अशुद्ध कहते हैं और मुक्त आत्मा शुद्ध माना गया है।

भावार्थ–ऊपर के श्लोक में यह कहा गया है कि शुद्ध अशुद्ध के भेद से आत्मा दो प्रकार का है और इस श्लोक में उसी आत्मा के शुद्ध-अशुद्ध स्वरूप का वर्णन किया है अर्थात् जो आत्मा कर्म सहित संसारी है वह अशुद्ध और जो कर्मरहित मुक्त है वह शुद्ध है।।२६।।

भवं वदंति संयोगं, यतोऽत्रात्मतदन्ययोः।
वियोगं तु भवाभाव-मपुनर्भाविकं ततः।।२७।।
कर्म और आतम संयोग को, कहा गया संसार असार।
उन दोषों के ही वियोग को, मोक्ष कहा है अपरंपार।।२७।।

अर्थ–कर्म और आत्मा के संयोग को संसार कहते हैं और उनके वियोग का नाम संसाराभाव-मोक्ष है।

भावार्थ–बहुत से मनुष्यों का सिद्धांत है कि घरबार में फंसा रहना संसार और उससे जुदा हो जाना मोक्ष है। परंतु यह बात नहीं जब तक आत्मा और कर्म का आपस में संबंध रहता है तब तक संसार और जिस समय इन दोनों की आपस में जुदाई हो जाती है वह मोक्ष है।।२७।।

निरस्तापर संयोगः, स्वस्वभाव व्यवस्थितः।
सर्वौत्सुक्यति विनिर्मुक्त, स्तमितोदधि सन्निभः।।२८।।
पर पदार्थ संयोग से विरहित, निज स्वभाव स्थित गंभीर।
उत्सुकता विरहित पदार्थ की, निराबाध कृत्कृत्य सुधीर।।२८।।
एकांतक्षीण संक्लेशो, निष्ठितार्थो निरंजनः।
निराबाधः सदानंदो, मुक्तावात्मावतिष्ठते।।२९।।
सर्व क्लेशों रहित निरंजन, अनुपम आनंदकारी भोग।
मुक्त अवस्था में यह आतम, पावे परम सौख्य संयोग।।२९।।

अर्थ—मुक्तावस्था में आत्मा पर पदार्थ के संयोग से रहित, अपने निर्मलस्वभाव में विद्यमान, सर्व पदार्थों की उत्सुकता से रहित, निश्चलसमुद्र के समान गंभीर, सर्वथा क्लेशों से रहित, कृतकृत्य, निरंजन, निराबाध और सदा अनुपम आनंद का भोगने वाला हो जाता है।

भावार्थ—आत्मा संसार में परपदार्थों से संयुक्त स्वस्वभाव में स्थित न होकर पर पदार्थों में स्थित, हर एक प्रकार की उत्सुकता से सहित, चंचल, दुखित, एवं कृतकृत्या निरंजनता से रहित और अनेक बाधाओं से युक्त रहता है परंतु मुक्तावस्था के प्राप्त होने पर यह पर पदार्थों के संयोग से रहित, निर्मल, स्वस्वभाव में स्थित, समस्त प्रकार की उत्सुकता से रहित, निश्चल, क्लेशों से रहित, कृतकृत्य, कर्मरूपी कालिमा से और बाधाओं से निर्मुक्त हो जाता है एवं अनुपम आनंद का भोग करने लगता है।।२९।।

ध्यानस्येदं फलं मुख्य-मैकांतिक मनुत्तरं।
आत्मगम्यं परंब्रह्म, ब्रह्मविद्धि-रुदाहृतं।।३०।।
आत्म स्वरूप के वेत्ता हैं जो, परं ब्रह्म प्राप्ती को ध्यान।
मुख्य रूप से फल है अद्वितीय, परमोत्कृष्ट रहा शुभ मान।।३०।।
अतोऽत्रैव महान्यत्न स्तत्त्वतः (स्य) प्रतिपत्तये।
प्रेक्षावता सदा कार्यो, मुक्त्वा वादादिवासनं।।३१।।
आत्मगम्य है अतः विचारक, व्यर्थ जल्प करके परित्याग।
निज स्वरूप की प्राप्ति हेतु अब, परम ब्रह्म में हो अनुराग।।३१।।

अर्थ—जो पुरुष ब्रह्मवेत्ता हैं—असली आत्मा के स्वरूप के जानकार हैं उन्होंने इस परब्रह्म की

प्राप्ति ही ध्यान का मुख्य फल बतलाया है जो कि अद्वितीय सर्वोत्कृष्ट और केवल आत्मा के गम्य है इसलिये जो पुरुष विचारशील हैं उन्हें चाहिये कि वे व्यर्थ के वाद अथवा जल्प आदि को छोड़कर वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति के लिये–इसी परं ब्रह्मरूप फल के लिये परिपूर्ण प्रयत्न करें।

भावार्थ–परंब्रह्म का अर्थ पूर्वोक्त समस्तकर्मों से रहित शुद्ध आत्मा है और इसकी प्राप्ति ध्यान से होती है यद्यपि ध्यान के और भी बहुत से फल हैं परंब्रह्म की प्राप्ति मुख्य फल है तथा वह अद्वितीय है–इसकी तुलना करने वाला दूसरा कोई फल नहीं, सर्वोत्कृष्ट है और आत्मगम्य-आत्मा से जाना जाता है। इसलिये जो पुरुष विचारशील हैं उन्हें चाहिये कि वे इसी फल की प्राप्ति के लिये सदा प्रयत्न करें जिससे उन्हें वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति हो किंतु व्यर्थ वाद विवादों में फँसकर अपनी आत्मा को न कष्ट होने दें।।३०-३१।।

ऊचिरे ध्यान मार्गज्ञा, ध्यानोद्धूत-रंजश्चयाः।
भावि योगिहितायेदं, ध्वांत दीपसमं वचः।।३२।।
ध्यानमार्ग के ज्ञाता हैं जो, ध्यान से पाप किए सब नाश।
किए हितार्थ योगियों के जो, अंधकार का करें विनाश।।३२।।
वादानां प्रतिवादानां, भाषितारो वि निश्चितं।
नैव गच्छंति तत्त्वान्तं, गते-रिव विलंबितः।।३३।।
ज्यों विलंबकारी नर पथ को, शीघ्र नहीं कर पाए पार।
परवादी में उलझनकारी, शिव ना पावे उसी प्रकार।।३३।।

अर्थ–जो महानुभाव ध्यान मार्ग के भले प्रकार जानकार हैं और ध्यान के द्वारा जिन्होंने समस्त पाप रज नष्ट कर दिये हैं उन्होंने योगियों के हितार्थ अंधकार को नाश करने वाले दीपक के समान ये अग्रिम वचन कहे हैं कि जिस प्रकार जगह जगह विलम्ब करनेवाला मनुष्य मार्ग को तय नहीं कर सकता उसी प्रकार जो मनुष्य वाद प्रतिवाद में उलझे रहते हैं वे नियम से वास्तविक स्वरूप को प्राप्त नहीं हो सकते।

भावार्थ–जिस प्रकार कोई मनुष्य एक दिन में बीस कोश की मंजिल पार करना चाहता है परन्तु वह जगह-जगह ठहर-ठहर कर चलने के वा रास्ता छोड़ कुरास्ता चलने के कारण अपने मार्ग को तय नहीं कर सकता उसी प्रकार जो मनुष्य सर्वदा वाद-विवाद में ही उलझा रहता है वह भी वास्तविक स्वरूप को नहीं पा सकता इसलिये ध्यान की रीतियों के भले प्रकार जानने वाले

और ध्यान के द्वारा समस्त कर्म मल को नष्ट करने वाले महात्माओं का योगियों के लिये यह उपदेश है कि यदि वास्तविक स्वरूप प्राप्त करना है तो व्यर्थ वाद विवाद में मत फँसो आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर उसकी प्राप्ति का उपाय करो।।३२-३३।। तथा–

विभक्त चेतनध्यान, मत्रोपायं विदुर्जिनाः।
गतावस्त प्रमादस्य, सन्मार्ग गमनं यथा।।३४।।
रहित प्रमाद मार्ग में चलना, गति का रहा उपाय प्रधान।
कर्म रहित निज आत्म प्राप्ति में, मुख्य उपाय कहाए ध्यान।।३४।।

अर्थ–जिस प्रकार प्रमाद रहित मनुष्य का उत्तम मार्ग से चलना गति में प्रधान उपाय है उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति में भी कर्ममल से रहित शुद्ध आत्मा का ध्यान मुख्य उपाय है।

भावार्थ–जो अप्रमादी मनुष्य ठहर-ठहर कर नहीं चलने वाला है और उत्तम मार्ग से चलता है वह जिसप्रकार बिना किसी कष्ट के रास्ता तय कर लेता है उसीप्रकार जो मनुष्य कर्मों से रहित केवल आत्मा का ध्यान करने वाला है वह शीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर लेता है इसलिये मोक्ष की प्राप्ति में विशुद्ध आत्मा का ध्यान प्रधान कारण है।।३४।।

योज्यमानो यथा मंत्रो, विषं घोरं निषूदते।
तथात्मापि विधानेन, कर्मानेक भवार्जितं।।३५।।
उत्तम मंत्रों से विष व्याधी, का होता है जैसे नाश।
कर्म उपार्जित किए है भव-२, आत्मध्यान से होंय विनाश।।३५।।

अर्थ–जिसप्रकार उत्तम मन्त्र के प्रयोग से घोर भी विष नष्ट हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी अनेक भवों से उपार्जित कर्मों को उपर्युक्त उत्तम उपाय से सर्वथा नष्ट कर देता है। अर्थात् भयंकर विष के नाश में जिस प्रकार अनुपम कारण मन्त्र है उसी प्रकार विपुल भी कर्मों के नाश में अनुपम कारण शुद्धात्मध्यान है।।३५।।

चिंत्यं चिंतामणिर्-दत्ते, कल्पितं कल्पपादपः।
अविचिंत्य-मसंकल्प्यं, विविक्तात्मानुचिंतितः।।३६।।
कल्पतरु कल्पित चिंतामणि, चिंतित वस्तू करे प्रदान।
किंतु अचिंतित और अकल्पित, प्राप्त कराए आत्म ध्यान।।३६।।

अर्थ–चिन्तामणि रत्न चिन्तित पदार्थों को और कल्पवृक्ष कल्पित पदार्थों को प्रदान करता

है परंतु शुद्ध आत्मा के ध्यान से अचिंतित और असंकल्पित पदार्थ की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—संसार में यद्यपि चिन्तामणि रत्न और कल्वृक्ष भी अभीष्ट पदार्थों को प्रदान करते हैं परंतु जो पदार्थ शुद्ध आत्मा की भावना से प्राप्त होता है उसके समान पदार्थों को वे नहीं दे सकते क्योंकि यदि चिन्तामणि रत्न की आराधना की जायेगी तो वह चिन्तित पुत्र आदि अनित्य पदार्थ और यदि कल्प वृक्ष की आराधना की जायेगी तो वह भी कल्पित भोजन आदि अनित्य पदार्थ दे सकता है परन्तु शुद्ध आत्मा के आराधन से अनुपम निराकुलतामय आनंद प्रदान करने वाला नित्य मोक्षसुख प्राप्त होता है जोकि अंचित्य-जिसकी उत्कृष्टता का स्वप्न में भी विचार नहीं हो सकता और असंकल्प्य-अर्थात् जिसकी उत्तमता की कल्पना ही नहीं हो सकती ऐसा है इसलिये शुद्ध आत्मा का ध्यान चिंतामणिरत्न और कल्पवृक्षों से भी उत्कृष्ट पदार्थ है।।३६।।

जन्ममृत्युजरारोगा, हन्यंते येन दुर्जयाः।
मनोभूहनने तस्य, नायासः कोऽपि विद्यते।।३७।।

जन्म जरामृत्यू रोगों का, नाशक गाया आतम ध्यान।
कामदेव के नाश में फिर कोइ, बाधक ना हो सके प्रधान।।३७।।

अर्थ—यह आत्मध्यान जब जन्म मरण और बुढ़ापा रूप रोगों का नाश करने वाला है तब इसे कामदेव के नाश करने में कोई अड़चन नहीं हो सकती।

भावार्थ—आत्मध्यान इतना बलवान पदार्थ है कि इससे जन्म मरण बुढ़ापा और कामदेव समस्त वातें नष्ट हो जाती हैं इसलिये शुद्धात्मध्यान परम हितकारी है।।३७।।

मुक्त्वा वादप्रवादाद्य-मध्यात्मं चिंत्यतां ततः।
नाविधूते तमस्तोमे, ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते।।३८।।

वाद विवाद छोड़ ज्ञानी जन, आतम का ही करें विचार।
ज्ञान ज्ञेय का न प्रकाश हो, जब तक कहीं रहे अंधकार।।३८।।

अर्थ—इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे वाद-प्रवाद आदि को छोड़कर आत्मसंबंधी विचार करें क्योंकि जब तक अंधकार का नाश नहीं होता तब तक ज्ञान ज्ञेय को प्रकाशित नहीं कर सकता।

भावार्थ—जब तक अंधकार विद्यमान रहता है तब तक पदार्थों का स्पष्टरूप से प्रकाश नहीं होता किन्तु जिस समय वह नष्ट हो जाता है उस समय सब पदार्थ स्पष्ट रूप से दिख निकलते हैं। शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान में वाद प्रवाद आदि अंधकार स्वरूप हैं इसलिये जब तक वाद

प्रवाद हुआ करते हैं तब तक शुद्धात्मज्ञान नहीं होता किन्तु जिस समय वाद प्रतिवाद करने छोड़ दिये जाते हैं उस समय शुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है इसलिये जो मनुष्य शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान के अभिलाषी हैं उन्हें वाद प्रतिवाद करना सर्वथा छोड़ देना चाहिये।।३८।।

उपेयस्य यतः प्राप्तिर्-जायते सदुपायतः।
सदुपाये ततः प्राज्ञैर्-विधातव्यो महादरः।।३९।।
मुक्ती हो उत्तम उपाय से, ज्ञानी उसमें आदरवान।
आत्मध्यान उत्तम उपाय है, करें अतः आतम का ध्यान।।३९।।
नाध्यात्म चिंतना-दन्यः, सदुपायस्तु विद्यते।
दुरापः स परं जीवैर्-मोहव्याल कदर्थितैः।।४०।।
मोह नाग से ग्रसित मूढ़ हों, उनको दुर्लभ रहा महान्।
आत्म प्राप्ति ना होवे उनको, ऐसा कहते हैं भगवान।।४०।।

अर्थ—उपेय-प्राप्त करने योग्य मोक्ष पदार्थ की प्राप्ति उत्तम निर्दोष उपाय से होती है इसलिये विद्वानों को उत्तम उपाय में अत्यंत आदर करना चाहिये एवं वह उत्तम उपाय अध्यात्म ध्यान है परंतु जो जीव मोहरूपी सर्प से कदर्थित हैं–मूढ़ हैं उन्हें उस उपाय की प्राप्ति होना दुर्लभ है–कठिनता से वे उस उपाय को प्राप्त कर सकते हैं।

भावार्थ—ऊपर कह दिया जा चुका है कि बिना उत्तम उपाय के उपेय-मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और वह उत्तम उपाय शुद्ध आत्मा का ध्यान है इसलिये जो पुरुष विद्वान हैं–मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे बड़े उत्साह और आनंद से विशुद्ध आत्मा का ध्यान करें तथा मोह को सर्वथा छोड़ दें क्योंकि मोही जीव विशुद्ध आत्मा के ध्यान के अधिकारी नहीं।।४०।।

उत्साहो निश्चयो धैर्यं, संतोषस्-तत्त्व दर्शनं।
जनपदात्ययः षोढा, सामग्रीयं बहिर्भवा।।४१।।
उत्साह धैर्य तत्त्व दर्शन शुभ, संतोष निश्चय एकांत स्थान।
बाह्य हेतु छह मोक्ष प्राप्ति के, बतलाए हैं जिन भगवान॥४१।।

अर्थ—उत्साह, निश्चय, धैर्य, संतोष, तत्त्वदर्शन और एकांतस्थान ये छह मोक्ष की प्राप्ति में बाह्य कारण हैं जब तक इनका आश्रय नहीं किया जायेगा तब तक कभी विशद मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ—कारण के दो भेद हैं एक अन्तरङ्ग दूसरा बाह्य। मोक्ष की प्राप्ति में अंतरंग कारण शुद्ध आत्मा का ध्यान है। और बाह्य कारण उत्साह निश्चय धीरता संतोष तत्त्वों का श्रद्धान और एकांत स्थान है इसलिये जो मनुष्य मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें मोक्ष की प्राप्ति में उत्साह, पदार्थों का पूर्ण निश्चय, धीरता, संतोष, तत्त्वों का श्रद्धान और एकांतस्थान का आश्रय अवश्य करना चाहिये।।४१।।

आगमे-नानुमानेन, ध्यानाभ्यास रसेन च।
त्रेधा विशोधयन् बुद्धिं, ध्यान-माप्नोति पावनं।।४२।।
जिसकी आत्मबुद्धि आतम या, अनुमान ध्यानाभ्यास से होय।
पूर्ण विशुद्ध वही आतम शुभ, परम पवित्र ध्यान कर सोय।।४२।।

अर्थ—जिस आत्मा की बुद्धि आगम अनुमान और ध्यानाभ्यास के रस से विशुद्ध है वही पवित्रध्यान कर सकता है। ध्यानी हो सकता है।

भावार्थ—जो महात्मा पूर्ण शस्त्र का वेत्ता है अच्छी तरह तर्क वितर्क करना जानता है और जिसे ध्यान के अभ्यास में अतिशय आनंद मालूम पड़ता है वही यथार्थ पवित्र ध्यान को प्राप्त हो सकता है अन्य नहीं।।४२।।

आत्मध्यान रतिर्ज्ञेयं, विद्वत्तायाः परं फलं।
अशेष शास्त्रशास्तृत्वं, संसारोऽभाषि धीधनैः।।४३।।
विद्वत्ता का उत्तमफल है, विद्वानों का आतम ध्यान।
आत्मध्यान से प्रेम न केवल, शास्त्र पठन संसार है मान।।४३।।

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं उन्होंने आत्मध्यान में प्रेम होना विद्वत्ता का उत्कृष्ट फल बतलाया है और आत्मध्यान में प्रेम न होकर केवल अनेक शास्त्रों को पढ़ लेना संसार कहा है।

भावार्थ—बहुत से मनुष्य अनेक शास्त्रों को पढ़ लेने से ही अपने को विद्वान मान लेते हैं परंतु यह बात ठीक नहीं। क्योंकि जबतक शुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यान में प्रेम नहीं होता तबतक शास्त्रों का पढ़ना अकार्यकारी है इसलिये जो पुरुष वास्तविक विद्वान हैं उन्होंने विद्वत्ता का उत्कृष्ट फल आत्मध्यान में प्रेम होना बतलाया है और केवल अनेक शास्त्रों के पढ़ लेने को संसार कहा है क्योंकि आत्मध्यान से रहित होने पर केवल शास्त्रों के अक्षराभ्यास से अभिमान आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं उनसे वाद प्रतिवाद और वाद प्रतिवाद से कर्मों का संयोग होता है तथा कर्मों के

संयोग को ही संसार कहा गया है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे शास्त्र पढ़ कर आत्मध्यान में प्रेम करें।।४३।।

संसारः पुत्रदारादिः, पुंसां संमूढ़चेतसां।
संसारो विदुषां शास्त्र-मध्यात्मरहितात्मनां।।४४।।

है संसार पुत्र स्त्र्यादिक, अज्ञानी जो जीव विशेष।
विद्वत शास्त्राभ्यासी आतम, ध्यान शून्य के शास्त्र अशेष।।४४।।

अर्थ—जो पुरुष अज्ञानी हैं–वास्तविकरूप से हित अहित को नहीं पहचानते उनका पुत्र स्त्री आदि ही संसार है किन्तु जो विद्वान हैं–शास्त्रों का अक्षराभ्यास तो कर चुके हैं परंतु आत्मध्यान से शून्य हैं उनका संसार शास्त्र है।

भावार्थ—सर्वत्र पुत्र स्त्री आदि के संबंध को संसार बतलाया है शास्त्र को कहीं संसार नहीं कहा इसलिये शंका होती है कि शास्त्र संसार कैसे है? उसका समाधान यहाँ ग्रंथकार ने किया है कि जो पुरुष मूढ़बुद्धि है उनका संसार तो वास्तव में पुत्र स्त्री आदि का संयोग ही है और जिन्होंने शास्त्र का अध्ययन तो किया है परंतु उससे उसके मुख्य फल शुद्धात्मध्यान में जिन्हें प्रेम न हुआ है तो वह उनके लिये संसार ही है क्योंकि आत्मध्यान में प्रेम न होने से मुक्ति न होकर संसार में ही रुलना पड़ता है।।४४।।

ज्ञानबीजं परं प्राप्य, मानुष्यं कर्मभूमिषु।
न सद्ध्यान कृषेरन्तः, प्रवर्ततेऽल्पमेधसः।।४५।।

अल्पज्ञानी जन कर्मभूमियों, में जा ज्ञान के बीज स्वरूप।
नरभव पाके ध्यान खेत में, होते नहीं प्रवृत्ती रूप।।४५।।

अर्थ—जो पुरुष अल्पज्ञानी हैं वे कर्मभूमियों के अंदर ज्ञान के बीजभूत मनुष्यभव को प्राप्त होकर भी उत्तम ध्यानरूपी खेती के अंदर प्रवृत्त नहीं होते।

भावार्थ—जिसप्रकार अज्ञानी किसान उत्तम बीज और उत्तम जमीन को पाकर भी उत्तम खेती नहीं कर सकता उसी प्रकार जो मनुष्य अज्ञानी हैं वे ज्ञान की प्राप्ति के प्रधान कारण कर्मभूमि में मनुष्य भव को पाकर भी उत्तम ध्यान नहीं कर सकते।।४५।।

बडिशाभिषवच्छेदो, दारुणो भोगशर्मणि।
सत्तास्-त्यजति सद्ध्यानं, धिगहो मोह तामसं।।४६।।

लगे वडिशपर मांस खंड सम, भोग छूटना कठिन महान्।
है धिक्कार मोहके तम को, भोगी छोड़े उत्तम ध्यान।।४६।।

अर्थ—वडिश (मछलियों के पकड़ने के कांटे) पर लगे हुये मांस के समान भोगसुख का छूटना अत्यंत कठिन है इसलिये विषयभोगों में आसक्त हुये मनुष्य उत्तम ध्यान का आराधन करना छोड़ देते हैं अत: मोहरूपी अंधकार के लिये धिक्कार है।

भावार्थ—माँस के लोलुपी मनुष्य मछलियों के पकड़ने के लिये नदी आदि में कांटा डालते हैं और उसके मुँह पर कुछ मांस लगा देते हैं। मछलियाँ बेचारी मांस के लोभ से उसके पास आती हैं और माँस न खाकर उसमें फंसकर अपनी जान न्यौछावर कर देती हैं इसलिये जिसप्रकार कांटे पर लगा हुआ मांस का काटना मछलियों के लिये अत्यंत कठिन है उसीप्रकार भोग सुख का छूटना भी भोगियों के लिये दुस्साध्य है अतएव भोगों में आसक्त मनुष्य उत्तम ध्यान का आराधन नहीं करते इसलिये मोहरूपी अंधकार के लिये धिक्कार है।।४६।।

आत्मतत्त्वम-चिन्वाना, विपर्यास परायणाः।
हिताहित विवेकांधाः, खिद्यंते सांप्रतेक्षणाः।।४७।।
ज्ञान शून्य जो निज स्वरूप के, ही विपरीत करें श्रद्धान।
रहित हिताहित के विवेक से, मोह मूढ़ जो रहे महान।।४७।।
आधि-व्याधि-जराजाति-मृत्यु शोकाद्युपद्रवं।
पश्यंतोऽपि भवं भीमं, नोद्विजंतेऽत्र मोहिनः।।४८।।
आधिव्याधि इत्यादि उपद्रव, युक्त भयंकर यह संसार।
के स्वरूप को देख खिन्न हों, मोही छोड़ मुक्ती द्वार।।४८।।

अर्थ—जो पुरुष आत्मस्वरूप के ज्ञान से शून्य हैं, पदार्थों का विपरीत श्रद्धान करने वाले, हित अहित के विवेक से रहित और मोह से मूढ़ हैं वे आधि-मानसिक पीड़ा, व्याधि-बुढ़ापा जन्म मरण शोक आदि उपद्रवों से व्याप्त और भयंकर संसार के स्वरूप को देखते भी खिन्न होते रहते हैं परंतु मोह की प्रबलता से विरक्त नहीं होते।

भावार्थ—मोही मनुष्य संसार के चरित्र को-आधि व्याधि आदि जन्य उपद्रवों को देखते और उनसे उत्पन्न हुये दु:खों को भोगकर खिन्न तो होते रहते हैं परंतु वे आत्मस्वरूप के ज्ञान से शून्य हैं, पदार्थ का विपरीत स्वरूप समझने वाले मिथ्यादृष्टि हैं, कौन पदार्थ हितकारी है और कौन

अहितकारी है इस बात का उन्हें पूर्णरूप से ज्ञान नहीं है और मोह से मूढ़ हैं इसलिये संसार से भयभीत हो स्वस्वरूप के ध्यान की और ऋजु नहीं होते, नहीं झुकते।।४७-४८।।

अकृत्यं दुर्धियः कृत्यं, कृत्यं चाकृत्य मंजसा।
अशर्म शर्म मन्यंते, कच्छू कंडूयका इव।।४९।।
दुर्बुद्धी जन दाद रोगियों, सम कुकर्म माने सुकर्म।
अहित मानते हैं हितकारी, जो सुकर्म माने दुष्कर्म।।४९।।

अर्थ—जो मनुष्य दुर्बुद्धि हैं वे दाद के खुजाने वाले मनुष्यों के समान कुकर्म को सुकर्म, सुकर्म को कुकर्म और अकल्याण को कल्याण मानते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार दद्रुरोग से पीड़ित मनुष्य जिस समय उसकी खाज से व्याकुल होता है उस समय वह यह नहीं समझता कि दाद का खुजाना अच्छा काम है या बुरा किं वा इसके खुजाने से अंत में मुझे सुख होगा या दुख? किंतु धड़ाधड़ उसे खुजाता ही चला जाता है उसी प्रकार जो पुरुष मूढ़बुद्धि हैं मोह के मजबूत जाल में जकड़े हुये हैं वे भी यह नहीं समझते कि कौन सा बुरा कार्य है और कौन सा अच्छा अथवा किससे हमें सुख मिल सकता है और किससे नहीं? किंतु वे परिपाक को बिना विचारे ही तत्कालीन सुख को देखकर कुकर्म आदि को सुकर्म आदि मान करते ही चले जाते हैं इसलिये उन्हें अंत में अवश्य दुःख भोगना पड़ता है।।४९।।

क्षारांभस्-त्यागतः क्षेत्रे, मधुरोऽमृत योगतः।
प्ररोहति यथा बीजं, ध्यानं तत्त्वश्रुतेस्तथा।।५०।।
पड़ा खेत में बीज क्षार जल, रहित मिष्ठ जल पा संयोग
उत्तम और मिष्ट उगता त्यों, तत्त्व श्रवण से ध्यान का योग।।५०।।

अर्थ—जिस प्रकार खेत में पड़ा हुआ बीज खारी जल से रहित मिष्ट जल के संयोग से उत्तम और मिष्ट उगता है उसीप्रकार सुतत्त्वों के श्रवण से उत्तम ध्यान का भी उदय होता है।

भावार्थ—जिसप्रकार खेत में खारी जल से सींचा गया बीज खारा, हीन और मिष्टजल से सींचा गया मधुर बलिष्ट रूप से फलता है किंतु यह नहीं हो सकता कि सींचा जाय खारी जल से और हो मधुर किं वा सींचा जाय मधुर जल से और हो खारी उसीप्रकार कुतत्त्वों के श्रवण से निकृष्ट ध्यान और उत्तम तत्त्वों के श्रवण से उत्तम ध्यान प्राप्त होता है किंतु यह नहीं कि कुतत्त्वों के सुनने से उत्तमध्यान और उत्तम तत्त्वों के सुनने से निकृष्ट ध्यान उदित हो।।५०।। इसलिये—

क्षारांभः सदृशी त्याज्या, सर्वदा भोगशेमुषी।
मधुरांभोनिभा ग्राह्या, यत्नातत्त्वश्रुतिर्बुधैः।।५१।।
निजस्वरूप के इच्छुक हैं जो, वे भोगों के बुद्धीवान।
क्षार नीर सम त्याग मिष्ठ जल, सम सुतत्त्व को सुनें प्रधान।।५१।।

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं—असली आत्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे भोगों की ओर झुकी हुई बुद्धि को खारी जल के समान सदा के लिये छोड़ दें और बड़े यत्न से मधुर जल के समान तत्त्वों का श्रवण करें। अर्थात् भोगों की ओर बुद्धि के झुकाव से निकृष्ट फल उत्पन्न होगा और तत्त्व श्रवण से कल्याण की प्राप्ति होगी इसलिये विद्वानों को बड़े प्रयत्न से तत्त्वों का श्रवण करना चाहिये।।५१।।

बोधरोधः शमापायः, श्रद्धाभंगोऽभिमानकृत्।
कुतर्को मानसो व्याधिर्-ध्यानशत्रु-रनेकधा।।५२।।
मानसिक व्याधी ध्यान का, शत्रु ज्ञान को ढकने वाला जान।
श्रद्धा भंग शांति का नाशक, प्राप्त कराए जो अभिमान।।५२।।
कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो, न युक्तो मुक्ति कांक्षिणां।
आत्म तत्त्वे पुनर्युक्तः, सिद्धिसौध प्रवेशके।।५३।।
मुक्ति लक्ष्मी के अभिलाषी, तजें कुतत्त्व आग्रहमान।
आत्म स्वरूप में करें प्रवृत्ती, मुक्ती का जो हेतु प्रधान।।५३।।

अर्थ—मानसिक व्याधिस्वरूप कुतर्क ध्यान का शत्रु है तथा वह ज्ञान को ढकने वाला, शांति का नाशक, श्रद्धा का भंग करने वाला और अभिमान को उत्पन्न करने वाला होने के कारण अनेक प्रकार का है इसलिये जो पुरुष मोक्ष लक्ष्मी के अभिलाषी हैं उन्हें कुतत्त्व में किसी प्रकार का आग्रह नहीं करना चाहिये किन्तु आत्मस्वरूप के समझने में उन्हें प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि आत्मस्वरूप में किया हुआ आग्रह मोक्षरूपी अनुपम महल में प्रवेश कराने वाला है—आत्मस्वरूप के ज्ञान से अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—ऊपर कह दिया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति में उत्तमध्यान असाधारण कारण है—जब तक उत्तम ध्यान का आश्रय नहीं किया जाता है तब तक कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती परन्तु जब तक कुतर्कों के अंदर बुद्धि फंसी रहती है तब तक ध्यान नहीं हो सकता क्योंकि यह कुतर्क वास्तविक ज्ञान का रोकने वाला है पदार्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं होने देता, शांति का भंग

करने वाला है–यथार्थ ज्ञान न होने के कारण कुतर्की मनुष्य के हृदय में जरा भी शांति का भाव नहीं रहता, श्रद्धा भंग करने वाला है–कुतर्की मनुष्य को किसी पदार्थ में श्रद्धा नहीं होती, अभिमान का करने वाला है जो मनुष्य कुतर्की होते हैं वे अपने को प्रबल विद्वान समझकर सदा अभिमान की चोटी पर सवार रहते हैं इसलिये वह ध्यान का प्रतिबंधक है–अज्ञान वा अशांति आदि के होने से कभी आत्मध्यान नहीं हो सकता इसलिये जो पुरुष ध्यान का आराधन कर अनुपम स्थान निर्वाण प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें सर्वथा कुतर्क करना छोड़ देना चाहिये और आत्मस्वरूप के ध्यान में आग्रह रखना चाहिये क्योंकि आत्मध्यान का आग्रह मोक्षरूपी शांतिमय स्थान में ले जाने के लिये उत्तम सोपान है–आत्मध्यानी मनुष्य अवश्य निराकुलतामय सुख का अनुभव करते हैं।।५२-५३।।

पृथ्वी छन्द

विविक्तमिति चेतनं परमशुद्धबुद्धाशया, विचिंत्य सततादृता भवमपास्य दुःखास्पदं।
निरंतरमपुनर्भवं सुखमतींद्रियं स्वात्मजं समेत्य हतकल्मषं निरुपमं सदैवासते।।५४।।

शुद्ध प्रबुद्धचित्त के धारक, निज स्वरूप के आदरवान।
कर्म रहित शुद्धात्म ध्यानकर, जो अनेक दुख का स्थान।।
कर देते हैं त्याग मोक्ष में, जाकर करते 'विशद' निवास।
रहित कालिमा सहज अतीन्द्रिय, अपुनर्भव अविनाशी वास।।५४।।

इति श्री अमितगति आचार्य विरचित योगसार ग्रंथ मोक्षाधिकार।

अर्थ–जो महानुभाव परम शुद्ध एवं प्रबुद्ध चित्त के धारक हैं और आत्मस्वरूप के ध्यान में पूर्ण आदर रखनेवाले हैं वे ऊपर कहे अनुसार कर्ममल से रहित शुद्ध आत्मा का ध्यान कर संसार का जो अनेक दु:खों का स्थान है सर्वथा त्याग कर देते हैं और मोक्ष स्थान में जा निवास करते हैं जो निरंतर-अविनाशी है, अपुनर्भव-जहाँ से फिर लौटना नहीं होता है, अतींद्रिय सुखस्वरूप है, स्वात्मज-अपनी आत्मा से उत्पन्न होने वाला है, समस्त कालिमाओं से रहित है और अनुपम है।

भावार्थ–ऊपर कह दिया गया है कि मोक्ष अविनाशी अतींद्रिय सुख का भंडार, आत्मा से जायमान, कर्मों से रहित, अनुपम और अपुनर्भव अर्थात् जहां से फिर लौटना नहीं होता ऐसा पदार्थ है तथा उसकी प्राप्ति अनेक दुखों के भंडार संसार के नाश हो जाने पर होती है और संसार का नाश कर्म रहित विशुद्ध आत्मा के ध्यान से होता है इसलिये जो पुरुष उपर्युक्त अविनाशी आदि स्वरूप के धारक मोक्ष को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें विशुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिये जिससे उनका संसार नष्ट हो और उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो जाय।।५४।।

इस प्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित श्री विशदसागराचार्य अनुवादित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथ में मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।।७।।

❑❑

चारित्राधिकार ।।८।।

विमुच्य विविधारंभं, पारतंत्र्य करं गृहं।
मुक्तिं यियासता धार्यं, जिनलिंगं पटीयसा।।१।।
जो संसार चक्र के ज्ञाता, मोक्ष प्राप्ति के इच्छावान।
सर्वारम्भ और गृह तज वे, जिन लिंग धारी होंय महान्।।१।।
सोपयोग-मनारंभं, लुंचितमश्र मस्तकं।
निरस्ततनु संस्कारं, सदा संगविवर्जितं।।२।।
क्योंकि यह लिंग दर्श ज्ञान युत, सर्वारंभ रहित हो जान।
इसमें दाढ़ी मूँछ और सिर, के केशों का लुंच हो मान।।२।।
निराकृतपरापेक्षं, निर्विकार मयाचनं।
जातरूपधरं लिंगं, जैनं निर्वृति कारणं।।३।।
सर्व परिग्रह त्याग पदार्थों की, अभिलाषा रहित विकार।
मुद्रा नग्न मोक्ष का कारण, होता नहीं देह संस्कार।।३।।

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं–संसार के चरित्र के वास्तविक जानकार हो चुके हैं और मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें समस्त प्रकार के आरम्भों का और पराधीनता करनेवाले घर का सर्वथा त्यागकर जिन लिङ्ग-दिगम्बर लिङ्ग धारण करना चाहिये क्योंकि वह लिङ्ग ज्ञान दर्शन पूर्वक है, सर्वप्रकार के आरम्भों से रहित है, उसमें दाढ़ी मूंछ और मस्तक के बालों का लोच किया जाता है, किसी प्रकार से शरीर का संस्कार नहीं किया जाता, समस्त परिग्रहों का त्याग रहता है, द्रव्य आदि पर पदार्थों की जरा भी अभिलाषा नहीं रहती, विकार और याचक वृत्ति का भी नाश रहता है, नग्न मुद्रा रहती है और जो मोक्ष का कारण कहा गया है।

भावार्थ—जो लिङ्ग अज्ञानपूर्वक धारण किया जाता है, जहां अनेक प्रकार के आरंभ, बड़ी-बड़ी जटा और मूंछ डाढ़ी का रखना, शरीर का संस्कार, अनेक प्रकार के परिग्रहों का धारण, द्रव्य आदि की अपेक्षा, इंद्रियों के विकार, याचक वृत्ति और नग्नता न होकर वस्त्र आदि का संबंध रहता है वह लिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं किंतु उसके धारण करने में हिंसा राग द्वेष क्रोध आदि दुर्भावों की मौजूदगी रहती है इसलिये उससे संसार में रुलना पड़ता है और अनेक प्रकार के दु:ख

भोगने पड़ते हैं परंतु जो लिङ्ग ज्ञानपूर्वक धारण किया जाता है, जहां पर आरंभ का त्याग, दाढ़ी मूछ और मस्तक के केशों का लोच, शरीर संस्कार और परिग्रह का त्याग, द्रव्य आदि पर पदार्थों की उपेक्षा, विकार और याचना वृत्ति का अभाव एवं नग्नता रहती है वह लिंग मोक्ष का कारण है अर्थात् ऐसे निर्दोष लिङ्ग के धारण करने से अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये जो मनुष्य भले प्रकार स्व स्वरूप के जानकार हैं और अनुपम निराकुलतामय स्थान मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त प्रकार के आरंभों का त्याग करें और पराधीनता के कारण गृहवास को छोड़ दें क्योंकि आरंभ में प्रवृत्ति रखना और घरबार स्त्री पुत्र आदि में ममत्व करना जिनलिंग में बाधक है अर्थात् जब तक आरंभ और घर आदि में ममता बनी रहती है तब तक कभी जिनलिंग नहीं धारण किया जा सकता।।१-३।।

नाहं भवामि कस्यापि, न किंचन-ममापरं।
इत्यकिंचनतोपेतं, निष्कषायं जितेंद्रियं।।४।।
न मैं किसी का हूँ न मेरा, कोई पदार्थ है इसी प्रकार।
आकिंचन्य धर्मयुत इंद्रिय-विषय कषाय रहित अविकार।।४।।
नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या, जिनमुद्रा विभूषितः।
जायते श्रमणोऽसंगो, विधाय व्रतसंग्रहं।।५।।
ऐसे गुरु को भक्तीपूर्वक, नमकर जिन मुद्रा को धार।
रहित परिग्रह महाव्रतों का, धारक मुनि होता शुभकार।।५।।

अर्थ—जो गुरु 'न मैं किसी का हूँ और न कोई परपदार्थ मेरा है, इस प्रकार के आकिंचन धर्म से है, कषायों'—से रहित और इंद्रियों का विजयी है ऐसे गुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर जो महानुभाव जिनमुद्रा को धारण करता है, समस्त प्रकार के परिग्रहों का त्याग और महाव्रतों का आचरण करता है वह महात्मा मुनि होता है।

भावार्थ—जो गुरु परपदार्थों को अपना और अपने को परपदार्थों का मानते हैं, कषायी हैं, इंद्रियों के आधीन हैं, वे गुरु नहीं-कुगुरु हैं और उनकी सेवा से कभी कल्याण नहीं हो सकता। किंतु जो यह विचार कर कि 'न हम किसी के हैं और न कोई अन्य पदार्थ हमारा है, पक्के आकिंचन्य धर्म के पालक हैं' जिनके पास क्रोध आदि कषाय फटकने तक नहीं पाते और जो स्पर्शन आदि पांचों इंद्रियों को वश करने वाले हैं वे ही वास्तविक गुरु हैं और उन्हीं की सेवा से कल्याण की

प्राप्ति होती है इसलिये जो महानुभाव ऐसे परम पावन गुरुओं को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर मुनिमुद्रा को धारण करते हैं समस्त प्रकार के परिग्रहों का त्याग और अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं वे मुनि होते हैं।।४-५।।

महाव्रत समित्यक्ष रोधाः स्युः पंच चैकशः।
परमावश्यकं षोढा, लोचोऽस्नान-मचेलता।।६।।
पंच महाव्रत पंच समीती, पंचेन्द्रिय का रोधक जान।
षड् आवश्यक केश लुंचकर, मंजन त्यागी गुण अस्नान।।६।।
अदंतधावनं भूमि, शयनं स्थितिभोजनं।
एकभक्तं च संत्येते, पाल्या मूलगुणा यतेः।।७।।
भूमि शयन नग्नता एवं, स्थित भोजन इक बार प्रधान।
यह अट्ठाइस मूलगुण मुनियों, को पालन आवश्यक जान।।७।।

अर्थ—पांच महाव्रत, पांच प्रकार की समितियां, पाँच प्रकार की इंद्रियों का निरोध, छह आवश्यक, केशलोंच, स्नान का अभाव, नग्नता, दाँतों को न धोना, भूमि पर सोना, स्थितिभोजन, और दिन में एकबार आहार लेना ये अट्ठाईस मुनियों के मूल गुण हैं इसलिये मुनियों को अवश्य इनका पालन करना चाहिये।

भावार्थ—अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह ये पांच महाव्रत हैं, ईर्या, भाषा, एषणा आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग ये पांच समितियां हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांच इंद्रियों का निरोध पांच प्रकार का इंद्रियनिरोध है स्वाध्याय, प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यक हैं, केशों का उखाड़कर फेंकना केशलोंच, कभी भी स्नान न करना अस्नान, दिगंबर मुद्रा का धारण करना अचेलता, दांतों का कभी न धोना, भूमि पर सोना, खड़े होकर भोजन करना और दिन में एक बार आहार का लेना ये अट्ठाईस मूल गुण मुनियों के पालने के हैं इसलिये मुनियों को चाहिये कि वे अवश्य इन मूलगुणों का पालन करें।।६-७।।

निष्प्रमादतया पाल्या, योगिना हितमिच्छता।
सप्रमादः पुनस्तेषु, छेदोपस्थापको यतिः।।८।।
योगी रहित प्रमाद मूलगुण, धारी होते महति महान्।
मूलगुणों में हो प्रमाद तो, छेदोपस्थापक हो जान।।८।।

अर्थ—योगी को सदा उपर्युक्त मूलगुण प्रमाद रहित होकर पालने चाहिये क्योंकि जो यति मूलगुणों के पालने में प्रमाद करता है वह छेदोपस्थक यति हो जाता है।

भावार्थ—प्रमाद से चारित्र के पालने में हीनता आ जाने पर दिन पक्ष मास वा वर्ष पर्यन्त आदि की दीक्षा का छेद कर देना छेद है तथा छेदपूर्ण हो जाने पर फिर से नई दीक्षा देना उपस्थापना है जो मुनि प्रमादपूर्वक मूलगुणों का पालन करता है वह छेदोपस्थापक नाम का मुनि कहा जाता है अर्थात् प्रमाद से मुलगुणों के पालने में दोष आ जाने के कारण आचार्य उस मुनि की दिन मास वा वर्ष आदि की दीक्षा का छेद कर देते हैं पश्चात् अवधि के समाप्त हो जाने पर फिर से दीक्षा देते हैं इसलिये मुनियों को चाहिये वे छेदोपस्थापना के भय से प्रमादरहित होकर मूलगुणों का पालन करें।।८।।

प्रव्रज्या दायकः सूरिः, संयतानां निगीर्यते।
निर्यापकाः पुनः शेषाश्-छेदोपस्थापका मताः।।९।।
मुनियों को दीक्षा दायक मुनि, कहलाएँ आचार्य विशेष।
छेदोपस्थापक कहलाएँ, अन्य मुनि जो हैं अवशेष।।९।।

अर्थ—जो मुनि इतर मुनियों को दीक्षा प्रदान करता है वह आचार्य कहा जाता है और शेष मुनि छेदोपस्थापक कहे जाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रजा का नायक राजा होता है उसी प्रकार मुनियों के संघ का भी एक नायक होता है उसे आचार्य के नाम से पुकारते हैं तथा मुनियों को दीक्षा देना उसका काम रहता है अर्थात् जो मुनियों को दीक्षा दे वह आचार्य कहा जाता है और उसकी आज्ञानुसार प्रवर्तनेवाले अन्य मुनि छेदोपस्थापक नाम के मुनि कहे जाते हैं।।९।।

प्रकृष्टं कुर्वतः साधोश्-चारित्रं कायचेष्टया।
यदिच्छेदस्तदा कार्या, क्रियालोचन पूर्विका।।१०।।
उग्र चरितधारी साधू के, देह की चेष्टा से हो छेद।
तो साधू आलोचना पूर्वक, करे क्रियाएँ नितनिश्वेद।।१०।।

अर्थ—उग्र भी चारित्र के आचरण करने वाले साधु के यदि किसी शरीर को चेष्टा छेद हो जाय दिन मास वा वर्ष आदि की दीक्षा कम कर दी जाय तो उसको आलोचनापूर्वक क्रियायें करना चाहिये।

भावार्थ—अशुभ कर्म बड़ा बलवान है इसलिये प्रकृष्ट भी चारित्र को आचरण करने वाले साधु को किसी काय की चेष्टा के अपराध से एक दिन पक्ष मास वा वर्ष आदि की दीक्षा का छेद हो जाता है अर्थात् जिसकी एक वर्ष की दीक्षा का छेद हुआ है उसे आचार्य की आज्ञानुसार दश वर्ष के दीक्षित साधुओं के मध्य से निकलकर नौ वर्ष के दीक्षित साधुओं में सम्मिलित होना पड़ता है और जिसकी दो वर्ष आदि की दीक्षा का छेद हुआ है उसे आठ वर्ष आदि के दीक्षित साधुओं के मध्य में रहना पड़ता है इसलिये छेदयुक्त मुनियों के लिये यह भगवान सर्वज्ञ की आज्ञा है कि जिस समय दीक्षा का छेद हो जाय उस समय वे घोर तप कर उस कलंक को दूर करें और किसी प्रकार खिन्न होकर अनुत्साहित न हों।।१०।।

आश्रित्य व्यवहारज्ञं, सूरिमालोच्य भक्तितः।
दत्तस्तेन विधात्तव्यश्-छेदश्छेद, वता सदा।।११।।
छेद युक्त साधू को जाके, व्यवहारज्ञ आचार्य के पास।
कर आलोचना छेद प्रायश्चित, का पालन करें धार उल्लास।।११।।

अर्थ—उस छेदयुक्त साधु को पूर्णरूप से व्यवहार को जानने वाले किसी आचार्य के सन्मुख जाकर सत्यतापूर्वक अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिये और जो वह छेद (प्रायश्चित्त) दे उसे पूर्णरूप से पालना चाहिये।

भावार्थ—किसी साधु के वर्ष वा दो वर्ष आदि की दीक्षा के छेद के योग्य अपराध हो जाय तो उसे चुपचाप अपने मन में रखकर छिपाना चाहिये किंतु पूर्णरूप से व्यवहार नय को जानने वाले आचार्य के सन्मुख उपस्थित होकर अपने दोष की आलोचना (खुलासा रूप से प्रकट करना) करनी चाहिये और जो वह वर्ष दो वर्ष आदि की दीक्षा के छेद का प्रायश्चित्त दें उसे उत्साह के साथ पालन करना चाहिये।।११।।

भूत्त्वा निराकृतचाछेदश्-चारित्रचरणोद्यतः।
मुंचमानो निबंधानि, यतिर्-विहरतां सदा।।१२।।
पूर्ण होय जब छेद प्रायश्चित, निर्दोष चारित उद्यमवान।
होकर दुराग्रहों का त्यागी, गमन करे करने कल्याण।।१२।।

अर्थ—जिस समय उस साधु का छेद प्रायश्चित्त पूर्ण हो जाय उस समय उसे निर्दोष चारित्र के आचरण में उद्यत होकर दुराग्रहों का सर्वथा त्यागकर सदा पृथ्वी पर विहार करना चाहिये।

भावार्थ—जब तक छेद प्रायश्चित्त पूरा न हो सके तब तक साधु को पृथ्वी पर एकाकी विहार करने का अधिकार नहीं किंतु जिस समय उसका प्रायश्चित्त पूरा हो जाय तथा निर्दोष चारित्र का आचरण और दुराग्रहों का नाश हो जाय उस समय उस साधु को गुरु की आज्ञानुसार निर्दोष रूप से विहार करना चाहिये।।१२।।

शुद्ध रत्नत्रयो योगी, यत्नं मूलगुणेषु च।
विधत्ते सर्वदा पूर्णं, श्रामण्यं तस्य जायते।।१३।।
जो मुनि रत्नत्रय के धारी, मूलगुणों को पालें मान।
मुनिपन प्रकट होय उनके ही, श्रमण कहाएँ वे विद्वान।।१३।।

अर्थ—जो मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप शुद्ध रत्नत्रय का धारक है और उपर्युक्त मूल गुणों को बड़े प्रयत्न से सदा पालता है उसके मुनिपना प्रकट होता है—वह श्रमण-मुनि कहा जाता है।

भावार्थ—शुद्ध सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय का धारण करना और मूलगुणों के पालन में पूर्ण प्रयत्न करना श्रमणता-मुनिपना है जबतक यह कार्य न होगा तब तक कभी मुनिपना नहीं हो सकता इसलिये मुनियों को चाहिये कि वे शुद्धरत्नत्रय के धारक बनें और पूर्णरूप से मूलगुणों का पालन करें।।१३।।

उपधौ वसतौ संघे, विहारे भोजने जने।
प्रतिबंधं न बध्नाति, निर्ममत्व-मधिष्ठितः।।१४।।
ममता रहित हुए है जो वे, परिग्रह वास आदिक स्थान।
संघ गमन भोजन जन समुदाय, आदि में ममत्व न रखते मान।।१४।।

अर्थ—जो महानुभाव ममता रहित हो चुका है वह परिग्रह वासस्थान मुनि आदि का संघ विहार भोजन और जनसमुदाय में ममत्व नहीं करता।

भावार्थ—जब तक जीव ममता में फँसा रहता है तब तक वह परिग्रह वासस्थान संघ विहार आहार और जनसमुदाय आदि को अपना पराया मानकर उनमें रागद्वेष किया करता है किन्तु जिस समय उसकी ममता छूट जाती है उस समय वह परिग्रह आदि किसी पदार्थ में ममत्व नहीं करता सदा शुद्ध परमात्मा में लौ लगाता है।।१४।।

अशने शयने स्थाने, गमे चंक्रमणे ग्रहे।
प्रमादचारिणो हिंसा, साधोः सांतति कीरिता।।१५।।

जो प्रमाद करते हैं उनके, अशन शयन या थान गमन।
वस्तू ग्रहण आदिक में हिंसा, हो जिससे संसार भ्रमण।।१५।।

अर्थ–जो साधु प्रमादी हैं–प्रमादपूर्वक क्रियाओं का आचरण करते हैं उनके खाने, सोने, बैठने, चलने, हाथ पैर के पसारने और ग्रहण करने आदि सभी कार्यों में सदा हिंसा होती रहती है और उससे संसार में घूमना पड़ता है।

भावार्थ–हिंसा में प्रधान कारण प्रमाद का योग है इसलिये विकथा वा कषाय आदि प्रमादों के अभाव में हिंसा नहीं होती। जो मुनि प्रमाद रहित हैं वे भोजन शयन आदि समस्त कार्य करते भी हैं तथापि उनके हिंसा नहीं होती किंतु प्रमादी साधु भोजन शयन आदि कुछ भी कार्य क्यों न करें सदा उनके हिंसा होती ही रहती है इसलिये मुनियों को हिंसा के कारण प्रमाद का सर्वथा त्यागकर देना चाहिये।।१५।।

गुणायेदं सयत्नस्य, दोषायेदं प्रमादिनः।
सुखाय ज्वरहीनस्य, दुःखाय ज्वरिणे धृतं।।१६।।
ज्वर विरहित को घृत हितकारी, दुखकारी है जो ज्वरवान।
भोजनादि सुखकर सुयत्नी को, है प्रमादि के ये दुखवान।।१६।।

अर्थ–जिस प्रकार ज्वर रहित पुरुष को घी सुखकारी और ज्वरग्रस्त को दुःखकारी होता है उसी प्रकार जो मुनि यत्नाचारी हैं उनके लिये उपर्युक्त शयन भोजन आदि सुखकारी होते हैं और जो प्रमादी हैं उन्हें शयन आदि से दुख भोगना पड़ता है।

भावार्थ–यह एक साधारण बात है कि जो पदार्थ एक को गुणकारी होता है वही दूसरे को अपगुण करनेवाला हो जाता है। घृत एक ही पदार्थ है परंतु वह ज्वररहित को सुखकारी और ज्वरसहित को दुःखकारी हो जाता है उसीप्रकार शयन आसन आदि भी क्रियायें समान हैं परंतु अप्रमादी के लिये वे सुखकारी और प्रमादी के लिये दुखकारी होती हैं अर्थात् प्रमादपूर्वक भोजन शयन आदि से हिंसा होती हैं, हिंसा से दुष्कर्मों का बंध, बंध से संसार में रुलना और संसार में रुलने से अनंत क्लेश भोगने पड़ते हैं एवं प्रमाद रहित यत्नाचारी होकर शास्त्रोक्त अशन आदि करने से तप की वृद्धि, तप की वृद्धि से कर्मों का नाश और कर्मों के नाश से मोक्ष की प्राप्ति होती है।।१६।।

ज्ञानवत्यपि चारित्रं, मलिनं परपीड़के।
कज्जलं मलिनं दीपे, सप्रकाशेऽपि तापके।।१७।।

कज्जल मलिन दीप में जैसे, है संताप प्रकाश से युक्त।
ज्ञानवान पीड़ा कारक है, जो वह मलिन चारित से युक्त।।१७।।

अर्थ—जिस प्रकार प्रकाशयुक्त होने पर भी संताप के देने वाले दीपक में मलिन कज्जल का संबंध रहता है उसी प्रकार ज्ञानवान होने पर भी यदि कोई पुरुष पर को पीड़ा देने वाला है तो उसके भी मलिन चारित्र की विद्यमानता रहती है।

भावार्थ—प्रकाशयुक्त होने पर भी संताप के देने वाले दीपक में जिसप्रकार मलिन कज्जल की विद्यमानता रहती है उसीप्रकार ज्ञानवान होने पर भी दूसरों को संताप देने वाले के मलिन चारित्र की मौजूदगी रहती है इसलिये जो पर को पीड़ा न पहुँचाने वाला ज्ञानवान है उसके मलिन चारित्र विद्यमान न रहकर निर्मल चारित्र होता है।।१७।।

भवाभिनंदिनः केचित्-संति संज्ञावशीकृताः।
कुर्वंतोऽपि परं धर्मं, लोकपंक्ति कृतादराः।।१८।।
जीव कई अभिमान के वश हो, करते रहते धर्माचार।
लोक पंक्ति के कार्य करें जो, भ्रमण करें वे बहु संसार।।१८।।

अर्थ—संसार में कई एक मनुष्य ऐसे भी हैं जो अभिमान के वशीभूत होकर धर्म का आचरण करते हुये भी लोकपंक्ति अर्थात् लोगों के रिझानेवाले कार्य करते हैं इसलिये वे भवाभिनंदी अर्थात् अनंत संसारी कहे जाते हैं।

भावार्थ—संसार में ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जो महाअभिमानी हैं तथा धर्म का आचरण भी करते हैं परंतु लोगों के रिझाने के लिये वा अपनी ख्याति पूजा और लाभ के लिये अन्य कार्य भी करते हैं जिससे उन्हें अनंतकाल तक संसार में घूमना पड़ता है इसलिये धर्मात्माओं को चाहिये कि वे अभिमान तथा लोक में लाभ पूजा आदि के लिये अधार्मिक कार्यों का आचरण न करें-ऐसे कार्यों का सर्वथा त्याग कर दें।।१८।।

मूढा लोभपराः क्रूराः, भीरवोऽसूयकाः शठाः।
भवाभिनंदिनः संति, निष्फलारंभ कारिणः।।१९।।

मूढ़ क्रूर ईर्ष्यालू लोभी, भीरू षठ् भव पोषक जान।
निष्फल जो आरंभ करें वे, भवाभिनंदी रहे प्रधान।।१९।।

अर्थ—तथा जो पुरुष मूढ़ लोभी क्रूर डरपोक ईर्ष्या करने वाले मूर्ख और संसार के पोषक हैं एवं निष्फल आरम्भों के करनेवाले हैं वे भवाभिनंदी अर्थात् अनंतकाल तक संसार में घूमने वाले हैं।।१९।।

आराधनाय लोकानां मलिनेनांतरात्मना।
क्रियते या क्रिया बालैर्-लोकपंक्ति-रसौ मता।।२०।।
अन्तर्आत्म मलिन होने से, मूर्ख लोक रंजायक कार्य।
करते हैं वे लोक पंक्ति हैं, ऐसा कहते जैनाचार्य।।२०।।

अर्थ—अंतरात्मा के मलिन होने से मूर्ख लोग जो लोक को रंजायमान करने के लिये क्रिया करते हैं उसे लोकपंक्ति कहते हैं।

भावार्थ—यह स्पष्ट रूप से देखने में आता है कि बहुत से ऐसे मूर्ख योगी साधु होते हैं जिनकी आत्मा विषयवासना वा कषाय आदि से तो मलिन रहती है परंतु लोक के रंजायमान करने के लिये वा ख्याति लाभ आदि के लिये वे अनेक कार्य कर पड़ते हैं इसलिये उनकी जो वैसी क्रिया है उसकी रूढ़ि संज्ञा लोकपंक्ति है।।२०।।

धर्माय क्रियमाणा सा, कल्याणांगं मनीषिणां।
तन्निमित्तः पुनर्धर्मः, पापाय हतचेतसां।।२१।।
धर्म हेतु शुभ लोक पंक्ति का, करें आचरण जो विद्वान।
वे कल्याण प्राप्त करते हैं, मूढ़ के पाप बंध हो मान।।२१।।

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं हित और अहित को भले प्रकार जानते हैं वे धर्म के अर्थ लोकपंक्ति का आचरण करते हैं इसलिये उन्हें उससे कल्याणप्राप्ति होती है किंतु जो मूढ़बुद्धि पुरुष लोकपंक्ति के लिये धर्म करते हैं उनको उस धर्म से पाप का बंध होता है।

भावार्थ—लोक के रंजायमान करने वाली ख्याति आदि के लिये की गई क्रिया से यद्यपि पाप का बंध होता है परंतु यदि वह धर्म के लिये विद्वान लोगों द्वारा की जाय तो उन्हें उससे कल्याण की प्राप्ति होती है परंतु मूढ़-बुद्धि पुरुष यदि लोक के रंजायमान वा ख्याति लाभ आदि की करने वाली क्रिया के अर्थ धर्म का आचरण करते हैं तो उससे पाप का ही बंध होता है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे धर्म के अर्थ उक्त क्रिया को तो करें परंतु उस क्रिया के लिये धर्म का आचरण न करें।।२१।।

मुक्तिमार्ग परं चेतः, कर्मशुद्धि निबंधनं।
मुक्ते-रासन्न भावेन, न कदाचित्पुनः परं।।२२।।
मोक्षमार्ग में चित्त के लगते, कर्म शुद्धि हो मुक्ति समीप।
मोक्षमार्ग में ऋजु न हों तो, कर्म शुद्धि न हो जगमीत।।२२।।

अर्थ—मोक्ष के मार्ग की ओर चित्त के झुक जाने से कर्मों की शुद्धि होती है क्योंकि उस समय मोक्ष बिल्कुल समीप रह जाती है किंतु जब वह मोक्षमार्ग की ओर ऋजु नहीं होता तब कभी उससे कर्मों की शुद्धि नहीं होती।

भावार्थ—ऊपर कह दिया गया है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता का नाम मोक्षमार्ग है अर्थात् जिससमय ये तीनों आत्मा के अंदर प्रकट हो जाते हैं उस समय मोक्ष की अवश्य प्राप्ति होती है इसलिये जिस समय चित्त इस मार्ग की ओर ऋजु होता है उस समय मोक्ष समीप रह जाने के कारण कर्मों की शुद्धि होती है किंतु जब चित्त की मोक्षमार्ग में लीनता नहीं होती उस समय कभी कर्मों की शुद्धि नहीं होती इसलिए कर्मों की शुद्धि के अभिलाषियों को चाहिये कि वे अपने चित्त को मोक्षमार्ग की ओर अवश्य लगावें।।२२।।

कल्मषक्षयतो मुक्तिर्-भोगसंगम वर्जिनां।
भवाभिनंदिना-मस्यां, विद्वेषो मुग्ध चेतसां।।२३।।
भोग रहित के कर्म नाश हों, उसको मोक्ष प्राप्त हो जान।
भवाभिनंदी और मूढ़ जो, मोक्ष न उनको होय महान् ।।२३।।

अर्थ—जो महानुभाव भोगों के संबंध से रहित हैं उनके जिस समय कर्मों का नाश हो जाता है उस समय मोक्ष की प्राप्ति होती है किन्तु भवाभिनंदी हैं-संसार के पोषण करने वाले हैं और मूढ़ हैं उन्हें मोक्ष में विद्वेष रहता है।

भावार्थ—जब तक भोग भोगने की वासना चित्त पर सवार रहेगी तब तक कभी कर्मों का क्षय नहीं हो सकता और जब तक कर्मों का क्षय न होगा तब तक मोक्ष की प्राप्ति होना असंभव है क्योंकि समस्त कर्मों के सर्वथा नाश को मोक्ष कहा गया है इसलिये जो पुरुष भोगों के संबंध से रहित हैं–इंद्रियों के विषयों में नहीं फँसते उन्हें तो समस्त कर्मों के नष्ट हो जाने के कारण मोक्ष की प्राप्ति होती है किंतु जो पुरुष भवाभिनंदी हैं–संसार को ही परम आनंद का स्थान मानते हैं और मूढ़ हैं वे मुक्ति से ही द्वेष रखते हैं–मोक्ष पाना अच्छा नहीं समझते इसलिये उन्हें मोक्ष की प्राप्ति

नहीं होती।।२३।। तथा-

नास्ति येषामयं तत्र, भवबीज वियोगतः।
तेऽपि धन्या महात्मानः, कल्याण फलभागिनः।।२४।।
लोकाचार नाश होने से, मोक्ष में नहिं करते विद्वेष।
धन्य पवित्रात्मा के धारी, मोक्ष सौख्य वे पाएँ विशेष।।२४।।

अर्थ—संसार के कारण लोकाचार के नाश हो जाने के कारण जो महानुभाव मोक्ष में विद्वेष नहीं रखते वे भी धन्य और पवित्र आत्मा के धारक हैं क्योंकि मोक्ष सुख में वे भागीदार हैं।

भावार्थ—यह ऊपर कह दिया गया है कि-बहुत से मूढ़ पुरुष संसार को ही आनंद का स्थान समझते और लोकाचारों का आचरण करते हुये अपने को सुखी मानते हैं। इतना ही नहीं बल्कि संसारसुख में ऐसे लीन हो जाते हैं कि उन्हें मोक्ष में भी द्वेष हो निकलता है इसलिये न तो वे कभी मुक्ति पाने का प्रयत्न ही करते हैं और न वह उन्हें प्राप्त ही होती है परंतु जो पुरुष लोकाचार से विमुख हैं और मोक्ष में किसी प्रकार का द्वेष नहीं रखते वे भी धन्य और महात्मा हैं क्योंकि वे मोक्ष सुख के हिस्सेदार हो चुके हैं अर्थात् मोक्ष में द्वेष न होने के कारण किसी न किसी दिन मोक्ष की प्राप्ति के लिये वे अवश्य लालायित होंगे और समस्त कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त कर लेंगे।।२४।।

संज्ञानादि-रुपायो यो, निर्वृतेर्-वर्णितो जिनैः।
मलिनी करणे तस्य, प्रवर्तते मलीमसाः।।२५।।
सम्यग्ज्ञान चारित यह मोक्षमार्ग, शुभ कहे जिनेश।
किन्तू पापी जीव रात दिन, मलिन प्रवृत्ती करें विशेष।।२५।।

अर्थ—भगवान जिनेंद्र ने जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति को मोक्ष का मार्ग बतलाया है पापी मनुष्य रातदिन उसके मलिन करने में प्रवृत्त रहते हैं।

भावार्थ—भगवान जिनेंद्र ने निर्दोष दर्शन निर्दोष ज्ञान और निर्दोष चारित्र को मोक्ष का उपाय बतलाया है परंतु मूढ़ मनुष्य ऐसे विषयवासना में लिप्त हो रहे हैं कि वे विपरीत श्रद्धान कर सम्यग्दर्शन को, भ्रांत हो सम्यग्ज्ञान को, और हिंसा उत्पन्न करने वाली क्रियाओं का आचरण कर सम्यक्चारित्र को सदा मलिन करते रहते हैं इसलिये यदि उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो तो कहां से हो? अर्थात् जब मोक्ष जाने का मार्ग ही लुप्त हो गया तो मोक्ष में जाना सर्वथा असंभव है।।२५।।

आराधने यथा तस्य, फल-मुक्त-मनुत्तरं।
मलिनीकरणे तस्य, तथानर्थो वृहद्-व्यथः।।२६।।
फल आराधना का सर्वोत्तम, मोक्ष महाफल उसीप्रकार।
मलिन कार के हो अनर्थ दुख, घोर लोक में अपरंपार।।२६।।

अर्थ—जिस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की आराधना का सर्वोत्तम फल मोक्ष मिलना कहा है उसी प्रकार उसके मलिन करने से भी घोर अनर्थ और दु:ख होता है यह समझ लेना चाहिये।

भावार्थ—यदि कोई मूढ़ मनुष्य ऐसा समझ ले कि चलो सम्यग्दर्शन आदि की आराधना न करेंगे तो हमें उत्तम फल न मिलेगा और नुकसान तो कुछ न होगा तो ग्रंथकार कहते हैं यह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि के आराधन से जैसा अनुपम फल प्राप्त होता है उसी प्रकार उनके मलिन करने से भयंकर दु:ख का सामना करना पड़ता है इसलिये दु:ख से भय करने वाले मनुष्यों को चाहिये कि वे कभी ऐसे कार्य न करें जिनसे उनके सम्यग्दर्शन आदि में मलिनता आवे।।२६।।

तुंगारोहणतः पातो, यथा तृप्तिर्-विषान्नतः।
यथानर्थोऽवबोधादि, मलिनीकरणे तथा।।२७।।
उच्च स्थान से चढ़कर गिरना, विष भक्षण से तृप्तीवान।
अंत में दुखदायी है वैसे, ज्ञान मलिन से अर्थ हो मान।।२७।।

अर्थ—जिसप्रकार ऊँची जगह पर चढ़ने से गिरना और विषभक्षण से तृप्ति करना अंत में दु:खदायी होता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान आदि के मलिन करने पर घोर अनर्थ का सामना करना पड़ता है।

भावार्थ—जिस प्रकार ऊँची जगह से गिरने में पहले तो कुछ तकलीफ नहीं मालूम पड़ती परंतु पृथ्वी पर नीचे आने के बाद चोट आदि लगने से महा दु:ख का सामना करना पड़ता है और जिस प्रकार विषैले अन्न के भक्षण करने से पहले तो पेट भर जाता है परंतु फिर मृत्यु ही देखनी पड़ती है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान आदि के मलिन करने से पहिले तो कुछ दु:ख नहीं मालूम पड़ता वा किञ्चित् सुख मालूम पड़ता है परन्तु कुछ समय के बाद जब पाप अपना फल देते हैं तब अवश्य घोर अनर्थ सहन करने पड़ते हैं इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे सम्यग्दर्शन आदि को

मलिन न होने दें।।२७।।

अयत्न चारिणो हिंसा, मृते जीवेऽमृतेऽपि च।
प्रयत्नचारिणो बंधः, समितस्य बधेऽपि नो।।२८।।
जीव मरे न मारे तो भी, अयत्नाचारी हिंसावान।
यत्नाचारी के हिंसा या, कर्म बंध ना होवे मान।।२८।।

अर्थ–जो पुरुष अयत्नाचारी हैं–यत्नाचारपूर्वक कार्य नहीं करते उनके जीव मरो या न मरो तो भी हिंसा और उससे कर्मबंध होते हैं किंतु जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले हैं और ईर्या, भाषा आदि समितियों के पालक हैं उन्हें जीवों के न मरने पर तो हिंसा कर्मबंध होते ही नहीं किंतु उनके मरने पर भी हिंसा और उससे कर्मबंध नहीं होते।

पाद-मुत्क्षिपतः साधो-रीर्यासमितिभागिनः।
यद्यपि म्रियते सूक्ष्मः, शरीरी पादयोगतः।।२९।।
ईर्या समितिवान साधू के, सूक्ष्म जीव का होवे घात।
फिर भी कर्म बंध न होवे, हो प्रमाद से विरहित गात।।२९।।
तथापि तस्य तत्रोक्तो, बंधः सूक्ष्मोऽपि नागमे।
प्रमाद त्यागिनो यद्-वन्, निर्मूर्छस्य परिग्रहः।।३०।।
ज्यों ममत्व विरहित मानव के, परिग्रह का ना होता बंध।
त्यों प्रमाद विरहित साधू भी, आगम वर्णित रहें अबंध।।३०।।

अर्थ–भले प्रकार ईर्यासमिति के पालन करने वाले और आहार आदि के लिये गमन करने वाले साधु के यद्यपि पैर के संयोग से सूक्ष्म जीवों का विध्वंस होता है तथापि जिस प्रकार ममत्वरहित मनुष्य के परिग्रह का बंध नहीं होता उसीप्रकार उस साधु के भी प्रमाद के अभाव से जरा भी कर्मों का बंध नहीं होता ऐसा शास्त्र में प्रतिपादन किया है।

भावार्थ–ऊपर के श्लोक में यह कहा गया है कि यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति से जीव मरो या न मरो तथापि हिंसा का दोष नहीं लगता तथा हिंसा के अभाव से कर्मों का बंध नहीं होता वहाँ पर शंका होती है कि जीवों के मरने पर हिंसा और उससे कर्मबंध क्यों नहीं होता? उसका समाधान यहाँ ग्रंथकार ने दिया है कि हिंसा में कारण प्रमाद है यदि प्रमाद की विद्यमानता रहेगी तो जीव

मरो या न मरो अवश्य हिंसा होगी और हिंसा से कर्मों का बंध होगा किंतु जिस समय प्रमाद का अभाव रहेगा उस समय जीव मरें या न मरें तथापि हिंसा और उससे कर्मबंध नहीं होंगे। इसलिये जिस प्रकार किसी पदार्थ में ममता न रखनेवाले मनुष्य के परिग्रह का बंध नहीं होता उसी प्रकार जो मुनि भले प्रकार ईर्या आदि समितियों का पालन करने वाला है वह जिस समय आहार विहार आदि के लिये गमन करता है उस समय यद्यपि उसके पैर से दृष्टि के अगोचर बहुत से जीवों का विध्वंस होता है तो भी प्रमाद के अभाव से उसके जरा भी हिंसा का दोष नहीं लगता और हिंसा के अभाव से किसी प्रकार के कर्मों का बंध भी नहीं होता।।२९-३०।।

प्रमादी त्यजति ग्रंथं, वाह्यं मुक्त्वापि नांतरं।
हित्वापि वुंचवुंक सर्पो, गरलं नहि मुंचते।।३१।।
सांप कांजुली छोड़े जैसे, विष न छोड़े उसी प्रकार।
बाह्य परिग्रह तजे न अंतर, तजे प्रमादी न अनगार।।३१।।

अर्थ–जिस प्रकार सर्प कांचली को छोड़ देता है परंतु विष को नहीं छोड़ता उसी प्रकार जो मुनि प्रमादी हैं–विकथा क्रोध आदि के वशीभूत हैं वे बाह्य परिग्रह का तो त्याग कर देते हैं परंतु अंतरंग परिग्रह को नहीं छोड़ सकते।

भावार्थ–धन धान्य स्त्री पुत्र आदि बाह्य परिग्रह हैं और क्रोध आदि अंतरंग परिग्रह हैं, जो मनुष्य प्रमादी हैं–सदा जिनकी आत्मा में राग द्वेष आदि दुर्भाव उत्पन्न होते हैं वे जिस प्रकार सर्प काञ्चली को छोड़ देता है परंतु उससे भीतरी विष का त्याग नहीं किया जाता उसी प्रकार मान बड़ाई आदि के लिये स्त्री पुत्र घरवार आदि का तो त्याग कर देते हैं परंतु भीतरी क्रोध आदि का नाश नहीं कर सकते इसलिये जो दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्यागकर निराकुलतामय सुख का आस्वादन करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे प्रमाद का अवश्य त्याग कर दें।।३१।।

अंतः शुद्धिं विना बाह्य, न साश्वासकरी मता।
धवलोऽपि बको बाह्य हंति मीना-काव्य ननेकशः।।३२।।
बाह्य शुद्धि अंतरंग शुद्धि के, विश्वसनीय न होवे जान।
बकुल श्वेत बाहर में हो भी, सतत् मछलियाँ मारे मान।।३२।।

अर्थ–बिना अंतरंग शुद्धि के बाह्य शुद्धि विश्वास कराने वाली नहीं होती क्योंकि बाह्य में

श्वेत भी बगला अनेक मछलियों को प्राणरहित कर देता है।

भावार्थ—देखने में बगला बहुत ही सीधा साधा और श्वेत दिख पड़ता है किन्तु उसका अंतरंग इतना दुष्ट होता है कि वह सदा यही विचार करता रहता है कि कब मच्छी मिलें और कब उन्हें मैं हजम करूँ इसलिये वह अनेक मछलियों को प्राणरहित कर देता है उसी प्रकार मनुष्य भी वाह्य में कितना भी साधु और सुंदर चेष्टा धारक क्यों न हो यदि उसका अंतरंग शुद्ध नहीं तो वह किसी काम का नहीं इसलिये यह बात सिद्ध है कि बिना अंतरंग की शुद्धि बाह्य शुद्धि विश्वास के योग्य नहीं गिनी जाती अत: वाह्य शुद्धि से अंतरंग की शुद्धि हितकारिणी और मुख्य है।।३२।।

योगी षट्स्वपि कायेषु, सप्रमादः प्रबध्यते।
सरोजमिव तोयेषु, निष्प्रमादो न लिप्यते।।३३।।
योगी षट् कायों की रक्षा, में प्रमाद कर करते बंध।
रहित प्रमादी जल में कमलों, जैसे रहते सदा अबंध।।३३।।

अर्थ—जो योगी छह कायों के जीवों की रक्षा में प्रमादी हैं उनके कर्मों का बंध होता है किंतु जो योगी प्रमाद रहित हैं छह कायों के जीवों की रक्षा में प्रमाद नहीं करते वे जल के ऊपर स्थित कमल के समान कर्मों से लिप्त नहीं होते।

भावार्थ—पृथिवी जल तेज वायु वनस्पति और त्रस ये छह जीवों की निकाय हैं और इनकी रक्षा करना योगी का प्रधान कर्तव्य है परंतु जो योगी प्रमादी हैं—छहकाय के जीवों की रक्षा में प्रमाद करते हैं उनके कर्मों का बंध होता है और जो अप्रमादी हैं छह काय के जीवों की रक्षा में प्रमाद नहीं करते वे जिस प्रकार जल के ऊपर पड़ा हुआ भी कमलपत्र पानी से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार कर्मों से लिप्त नहीं होते।।३३।।

साधुर्यतोऽङ्गि घातेऽपि, कर्मभिर्-बध्यते न वा।
उपाधिभ्यो ध्रुवो बंधस्-त्याज्यास्तैः सर्वथा ततः।।३४।।
बंध होय ना होय साधुके, जीवघात होने पर जान।
बंध परिग्रह से हो निश्चित, त्यागें अतः परिग्रहमान।।३४।।

अर्थ—जीवों के घात होने पर भी साधु के बंध होता भी है और नहीं भी होता किंतु परिग्रहों से तो अवश्य बंध होता है इसलिये अंतरंग और बहिरंग दोनों परिग्रह का साधु को सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

भावार्थ—ऊपर कह दिया जा चुका है जो योगी प्रमादी हैं उनके तो जीवों के घात से कर्मबंध होता है किंतु अप्रमादियों के नहीं इसलिये जीवों के घात होने पर भी किसी के कर्मबंध होता है और किसी के नहीं परंतु परिग्रहों के धारण करने से तो अवश्य कर्मों का बंध होता है ऐसा कोई भी योगी नहीं जिसके परिग्रहों से बंध न होता हो इसलिये योगियों को चाहिये कि वे परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दें जिससे उन्हें परिग्रहजन्य कर्मबंध का दु:ख न भोगना पड़े।।३४।।

एकत्राप्यपरित्यक्ते, चित्तशुद्धिर्-न विद्यते।
चित्तशुद्धिं बिना साधोः, कुतस्त्या कर्मविच्युतिः।।३५।।
अन्य परिग्रह त्याग एक में, भी चित्त की शुद्धी होय।
चित्त की शुद्धी न हो जब तक, कर्म नाश ना होवें सोय।।३५।।

अर्थ—अन्य परिग्रहों के त्याग होने पर भी यदि किसी एक परिग्रह का भी त्याग न हो सके तो चित्त की शुद्धि नहीं होती और जब तक चित्त की शुद्धि नहीं होती तबतक योगी के कर्मों का नाश नहीं हो सकता।

भावार्थ—कर्मों के नाश में प्रधान कारण चित्त की शुद्धि है—जबतक चित्त की शुद्धि न होगी तब तक कभी कर्मों का नाश न होगा और वह चित्त की शुद्धि समस्त परिग्रहों के सर्वथा त्याग से होती है जब तक किञ्चित् भी परिग्रह रहेगा तब तक कदापि चित्त की शुद्धि न हो सकेगी इसलिये योगियों को चाहिये कि यदि वे कर्मों का नाश करना चाहते हैं। तो चित्त की शुद्धि प्राप्त करें तथा चित्त की शुद्धि के लिये किसी भी परिग्रह में ममत्व भाव न रखे-उसका सर्वथा त्याग कर दें।।३५।।

सूत्रोक्तमिति गृह्णानश्-चेलखंडमिति स्फुटं।
निरालंबो निरारंभः, संयतो जायते कदा।।३६।।
कहा शास्त्र में चेल खण्डधर, संयमी निरारंभ हो जान।
निरालम्ब न हो सकता है, संयम विरुद्ध रहा यह मान।।३६।।
अलाबुभाजनं वस्त्रं, गृह्णोऽन्यदपि ध्रुवं।
प्राणारंभो यतेश्चेतो, व्याक्षेपो वार्यते कथं।।३७।।
तुंबी वस्त्र आदिक पदार्थ को, धारण करने वाले आन।
देह क्लेश चित्त हो चंचल, ऐसा कहते हैं भगवान।।३७।।

स्थापनं चालनं रक्षा, क्षालनं शोषणं यतेः।
कुर्वतो वस्त्रपात्रादेर्-व्याक्षेपो न निवर्तते।।३८।।
वस्त्र पात्र आदिक पा याति को, ग्रहण और निक्षेप सुजान।
रक्षा धोना और सुखाना, कहाँ करें कैसे स्थान।।३८।।
आरंभोऽसंयमो मूर्च्छा, कथं तत्र निषिध्यते।
परद्रव्य रतस्यास्ति, स्वात्म सिद्धिः कुतस्तनी।।३९।।
इत्यादिक चिंता से यति की, चित्त की चंचलता का नाश।
पर पदार्थ अपनाने से हो, आरंभ असंयम ममता वास।।३९।।
न यत्र विद्यतेच्छेदः, कुर्वतो ग्रहमोक्षणे।
द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय, साधुस्तत्र प्रवर्ततां।।४०।।
विशुद्ध आत्मा प्राप्त होय न, अतः पदार्थ ग्रहण परित्याग।
द्रव्य क्षेत्र को जान प्रवृत्ती, में धारें मुनिवर अनुराग।।४०।।

अर्थ–शास्त्र की आज्ञा है यह कहकर भी चेलखंड (कोपीन आदि) धारण करने वाला संयमी निरालंब वा निरारंभ कभी नहीं हो सकता अर्थात् चेलखंड के धारण करने पर एक तो संयमी को उसका आश्रय लेना पड़ेगा और उसके लिये आरंभ भी करना पड़ेगा, जो कि संयमी के लिये सर्वथा विरुद्ध है। तथा तुंबी वस्त्र एवं अन्य भी किसी पदार्थ को धारण करने वाले संयमी के शरीर क्लेश और चित्त की चंचलता अवश्य होगी अर्थात् तुंबी वस्त्र आदि के ग्रहण करने पर शरीर को क्लेश और चित्त की चंचलता न हो यह बात विरुद्ध है। तथा वस्त्र वा पात्र आदि के धारण करने पर यति को उसे रखना उठाना रक्षा करना धोना और सुखाना पड़ेगा इसलिये 'कहां' कैसे रखना चाहिये! इत्यादि' चिंता रहने के कारण संयमी के चित्त की चंचलता कभी नष्ट नहीं हो सकती। तथा जो संयमी पर पदार्थों में रत हैं–उन्हें अपनाने वाले हैं उनके अवश्य आरंभ असंयम और ममता होगी इस कारण उन्हें कभी विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये साधुओं को चाहिये कि वे जिन पदार्थों के ग्रहण करने और छोड़ने में चारित्र का भंग न हो-निर्मल चारित्र सुरक्षित रहे ऐसे द्रव्य क्षेत्र को भले प्रकार जानकर उनमें प्रवृत्ति करें।

भावार्थ–बहुत से साधु ऐसे हैं जो कई वस्त्रों के वा तुंबी आदि पदार्थों के रखने पर भी अपने को शास्त्रोक्त मुनि कहलवाने का दावा रखते हैं और संसार में उस बात का प्रसार भी करते हैं उनके लिये यहाँ ग्रंथकार उपदेश देते हैं कि अधिक वस्त्र वा तुंबी आदि पदार्थों का धारण करना

तो पृथक् रहो यदि कोई संयमी वस्त्र का खंड भी रखता है तो भी वह निरालंब और निरारंभ नहीं हो सकता अर्थात् उस वस्त्र के ग्रहण करने से उसका अवलंबन और उसके लिये आरंभ करना पड़ता है इसलिये उस संयमी को दोष लगता है क्योंकि जो निरालंब और निरारंभ हो वही संयमी है ऐसा संयमी का लक्षण कहा गया है। तथा तुंबी वस्त्र आदि पदार्थों के धारण करने से और उनके रखने ले चलने रक्षा करने धोने और सुखाने से प्रति समय शरीर को क्लेश और चित्त को चंचलता बनी रहती है तथा परपदार्थों में रत होने के कारण आरंभ असंयम और ममत्वमय परिणाम भी रहते हैं इस कारण परपदार्थों के अपनाने वालों को कभी शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नहीं होती इसलिये जो संयमी यह चाहता है कि किसी प्रकार से हमारा चारित्र भंग न हो-वह सदा सुरक्षित बना रहे उसे चाहिये कि वह योग्य द्रव्य क्षेत्र को भले प्रकार जानकर प्रवृत्ति करे-सब प्रकार के द्रव्य क्षेत्रों को न अपना डाले।।३६-४०।।

संयमो हन्यते येन, प्रार्थ्यते यदसंयतैः।
येन संपद्यते मूर्छा, तन्-न ग्राह्यं हितोद्यतैः।।४१।।
संयमधारी जो हित चाहें, वे पदार्थ ना करें ग्रहण।
ममताभाव होय जिनसे या, संयम घात का हो प्रकरण।।४१।।

अर्थ–जो संयमी अपना हित चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे ऐसे पदार्थ ग्रहण न करें जिसके ग्रहण करने से परिणाम ममत्वमय होते हों और जो असंयमियों के योग्य संयम का नाश करने वाला हो।

भावार्थ–संसार में स्त्री पुत्र धन धान्य आदि बहुत से पदार्थ हैं जिनके ग्रहण करने से संयम का समूल नाश होता है असंयमी लोग बड़ी खुशी से जिनका आदर करते हैं और जिनके ग्रहण करने से परिणामों में ममता उत्पन्न हो जाती है इसलिये जो संयमी अपनी आत्मा का हित करना चाहते हैं–संसार से सर्वथारहित होकर निराकुलतामय सुखास्वादन करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे समस्त परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दें–उन्हें झांककर भी न देखें।।४१।।

मोक्षाभिलाषिणां येषा-मस्ति कायेऽपि निस्पृहा।
न वस्त्वकिंचनाः किंचित्-ते गृह्णंति कदाचन।।४२।।
मोक्षाभिलाषी निज शरीर में, निष्पृह हो आकिंचनवान।
पर पदार्थ जो नहीं चाहते, ग्रहण करें न वे विद्वान।।४२।।

अर्थ–जिन मोक्षाभिलाषी महापुरुषों की अपने शरीर में भी निस्पृहा होती है–जो अपने शरीर को भी नहीं चाहते वे अकिञ्चन्य-अन्य भी किसी पदार्थ की नहीं चाहने वाले किसी भी परपदार्थ का का भी ग्रहण नहीं करते।

भावार्थ–वैसे तो शरीर स्त्री पुत्र आदि सब ही परपदार्थ हैं परंतु जिस प्रकार इस आत्मा के लिये घनिष्ट उपकारी मालूम होने वाला और निकटवर्ती, शरीर पदार्थ है वैसा कोई नहीं। परंतु जो महात्मा मोक्षाभिलाषी हैं वे शरीर को भी नहीं अपनाते इसलिये वे सर्वथा अकिञ्चन्य हैं शरीर से भिन्न भी पदार्थों को अपना नहीं मानते तथा जब उनकी सब परपदार्थों में निस्पृहता है तब वे किसी पदार्थ को ग्रहण भी नहीं करते।।४२।।

यत्र लोकद्वयापेक्षा, जिनधर्मे न विद्यते।
तत्र लिंगं कथं स्त्रीणां, सव्यपेक्ष-मुदाहृतं।।४३।।
हानिकर द्वय लोकाप्रेक्षा, जैनधर्म में रही विशेष।
स्त्रीलिंग को सत्यापेक्षा, कैसे कहते श्री जिनेश।।४३।।
नामुना जन्मना स्त्रीणां, सिद्धिर्निश्चयतो यतः।
अनुरूपं ततस्तासां, लिंगं लिंगविदो विदुः।।४४।।
स्त्री को इस जन्म से मुक्ती, न हो तो व्याप्रेक्षावान्।
स्त्री का जिनलिंग जिनेश्वर, यही बताए योग महान्।।४४।।

अर्थ-जिस जैन धर्म में दोनों लोक की अपेक्षा भी हानिकारक समझी गई है उस जैनधर्म में स्त्रियों के लिङ्ग को सव्यपेक्षा-योग्य वस्त्र आदि से युक्त कहा है सो कैसे? तो इस प्रश्न का समाधान यह है कि निश्चय से स्त्रियों के इस जन्म से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती इसलिये लिङ्ग के वेत्ता निर्ग्रन्थ मुनीश्वरों ने उनको अनुरूप–योग्य वस्त्र आदि से युक्त ही लिङ्ग बतलाया है।

भावार्थ–जो मनुष्य स्त्रीपर्याय से भी स्त्रियों की मोक्षप्राप्ति होती है ऐसा मानते हैं यदि वे ऐसी शंका करें कि जिस जैनधर्म निर्ग्रंथ अवस्था में दोनों लोक की अपेक्षा की भी मनाई की गई है अर्थात् यदि तप करते समय यह इच्छा हो जाय कि मुझे इस लोक में उत्तम भोग की प्राप्ति हो और परलोक में भी उत्तम विभूति एवं उत्तम पद मिलें तो वह तप उत्कृष्ट नहीं समझा जाता है किन्तु किसी प्रकार की अभिलाषा से रहित ही तप उत्तम कहा गया है तब स्त्रियों के लिंग को वस्त्र आदि से युक्त क्यों कहा–उन्हें भी वस्त्र आदि रहित ही लिंग का उपदेश होना चाहिये? तो

इसका समाधान यह है कि स्त्रियों को स्त्रीपर्याय से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती इसलिये उन्हें योग्य वस्त्रयुक्त लिङ्ग धारण करने की ही आज्ञा है यदि मनुष्य पर्याय से मनुष्यों के समान उन्हें भी स्त्री पर्याय से मोक्ष की प्राप्ति होती तो उन्हें भी निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करने का उपदेश दिया जाता इसलिये स्त्रियों का निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करना आगमविरुद्ध है।।४४।। स्त्रियों को मोक्ष का क्यों निषेध है इसका उत्तर–

प्रमाद मय मूर्तीनां, प्रमादोऽतो यतः सदा।
प्रमदास्तास्-ततः प्रोक्ताः, प्रमाद बहुलत्वतः।।४५।।
हों प्रमाद की मूर्ति स्त्रियाँ, प्रमदा अतः कहाएँ जान।
हर्ष विषाद ईर्ष्या ग्लानि भय, होवें ममता मायावान।।४५।।
विषादः प्रमदो मूर्च्छा, जुगुप्सा मत्सरो भयं।
चित्ते चित्रायते माया, ततस्तासां न निर्वृतिः।।४६।।
चित्त में अंकित होवें जिनके, सदा विकारी भाव विशेष।
मोक्ष प्राप्त न होवे उनको, कहते ऐसा श्री जिनेश।।४६।।

अर्थ–स्त्रियाँ प्रमाद की मूर्ति हैं इसलिये प्रमाद की प्रचुरता से उन्हें प्रमदा शब्द से पुकारा गया है। तथा विषाद हर्ष ममता ग्लानि ईर्षा भय और माया सदा उनके चित्त पर अंकित रहती है इसलिये उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

भावार्थ–स्त्रियों का एक नाम प्रमदा भी बतलाया गया है और वह इसलिये है कि स्त्री प्रमादस्वरूप मूर्ति हैं उसमें प्रमाद की अधिकता रहती है और हर कार्य में प्रमाद उत्पन्न करती है यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि मनुष्य भी तो प्रमादी होते हैं उनका ऐसा नाम क्यों नहीं रक्खा गया? तो उसका समाधान यह है कि यह बात स्पष्टरूप से अनुभव में आती हैं कि स्त्रीजाति के अंदर जैसी क्रोध आदि प्रमादों की अधिकता है वैसी पुरुषों के अंदर नहीं। तथा जहां विषाद, हर्ष, ममता, ग्लानि, ईर्षा, भय और माया का अभाव हो जाता है वहाँ ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है अन्यत्र नहीं क्योंकि उनकी मौजूदगी मोक्ष की प्राप्ति में सर्वथा बाधक है। स्त्रियों के चित्तपर विषाद हर्ष ममता ग्लानि ईर्षा भय और माया सदा सवार रहते हैं वे–आर्यिका भी हो जाती हैं तथापि उनके इन दुर्भावों का अभाव नहीं होता इसलिये स्त्रियों को मोक्ष की प्राप्ति का निषेध किया गया है।।४५-४६।।

न दोषेण विना नार्यो, यतः संति कदाचन।
गात्रं च संवृतं तासां, संवृतिर्-विहिता ततः।।४७।।

दोषरहित ना होंय स्त्रियाँ, अतः वस्त्र से ढकें शरीर।
विरक्त अवस्था में भी उनको, वस्त्र सहित लिंग कहते वीर।।४७।।

अर्थ–बिना दोषों के स्त्रियाँ कभी नहीं हो सकतीं-सदा वे दोषों की पुंज स्वरूप रहती हैं इसलिये उनका शरीर सदा वस्त्र से ढका रहता है और इसीलिये विरक्त अवस्था में भी उन्हें वस्त्र विशिष्ट लिङ्ग धारण करने का उपदेश है।

भावार्थ–शंका होती है कि विषाद आदि की प्रतिसमय विद्यमानता रहने के कारण स्त्रियों को मोक्ष की प्राप्ति न हो परन्तु उनके लिये निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करने की क्यों मनाई की गई है तो उसका समाधान यही है कि स्त्रियाँ अनेक दोषों की खानि हैं उनके चित्त में चंचलता आदि दुर्गुण बहुत जल्दी-जल्दी उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये विरक्त अवस्था में भी उनका शरीर ढ़का रहता है और इसीलिये उन्हें वस्त्रयुक्त लिङ्ग धारण करने का उपदेश है।।५७।।

शैथिल्य-मार्तवं चेतश्-चलनं श्रावणं तथा।
तासां सूक्ष्म-मनुष्याणा-मुत्पादोऽपि बहुस्तनौ।।४८।।
चंचलता ऋतुधर्मशिथिलता, अधिक श्रवण की शक्तीवान।
देह में सूक्ष्म मनुष्य उपजते, कांख योनि स्तन स्थान।।४८।।
कक्षाश्रोणिस्तनाद्येषु, देहदेशेषु जायते।
उत्पत्तिः सूक्ष्मजीवानां, यतो नो संयमस्ततः।।४९।।
देय के अवयव में भी बहुतक, सूक्ष्म जीव उत्पन्न विशेष।
होते रहते अतः पूर्णतः, संयम पालें ना अवशेष।।४९।।

अर्थ–स्त्रियों में शिथिलता ऋतुधर्म चित्त का चांचल्य और अधिक श्रवण शक्ति होती है। उनके शरीर में बहुत सी सूक्ष्म मनुष्यों की उत्पत्ति होती है तथा उनके कांख योनि और स्तन आदि शरीर के अवयवों में भी बहुत से सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये उनके पूर्ण संयम नहीं पल सकता।

भावार्थ–ऊपर कह दिया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति में प्रधान कारण संयम है जबतक संयम न धारण किया जायेगा तबतक कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। और स्त्रियों के संयम का पालन हो नहीं सकता क्योंकि संयम का अर्थ षट् प्रकार के जीवों की रक्षा करना है। स्त्रियों के शरीर में बहुत निगोदिया जीवों की उत्पत्ति होती है तथा कांख योनि और स्तन आदि स्थानों

पर और भी बहुत से सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये उनका अवश्य विघात होता है तथा जीवों के विघात के साथ उनमें, संयम में बाधा पहुँचाने वाले शिथिलता, ऋतुधर्म, मन की चंचलता और श्रवणशक्ति की भी अधिकता है इसलिये उनके पूर्ण संयम का अभाव है और संयम के अभाव से उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।।४८-४९।।

शशांकामल सम्यक्त्वाः, समाचार परायणाः।
सचेलतः स्थिता लिंगे, तपस्यंति विशुद्धये।।५०।।
चाँद समान अमल सम्यक्त्वी, चारित पालन में तत्पर।
कर्म विशुद्धी हेतु वस्त्र युत, लिंगधर तप धारें व्रतधार।।५०।।

अर्थ—जो स्त्रियाँ चंद्रमा के समान निर्मल सम्यक्त्व की धारण करनेवाली हैं और निर्दोष चारित्र के आचरण में तत्पर हैं वे कर्मों की विशुद्धि के लिये वस्त्रयुक्त लिङ्ग धारण कर तप का आचरण करती हैं।

भावार्थ—शंका होती है कि जब स्त्रियों को निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करने की आज्ञा नहीं और संयम का भी वे पालन नहीं कर सकतीं तब उन्हें वस्त्रयुक्त लिङ्ग धारण कर तप करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान ग्रंथकार ने यहां यह दिया है कि यद्यपि स्त्रियाँ निर्ग्रन्थ लिङ्ग और संयम धारण नहीं कर सकतीं तथापि जो निर्मल सम्यक्त्व की धारक और भले प्रकार चारित्र के आचरण करने में तत्पर हैं वे कर्मों की विशुद्धि के लिये आर्यिका की दीक्षा लेकर तप का आराधन करती हैं अर्थात् उनकी यह भावना रहती है कि हमारे कर्मों की विशुद्धि हो स्त्रीलिङ्ग नष्ट होकर हमें पुल्लिङ्ग की प्राप्ति हो जिससे पुरुष पर्याय में हम तपका आराधन कर निराकुलतामय मोक्ष सुख का अनुभव करें।।५०।।

शांतस्तपःक्षमोऽकुत्सो, वर्णेष्वेकतमस्त्रिषु।
कल्याणांगो नरो योग्यो, लिंगस्य ग्रहणे मतः।।५१।।
तप के लिए समर्थ शांत जो, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अमल।
सुंदर देही अवयव धारक, निर्ग्रंथ लिंग के योग्य विमल।।५१।।

अर्थ—जो मनुष्य शांत होगा, तप के लिये समर्थ, निर्दोष ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों में किसी एक वर्ण का और सुन्दर शरीर के अवयवों का धारक होगा वही निर्ग्रंथ लिङ्ग के ग्रहण करने में योग्य है अन्य नहीं।

भावार्थ—जो मनुष्य क्रोध आदि कषायों के वशीभूत होगा, तप करने की सामर्थ्य न रखता होगा, निंदित वा ब्राह्मण आदि तीन वर्णों का न होकर शूद्र होगा और सुंदर शरीर के अवयवों का धारक न होकर अंधा लंगड़ा आदि होगा वह निर्ग्रन्थ लिङ्ग पालन नहीं कर सकता इसलिये वह निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करने का पात्र नहीं हैं। किंतु जो मनुष्य उत्तम क्षमा का धारक, तप करने की सामर्थ्य रखने वाला, निर्दोष, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णों में किसी एक वर्ण का धारक और सुंदर शरीर के अवयवों से युक्त होगा वही निर्ग्रंथ लिंग पालन कर सकेगा इसलिये ऐसा उत्तम पुरुष ही निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करने का पात्र है।।५१।।

कुल जाति वयोदेह, कृत्य बुद्धि क्रुधादयः।
नरस्य कुत्सिता व्यंगास्-तदन्ये लिंगयोग्यता।।५२।।
निंदित कुलवय जाति क्रोध या, कर्म बुद्धि या व्यंग शरीर।
निर्ग्रंथ लिंग में बाधक मानो, इससे भिन्न कहे जिन वीर।।५२।।

अर्थ—मनुष्य के निंदित कुल जाति वय शरीर कर्म बुद्धि और क्रोध आदिक व्यंग्य-हीनता हैं-निर्ग्रन्थ लिङ्ग के धारण करने में बाधक हैं और इनसे भिन्न उसके ग्रहण करने में कारण हैं।

भावार्थ—यदि मनुष्य नीचकुल और नीच जाति से उत्पन्न होगा असमर्थ वृद्ध काना लंगड़ा आदि शरीर का धारक कुकर्मी अज्ञानी और क्रोधी मानी मायाचारी आदि होगा तो वह कभी निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करने का पात्र नहीं हो सकता किंतु जो कुल और जाति से उत्तम होगा, दीक्षा के योग्य वय का धारक और निर्दोष अवयवों से युक्त शरीर से मंडित होगा, उत्तम कार्यों का आचरण करने वाला ज्ञानवान और क्रोध आदि रहित होगा, वही निर्ग्रन्थ लिङ्ग के धारण करने के लिये योग्य है इसलिये निंदित कुल जाति आदि निर्ग्रन्थ लिङ्ग में बाधक हैं और उत्तम कुल आदि उसके साधक हैं।।५२।।

येन रत्नत्रयं साधोर्-नाश्यते मुक्तिकारणं।
स व्यंगो भण्यते नान्यस्-तत्त्वतः सिद्धिसाधने।।५३।।
जिसके द्वारा मोक्ष का कारण, रत्नत्रय का होवे भंग।
मोक्ष के साधन तप आदिक में, बाधक कारण रहा है व्यंग।।५३।।

अर्थ—जिसके द्वारा संयमी के मोक्ष का कारण रत्नत्रय नष्ट हो वही मोक्ष के साधन तप आदि में वास्तविक रीति से व्यंग बाधक कारण है अन्य नहीं।

भावार्थ—पहले यह कह दिया गया है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं जब तक इनकी प्राप्ति नहीं होती तब तक कदापि मुक्ती नहीं मिल सकती इसलिये जिसके द्वारा इस मार्ग का नाश होता हो वह मोक्ष के साधन-तप में व्यंग-बाधक कारण है। नीच कुल जाति दीक्षा के योग्य शरीर का न होना आदि के होते तप का आराधन नहीं हो सकता इसलिये ये व्यंग हैं—तप के आराधन में बाधक कारण हैं और उत्तम कुल उत्तम जाति योग्य शरीर का होना आदि के होते तप का पूर्ण रूप से आचरण होता है इसलिये ये व्यंग-बाधक कारण नहीं।

यो व्यावहारिको व्यंगो, मतो रत्नत्रय ग्रहे।
न सोऽपि जायते व्यंगः, साधुः सल्लेखना कृतौ।।५४।।
रत्नत्रय के ग्रहण समय जो, व्यवहारिक बतलाया व्यंग।
सल्लेखन के काल में भी, व्यंग का न होता है ढंग।।५४।।

अर्थ—रत्नत्रय के ग्रहण करते समय जो व्यावहारिक व्यंग बतलाया गया है सल्लेखना के समय भी उस व्यंग को उत्तम नहीं कहा गया है।

भावार्थ—मृत्यु के समय काय और कषायों को क्रम से कृश करते-करते धर्मध्यान में सावधान रहकर प्राणों के त्याग को सल्लेखना कहते हैं। इसको सन्यासमरण वा उत्तममरण भी कहा गया है। तो जो पहले रत्नत्रय के ग्रहण में व्यवहार व्यंग कहा गया है वह सल्लेखना करनेवाले के लिये भी उत्तम नहीं अर्थात् उत्तमकुल उत्तम जाति से उत्पन्न, योग्य अवस्था और निर्दोष अवयवों से युक्त शरीर का धारक, उत्तम कार्यों का करने वाला, बुद्धिमान और क्रोध आदि से रहित ही सल्लेखना को धारण कर सकता है अन्य नीच कुल में उत्पन्न आदि नहीं।।५४।।

यस्यैहलौकिकी नास्ति, नापेक्षा पारलौकिकी।
युक्ताहार विहारोऽसौ, श्रमणः सम मानसः।।५५।।
इच्छा नहिं इस लोक की जिनको, न परलोक की इच्छावान।
शास्त्रानुकूल आहार विहार युत, सम चित्त मुनिवर श्रमण महान।।५५।।

अर्थ—जिस मुनि के चित्त में न तो इस लोक की इच्छा है और न परलोक की इच्छा है तथा जिसका आहार विहार युक्त है शास्त्रानुकूल है वह समचित्त का धारक मुनि श्रमण समझा जाता है।

भावार्थ—जो मुनि तप से इस बात की लालसा रखता है कि मुझे इसलोक में उत्तम स्त्री आदि पदार्थ और चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त हों और परलोक में भी उत्तम विभूति आदि की प्राप्ति

हो तथा जिसका आहार विहार अयुक्त होता है वह मुनि चंचल चित्त का धारक कुत्सित समझा जाता है और जो इसलोक और परलोक की इच्छा से रहित होकर तप आराधन करता है और जिसका आहार विहार शास्त्रानुसार है वह समचित्त का धारक मुनि श्रमण होता है इसलिये मुनियों को चाहिये कि वे तप करते समय इसलोक परलोक संबंधी इच्छा का सर्वथा निरोध रखें और आहार विहार शास्त्रानुसार करें।।५५।।

कषाय विकथा निद्रा, प्रेमाक्षार्थ पराङ्मुखाः।
जीविते मरणे तुल्याः, शत्रौ मित्रे सुखेऽसुखे।।५६।।
निद्रा राग कषाय विकथा, विमुख इंद्रिय विषयोंवान।
मित्र शत्रु जीवन मृत्यु सुख-दुख में जिनके भाव समान।।५६।।
आत्मनोऽन्वेषणा येषां, भिक्षा येषा-मनेषणा।
संयताः संत्यनाहारास्-ते सर्वत्र समाशयाः।।५७।।
आत्म खोज में निरत रहे जो, मिच्छा विरहित जीव महान्।
अनाहार जो योगी हैं वे, सम चित् धारक संयमवान।।५७।।

अर्थ—जो योगी कषाय विकथा निद्रा राग और पाँचों इंद्रियों के विषयों से पराङ्मुख हैं जीवन मरण शत्रु-मित्र और सुख-दुख में जिनके भाव समान हैं जो आत्मा की ही खोज करते रहते हैं भिक्षा में इच्छारहित हैं और अनाहार हैं वे समचित्त के धारक सच्चे संयमी हैं।

भावार्थ—क्रोध-मान-माया-लोभ चार कषाय, स्त्रीकथा-चोरकथा-राजकथा और भोजन कथा चार विकथायें, निद्रा, राग और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, और शब्द ये पांच इंद्रियों के पांच विषय, सब मिलकर पंद्रह प्रमाद हैं। जो योगी इन पंद्रह प्रकार के प्रमादों से रहित हैं, जीवन मरण शत्रु मित्र और सुख दुःख में समान हैं अर्थात् जीवन मरण आदि के उपस्थित हो जाने पर सुखी दुखी नहीं होते। जिनकी इच्छा सदा आत्मा के स्वरूप के जानने की रहती है, जो हृदय से भिक्षा को नहीं चाहते और निराहार रहते हैं वे समचित्त के धारक योगी संयमी कहे जाते हैं।।५६-५७।।

यः स्वशक्तिमनाच्छाद्य, सदा तपसि वर्तते।
साधुः केवलदेहोऽसौ, निष्प्रतीकार विग्रहः।।५८।।
देह परिग्रह के धारक मुनि, तपाचार निज शक्तीवान।
आने पर उपसर्ग कोइ न, साधु करें प्रतिकार महान्।।५८।।

अर्थ—जो मुनि केवल शरीर रूप परिग्रह के धारक हैं अपनी शक्ति को न छिपा कर तप का आचरण करता है और अपने शरीर पर उपसर्ग आने से किसी प्रकार का प्रतीकार नहीं करते वे सच्चे साधु हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य मुनिमुद्रा धारणकर वनवासी हो गया है, जिसके सिवाय शरीर के दूसरा कोई परिग्रह नहीं है, जो अपनी शक्ति को न छिपाकर घोर तप का आराधन करता है और जो अन्य पदार्थों में ममता की तो क्या बात? शरीर में भी किसी प्रकार की ममता नहीं रखता शरीर के विनाश के कारण उपस्थित हो जाने पर भी कुछ प्रतीकार नहीं करता वह सच्चा साधु है इसलिये मुनियों को चाहिये कि वे तप करते समय शरीर में किसी प्रकार का ममत्व न करें और जितनी शक्ति हो उसके अनुसार अवश्य तप का आराधन करें।।५८।।

एकासनोदराभुक्तिर्-माँस-मध्वादि वर्जिता।
यथालब्धेन भैक्षेण, नीरसा परवेश्मनि।।५९।।
मिलने पर आहार साधुगण, मधू माँस संबंध विहीन।
नीरस एकाशन से भोजन, अल्प करें हों ध्यानालीन।।५९।।

अर्थ—तथा पराये घर आहार के मिल जाने पर मुनिगण माँस मधु आदि के संबंध से रहित और नीरस एक आसन से अवमोदर्य-अल्प भोजन करते हैं।

भावार्थ—लौकिक ख्याति लाभ की इच्छा न कर संयम की सिद्धि के लिये, राग भावों का नाश और कर्मों के विनाश के लिये ध्यान और स्वाध्याय की सिद्धि एवं इंद्रिय और काम के जीतने के लिये मुनिगण जो अल्प आहार करते हैं उसका नाम अवमोदर्य है इसलिये जिस समय मुनिगण भोजन की बेला में गृहस्थों के घर आते हैं उस समय वे स्वादिष्ट वा अस्वादिष्ट जैसा आहार उन्हें मिल जाता है उसमें से यह भले प्रकार जानकर कि यह आहार माँस मधु आदि अपवित्र पदार्थों के संबंध से रहित शुद्ध और नीरस है एक आसन से अवमोदर्य–थोड़ा आहार कर लेते हैं।।५९।।

पक्वेऽपक्वे सदा माँसे, पच्यमाने च संभवः।
तज्जातीनां निगोदानां, कथ्यते जिन पुंगवैः।।६०।।
माँस पका कच्चा पकता हो, उसमें उस जाती के जीव।
उसमें ही उत्पन्न निगोदिया, क्षण-क्षण में हों जीव-अतीव।।६०।।
माँसं पक्व-मपक्क वा, स्पृश्यते येन भक्ष्यते।
अनेकाः कोटयस्तेन, हन्यंते किल जन्मिनां।।६१।।

कच्चा पकाया पकता कैसा, खाने वाले माँस विशेष।
कोटि जीव स्पर्शन भक्षण, से मरते कहते तीर्थेश।।६१।।

अर्थ–भगवान जिनेन्द्र का उपदेश है कि माँस पका हुआ कच्चा वा पकता हुआ कैसा भी क्यों न हो उसमें बहुत से उस जाति के निगोदिया जीवों की उत्पत्ति होती रहती है इसलिये जो मनुष्य पके वा कच्चे वा अधपके कैसे भी माँस का स्पर्श वा भक्षण करते हैं वे करोड़ों (असंख्यात) जीवों का प्राणघात करते हैं।

भावार्थ–माँस का स्पर्श करना वा खाना हिंसा-अनर्थ का मूल कारण है क्योंकि एक तो जो मनुष्य माँस के लोलुपी हैं उनके लिये पहले ही जीवों का विध्वंस होता है इसलिये उन्हें हिंसा का दोष पहले से ही लग जाता है। दूसरे चाहें मांस पका हो चाहें कच्चा हो और चाहें पक रहा हो उसमें अनंते निगोदिया जीवों की प्रति समय उत्पत्ति होती रहती है इसलिये इस बात का निश्चय है कि जो मनुष्य पक्के वा कच्चे मांस का स्पर्श वा भक्षण करते हैं वे करोड़ों (असंख्यात) जीवों की हिंसा करते हैं अत: जो पुरुष उत्तम हैं और हिंसाजन्य पाप से बचना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे सर्वथा माँस का भक्षण करना छोड़ दें और भक्षण करना तो दूर रहो उसका स्पर्श तक भी न करें।।६०-६१।।

बहुजीव प्रघातोत्थं, बहुजीवोद्भवास्पदं।
असंयम विभीतेन, त्रेधा मध्वपि वर्ज्यते।।६२।।
जो भयभीत असंयम से है, संयम में बाधा न होय।
मधु त्यागें वे तीन योग से, जीव घात से मधु हो सोय।।६२।।

अर्थ–जो महानुभाव असंयम से भय करने वाले हैं और चाहते हैं कि हमारे संयम में किसीप्रकार की बाधा न आवे उन्हें चाहिये कि वे मन वचन काय से मधु का भी सर्वथा त्याग कर देवें क्योंकि मधु बहुत से जीवों के घात से उत्पन्न होता है और बहुत से जीवों की उत्पत्ति का स्थान है।

भावार्थ–पहले कह दिया जा चुका है कि षट्काय के जीवों की रक्षा करना संयम है जो मनुष्य मधु (शहद) के भक्षण करने वाले हैं वे कभी संयम का पालन नहीं कर सकते क्योंकि मधु की उत्पत्ति बहुत से जीवों के घात से होती है अर्थात् जिस छत्ते के अंदर मधुमक्खियाँ मधु को इकट्ठा करती हैं उसमें बहुत से उनके अंडे बच्चे रहते हैं और जो मनुष्य छत्ता तोड़कर मधु

निकालते हैं उस समय छत्ते के निचोड़ने के कारण वे अगणित अंडे बच्चे नष्ट हो जाते हैं। तथा यह मधु अनेक जीवों की उत्पत्ति का स्थान है–सदा अनंत जीवों की इसमें उत्पत्ति होती रहती है काय से सर्वथा मधु का त्याग कर दें-मधु की ओर झांककर भी न देखें।।६२।।

कंदो मूलं फलं पत्रं, नवनीत-मगृध्नुभिः।
अन्वेषणीय-मग्राह्य मन्नमन्य-दपि त्रिधा।।६३।।
रहित लालसा मुनि भोजन की, कंद मूल फल मक्खन पत्र।
तीन योग से तजें अन्य भी, जो अयोग्य होवें सर्वत्र।।६३।।

अर्थ–अगृध्नु-भोजन की लालसा रहित मुनियों को चाहिये कि वे कंद मूल फल पत्र और नवनीत-मक्खन के भोजन का मन वचन काय से सर्वथा त्याग कर दें तथा अन्य भी अयोग्य अन्न के आहार को छोड़ दें।

भावार्थ–कंद मूल फल पत्र नवनीत आदि पदार्थ हिंसा के कारण हैं इसलिये मुनियों को चाहिये कि इनका सर्वथा ऐसे आहार लेने का त्याग कर दें तथा जो अन्य भी मुनि के योग्य न हो उस अन्न आदि के आहार को ग्रहण न करें किंतु प्रासुक और शुद्ध आहार ही लें।।६३।।

पिंडः पाणिगतोऽन्यस्मै, दातुं योग्यो न युज्यते।
दीयते चेन्न भोक्तव्यं, भुंक्ते चेच्छेद भाग्यतिः।।६४।।
देने को जिन मुनि को दाता, हाथ में लेवे जो आहार।
अन्य को ना दे यदि कोइ ले तो, मुनि हो छेद का भागीदार।।६४।।

अर्थ–आहार देते समय गृहस्थ को चाहिये कि वह जिस मुनि को देने के लिये हाथ में आहार ले उसे उसी मुनि को दे अन्य मुनि को देना योग्य नहीं यदि कदाचित् अन्य को दे भी दिया जाय तो मुनि को खाना न चाहिये क्योंकि यदि मुनि उसे खा लेगा तो वह छेद प्रायश्चित्त का भागी गिना जायेगा।।६४।।

बालो वृद्धस्तपोग्लानस्-तीव्रव्याधिनिपीडितः।
तथा चरतु चारित्रं, मूलच्छेदो यथास्ति नो।।६५।।
जो मुनि बालक वृद्ध रोग से, पीड़ित व्रत्याधि संयुक्त।
चारित को पालें जिससे वे, मूल छेद से हों परिमुक्त।।६५।।

अर्थ—जो मुनि बालक वृद्ध ग्लान-रोग से पीड़ित और तीव्रव्याधि से पीड़ित हैं उन्हें भी उस रूप से चारित्र का आचरण करना चाहिये जिससे उनके मूलगुणों का छेद न हो।

भावार्थ—जो मुनि बालक वृद्ध रोग से पीड़ित-ग्लान और तीव्र व्याधि से पीड़ित हैं यद्यपि वे घोर तप का आराधन नहीं कर सकते तथापि उन्हें इतना तप तो अवश्य करना चाहिये जिनसे उनके मूल गुणों का छेद न हो पाये।।६५।।

आहार-मुपधिं शय्यां, देशं कालं बलं श्रमं।
वर्तते यदि विज्ञाय स्वल्पलते यतिस्तदा।।६६।।

जो मुनि देश काल बल आहार, शनोपकरण श्रम भली प्रकार।
जान के चारित में प्रवृत्त हों, स्वल्प पाप युत हों अनगार।।६६।।

अर्थ—जो मुनि आहार उपकरण शयन देश काल बल और श्रम को भले प्रकार जानकर चारित्र में प्रवृत्ति करता है वह यति स्वल्पलेप रहता है अर्थात् उसे बहुत थोड़ा पाप लगता है।

भावार्थ—पापों के नाश के लिये वा अधिक पापों का आत्मा में आस्रव न हो इसलिये मुनि निर्ग्रन्थ लिङ्ग को धारण करते हैं तथा आहार उपकरण शयन देश काल बल और श्रमों को जानकर चारित्र में प्रवृत्ति करने से उन्हें थोड़ा पाप लगता है इसलिये मुनियों को चाहिये कि आहार आदि को भले प्रकार जानकर चारित्र का पालन करें।।६६।।

संयमो हीयते येन, येन लोको विराध्यते।
ज्ञायते येन संक्लेशस्-तन्-नकृत्यं तपस्विभिः।।६७।।

लोक विरोध संयम में हानी, जिस किस क्रिया से हों यह जान।
अधिक कष्ट होवे मुनियों को, ऐसी क्रिया करें ना मान।।६७।।

अर्थ—जिस क्रिया के करने से संयम में हानि पहुँचे लोकविरोध हो और अधिक कष्ट मालूम पड़े मुनियों को ऐसी क्रिया कभी नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ—मुनि को वही कार्य करना चाहिये जिससे उसके पवित्र संयम में किसी प्रकार की हानि न आवे, कैसा भी लोक विरोध न हो और अधिक क्लेश भी न मालूम पड़े किंतु जिस क्रिया के आचरण करने से संयम में हानि, लोकविरोध, अधिक क्लेश भोगना पड़े, संक्लेश परिणाम हो जाय उस क्रिया का कदापि आचरण न करना चाहिये।।६७।।

एकाग्र मनसः साधो, पदार्थेषु विनिश्चयः।
यस्मादागमतस्तस्मात्-तस्मिन्नाद्रियतां तरां।।६८।।

मुनि एकाग्रचित के धारी, आगमविहित पदार्थ विशेष।
सत् का निर्णय होय अतः वे, आदर शास्त्र का करें अशेष।।६८।।

अर्थ—एकाग्रचित्त के धारक मुनि को आगम-शास्त्र के द्वारा पदार्थों का विशेष और वास्तविक निश्चय होता है इसलिये उसे चाहिये कि वह शास्त्र का अत्यंत आदर करें।

भावार्थ—पदार्थों के विशेष और वास्तविक ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है। जब तक मुनियों को यह दिव्यज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक उसे पदार्थों का वास्तविक ज्ञान सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों के द्वारा होता है इसलिये मुनि को चाहिये कि वह एकाग्र चित्त का धारक हो शास्त्र का विशेष आदर करे-अच्छी तरह उसका मनन और परिशीलन करें।।६८।।

परलोकविधौ शास्त्रं, प्रमाणं प्रायशः परं।
यतोऽत्रासन्नभव्याना-मादरः परमस्ततः।।६९।।
कोइ पर लोक पदार्थ है जिसमें, पुट प्रमाण प्रायः निर्दोष।
शास्त्र है अतः आसन्न भव्य को, उसमें आदर होय अदोष।।६९।।

अर्थ—परलोक कोई पदार्थ है इसमें निर्दोष वा पुष्ट प्रमाण प्राय: शास्त्र ही है इसलिये जो पुरुष आसन्नभव्य हैं बहुत शीघ्र जिन्हें मोक्ष मिलने वाली है उनका शास्त्रों में अत्यंत आदर होता है।

भावार्थ—परलोक पदार्थ अतींद्रिय है-इंद्रियाँ उसे विषय नहीं कर सकती इसलिये वह हम सरीखे मनुष्यों के प्रत्यक्ष गोचर हो नहीं सकता। तथापि अनुमान प्रमाण से परलोक की सिद्धि की जाती है परंतु स्पष्ट रूप से नहीं अर्थात् अनुमान से कोई परलोक पदार्थ है इस बात को सिद्ध भी कर लें परंतु वह कैसा और किस स्वरूप है? यह उसका विशेष स्वरूप नहीं जाना जा सकता किंतु आगम प्रमाण से उसकी विद्यमानता और विशेष स्वरूप स्पष्टरूप से जान लिये जाते हैं इसलिये जो पुरुष जल्दी मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं और परलोक मोक्ष आदि के स्वरूप को जानने की गहरी लालसा रखते हैं वे पूर्णरूप से शास्त्रों का आदर करें।।६९।।

उपदेशं विनाप्यंगी, पटीयानर्थ कामयोः।
धर्मे तु न विना शास्त्रा-दिति तत्रादरो हितः।।७०।।
जीवों की उपदेश बिना भी, अर्थ काम में होय प्रवृत्ति।
धर्म प्रवृत्ती शास्त्रों से हो, अतः शास्त्र में होवे वृत्ति।।७०।।

अर्थकामाविधानेन, तदभावः परं नृणां।
धर्माविधानतोऽनर्थस्-तदभावश्च जायते।।७१।।
धर्मकाम में नहीं प्रवृत्ती, करने से हो पूर्ण अभाव।
धर्माचरण रहित के माना, हों अनर्थ या धर्मा भाव।।७१।।
तस्माद्धर्मार्थिभिः शश्वच्-छास्त्रयत्नो विधीयते।
मोहांधकारिते लोके, शास्त्रं लोक प्रकाशकं।।७२।।
पुरुष होंय धर्मार्थी जो वे, धर्माचरण के अभिलाषी।
सदा शास्त्र में यत्न करें वे, मोह तिमिर के जो नाशी।।७२।।
मायामयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं द्रव्यनिबंधनं।
चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थ साधकं।।७३।।
रहे प्रकाशक जो पदार्थ के, माया व्याधि को औषधि श्रेष्ठ।
अर्थ का कारण सब पदार्थ का, दर्शायक जो नेत्र यथेष्ठ।।७३।।
न भक्तिर्यस्य तत्रास्ति, तस्य धर्मक्रियाखिला।
अंधलोक क्रियातुल्या, कर्मदोषा-दसत्फला।।७४।।
सर्व प्रयोजन सिद्धी कारक, शास्त्र में जो ना भक्तीवान।
कर्मोदय से धर्म क्रियाएँ, फल निकृष्ट दें अंध समान।।७४।।

अर्थ—उपदेश के बिना भी इस जीव की अर्थ और काम में स्वयं प्रवृत्ति हो जाती है परंतु धर्म में प्रवृत्ति शास्त्र से ही होती है इसलिये शास्त्र में आदर रखना महान हितकारी है। तथा अर्थ और काम में प्रवृत्ति न करने से मनुष्यों के उनका ही अभाव होता है परंतु धर्म के आचरण न करने से नाना प्रकार के अनर्थ और धर्म का अभाव दोनों होते हैं इसलिये जो पुरुष धर्मार्थी हैं धर्म के आचरण करने की अभिलाषा रखते हैं उन्हें सदा शास्त्र में यत्न करना चाहिये क्योंकि यह शास्त्र मोहरूपी अंधकार से आच्छन्न इसलोक में समस्त पदार्थों का प्रकाश करने वाला है, मायारूपी भयंकर व्याधि के लिये उत्तम औषधि है, अर्थ का कारण है, समस्त पदार्थों का दिखाने वाला नेत्र है, और समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला है। जिस मनुष्य की ऐसे कल्याणकारी शास्त्र में भक्ति नहीं उस मनुष्य की तीव्र कर्म के दोष से समस्त धर्म क्रियायें अंधे मनुष्य की क्रियाओं के समान निकृष्ट फल को प्रदान करने वाली हैं।

भावार्थ—यह प्रत्यक्ष अनुभव में आता है कि जब मनुष्य कुछ बड़ा हो समझने लगता है तब उसकी धन कमाने और विषय सेवन में अपने आप प्रवृत्ति हो जाती है इसलिये अर्थ और काम में मनुष्यों की प्रवृत्ति के लिये किसी के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती परंतु धर्म में किसी की स्वयं प्रवृत्ति नहीं होती, उसमें प्रवृत्ति तो शास्त्र के उपदेश से ही होती है इसलिये शास्त्र में प्रेम का करना परम हितकारी है तथा यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अर्थ और काम के न सेवन से तो केवल अर्थ-काम का ही अभाव होगा परंतु यदि धर्म का आचरण न किया जायेगा तो धर्म का अभाव होगा सो तो होगा ही नाना प्रकार के अनर्थों का भी सामना करना पड़ेगा इसलिये जो पुरुष धर्म के इच्छुक हैं उन्हें चाहिये कि वे अच्छी तरह शास्त्रों का मनन परिशीलन और अभ्यास करें क्योंकि मोहांधकार से व्याप्त इसलोक में यह शास्त्र समस्त पदार्थों का प्रकाश करने वाला है, मायारूपी व्याधि के लिये प्रबल औषधि है, धन का कारण है, अतींद्रिय भी पदार्थों को दिखाने वाला नेत्र है और समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला है। यदि किसी मनुष्य की ऐसे कल्याणकारी शास्त्र में भी भक्ति नहीं हो तो समझना चाहिये उस मनुष्य की क्रियायें अंधे मनुष्य की क्रियाओं के समान निष्फल हैं धर्म के अभाव में तीव्र अशुभ कर्म के बंध को करने वाली होने से निकृष्ट फल के देने वाली हैं।।७०-७४।।

यथोदकेन वस्त्रस्य, मलिनस्य विशोधनं।
रागादि दोष दुष्टस्य, शास्त्रेण मनसस्तथा।।७५।।
मलिन वस्त्र ज्यों शुद्ध नीर से, होय शुद्ध ज्यों उसी प्रकार।
रागादिक दोषों युत मन भी, शास्त्र से शुद्ध होय शुभकार।।७५।।

अर्थ—जिसप्रकार मलिन भी वस्त्र जल से शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार राग आदि दोषों से दुष्ट भी मन शास्त्र से शुद्ध हो जाता है।

भावार्थ—वस्त्र कैसा भी मलिन क्यों न हो यदि वह जल से धोया जायेगा तो अवश्य शुद्ध हो जायेगा उसीप्रकार मन भी राग द्वेष आदि दोषों से कितना भी दुष्ट क्यों न हो यदि शास्त्र का विचार अभ्यास किया जायेगा तो वह अवश्य शुद्ध हो जायेगा इसलिये जो पुरुष अपने मन को शुद्ध करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे इस बात को भले प्रकार जानकर कि, 'जिसप्रकार मलिन वस्त्र के शुद्ध करने में प्रधान कारण जल है उसीप्रकार राग द्वेष आदि दोषों से दूषित मन के शुद्ध करने में प्रधान कारण शास्त्र है। अवश्य पूर्णरूप से शास्त्र का अभ्यास मनन परिशीलन करें।।७५।।

आगमे शाश्वती बद्धिर्-मुक्तिस्त्रीशंफली यतः।
ततः सा यत्नतः कार्या, भव्येन भवभीरुणा।।७६।।
मोक्ष स्त्री की दूती बुद्धी, शास्त्र विहित है भली प्रकार।
जो भव से भयभीत हैं वे सब, शास्त्र में स्थिर हों अनगार।।७६।।

अर्थ—सदा शास्त्र में भले प्रकार लगी हुई बुद्धि मोक्षरूपी स्त्री की दूती है इसलिये जो संसार से भयभीत भव्य मनुष्य हैं उन्हें चाहिए कि वे बड़े यत्न से बुद्धि को शास्त्र में स्थिर रखें।

भावार्थ—जिसप्रकार दूती अपनी स्वामिनी स्त्री से मनुष्य को जल्दी मिला देती है उसी प्रकार सर्वदा शास्त्र में लगी हुई बुद्धि भी मोक्ष को प्राप्त करा देती है इसलिये जो मनुष्य संसार के दुखों से भीत हैं उन्हें चाहिये कि वे बड़े यत्न से शास्त्र में बुद्धि को स्थिर रखें जिससे उन्हें जल्दी मोक्षरमणी का समागम प्राप्त हो जाय।।७६।।

कांतारे पतितो दुर्गे, गर्ताद्य परिहारतः।
यथांधो नाश्नुते मार्ग-मिष्टस्थानप्रवेशकं।।७७।।
दुर्गम वन में पड़े अंध को, गर्तादिक से रहित महान्।
मार्ग नहीं मिलता अभीष्ट तक, जाने को ज्यों अंध समान।।७७।।
पतितो भवकांतारे, कुमार्गा परिहारतः।
तथा नाप्नोत्यशास्त्रज्ञो, मार्गं मुक्तिप्रवेशकं।।७८।।
शास्त्र ज्ञान से रहित जीव भी, भव वन भटके उसी प्रकार।
रहित कुमार्ग मोक्ष तक जाने, मार्ग न मिलता है शुभकार।।७८।।

अर्थ—जिसप्रकार दुर्गम वन के अंदर पड़े हुये अंधे मनुष्य को खड्डा आदि से रहित और अभीष्ट स्थान पर पहुँचाने वाला मार्ग नहीं मिलता उसी प्रकार शास्त्रों को न जानकर जो मनुष्य संसाररूपी वन में भटकता फिरता है उसे भी कुमार्ग से रहित और मोक्षस्थान में पहुँचाने वाला उत्तम मार्ग नहीं मिलता।

भावार्थ—ऊपर कह दिया गया है कि शास्त्र नेत्र है जो पुरुष शास्त्र का ज्ञाता नहीं वह सूझता होकर भी अंधा है क्योंकि जिसप्रकार दैवयोग से वन में पहुँचा हुआ अंधा पुरुष नगर में अपने इष्ट स्थान पर आना चाहता है परंतु मार्ग के न मिलने से वह इधर उधर वन के खड्डों में गिरता हुआ

भटकता फिरता है–नगर में नहीं आ सकता उसीप्रकार जो पुरुष शास्त्र का ज्ञाता नहीं वह कुमार्गों पर चलने के कारण संसार में घूमता रहता है उत्तम मार्ग-मोक्षमार्ग पर नहीं आ सकता इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे अवश्य शास्त्रों का अभ्यास मनन और परिशीलन करें क्योंकि जिस प्रकार नेत्रवाला मनुष्य उत्तम मार्ग को देखकर अपने अभीष्ट स्थान पर सुखपूर्वक आ जाता है उसी प्रकार शास्त्रों का ज्ञाता मनुष्य भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्ष मार्ग पर गमन कर मोक्षस्थान प्राप्त कर लेता है।।७७-७८।।

यतः समेप्यनुष्ठाने, फलभेदोभिसंधितः।
स ततः परमस्तत्र, ज्ञेयो नीरं कृषाविव।।७९।।
खेत जोतना बोना आदिक, सर्व क्रियाएं होंय समान।
फिर भी योग्य नीर से उपजे, श्रेष्ठ धान्य व अन्य में जान।।७९।।
बहुधा भिद्यते सोऽपि, रागद्वेषादि भेदतः।
नानाफलोपभोक्तृणां नृणां बुद्ध्यादिभेदतः।।८०।।
त्यों सब कार्य समान होंय फिर, भी फल हो अभिप्रायानुसार।
अभिप्राय राग-द्वेष आदिक कई, बुद्धि आदि नाना फलकार।।८०।।

भावार्थ–जोतना बोना आदि समानरूप से कार्यों के करने पर भी जिस खेत में योग्य जल दिया जाता है उसी में धान्य की उपज अच्छी होती है अन्य में नहीं होती इसलिये जिसप्रकार खेती में जल मुख्य है उसीप्रकार अन्य समस्त कार्यों के समानरूप से करने पर भी जैसा अभिप्राय होता है वैसा ही फल प्राप्त होता है इसलिये अभिप्राय ही मुख्य है और वह अभिप्राय रागरूप द्वेषरूप आदि के भेद से वा नानाप्रकार के फलों को भोगने वाले मनुष्यों की बुद्धि आदि के भेद से अनेक प्रकार का है।।७९-८०।।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्-त्रिविधः प्रक्रमः स्मृतः।
सर्वकर्माणि भिद्यंते, तद्-भेदाच्च शरीरिणां।।८१।।
अभिप्राय नाना भेदवान हैं, बुद्धि आदि असंमोह विशेष।
भेद परस्पर हो कार्यों में, फल में भेद होय अवशेष।।८१।।

अर्थ–पहले श्लोक में जो बुद्धि आदि के भेद से अभिप्राय अनेक प्रकार का बतलाया है

वहां आदि शब्द से ज्ञान और असंमोह लिये गये हैं अर्थात् बुद्धि ज्ञान और असंमोह ये तीन भेद अभिप्राय के हैं और इनमें परस्पर भेद होने से मनुष्यों के समस्त कार्यों के फल में भी भेद हो जाता है ऐसा जानना चाहिए।।८१।।

बुद्धिमक्षाश्रयां तत्र, ज्ञान-मागम पूर्वकं।
तदेव सदनुष्ठान-मसंमोहं विदो विदुः।।८२।।
इंद्रिय आलंबन से बुद्धी, आगम से होता है ज्ञान।
श्रेष्ठ अनुष्ठान सहित ज्ञान ही, असंमोह कहलाए महान।।८२।।

अर्थ—जो इंद्रियों के अवलंबन से हो वह बुद्धि, आगम की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान और श्रेष्ठ अनुष्ठान सहित वह ज्ञान ही असंमोह है।

भावार्थ—ऊपर के श्लोक में बुद्धि ज्ञान और असंमोह का नाम कहा है उनमें इंद्रियों की प्रवृत्ति के अनुसार चलने का अभिप्राय होना बुद्धि, आगम की आज्ञापूर्वक चलने का अभिप्राय होना ज्ञान और श्रेष्ठ अनुष्ठान पूर्वक ज्ञान ही असंमोह है।।८२।।

चारित्रदर्शनज्ञान, तत्स्वीकारो यथाक्रमं।
तत्रोदाहरणं ज्ञेयं, बुद्ध्यादीनां प्रसिद्ध्ये।।८३।।
क्रमशः दर्शज्ञान चारित को, कर लेते हैं जो स्वीकार।
ज्ञेय बुद्धि आदिक प्रसिद्ध हैं, श्रेष्ठ उदाहरण मंगलकार।।८३।।

अर्थ—चारित्र ज्ञान दर्शन यथाक्रम से स्वीकार करके उसका उदाहरण बुद्धि आदि ज्ञेय लोक प्रसिद्ध हैं।

भावार्थ—पूर्वागम के अनुसार ''सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'' मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकता रूप है तथा छद्मस्थ के लिए क्रमशः होते हैं ऐसा कुछ भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री यहाँ कथन कर रहे हैं तथा रत्नत्रय के उदाहरण ज्ञेय बुद्धिआदि जगत् प्रसिद्ध हैं जिनके अनुसार ही ''विशद'' मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए।।८३।।

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि, समस्तानि तनूमतां।
संसारफलदायीनि, विपाकवि-रसत्वतः।।८४।।
बुद्धिपूर्वक कार्य हों जितने, वे संसार के हैं फलकार।
क्योंकि वे परिणाम विरस हैं, होंय जीव के बारंबार।।८४।।

अर्थ—जीवों के बुद्धिपूर्वक जितने कार्य हैं वे समस्त संसाररूप फल के देने वाले हैं क्योंकि वे परिणाम में विरस हैं।

भावार्थ—पहले कहा जा चुका है कि इंद्रिय विषयों के अनुसार प्रवृत्ति होने के भाव को बुद्धि कहते हैं। तो जो कार्य इंद्रियों की इच्छा के अनुरूप किया जाता है उससे अवश्य ही विनाशीक और अंत में दुखदायी फल की प्राप्ति होती है। दु:खदायी फल की प्राप्ति से परिणाम संक्लेशमय रागद्वेषमय होते हैं राग द्वेष के होने से कर्मबंध और कर्मबंध से संसार में घूमना पड़ता है।।८४।।

तान्येव ज्ञानपूर्वाणि, जायंते मुक्तिहेतवे।
अनुबंधः फलत्वेन, श्रुतशक्ति निवेशितः।।८५।।
ज्ञान सहित वे कार्य होंय तो, मोक्ष के कारण होंय महान।
क्योंकि कारण में होता है, कार्योपचार का श्रेष्ठ विधान।।८५।।

अर्थ—तथा यदि वे ही कार्य ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं तो मोक्ष के कारण होते हैं क्योंकि कारण में कार्य का उपचार किया गया है।

भावार्थ—आगम की आज्ञानुसार इंद्रियों की प्रवृत्ति करने के–तप तपने के भाव को ज्ञान कहते हैं। तो जो ज्ञानपूर्वक कार्य किये जाते हैं वे मुक्तिदायक होते हैं। यहाँ पर यह शंका न करनी चाहिये कि ज्ञानपूर्वक कार्यों के करने से तो मुक्ति मिलती नहीं मुक्ति तो शुद्धात्मध्यान से होती है क्योंकि यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया गया है अर्थात् शास्त्र की आज्ञानुसार प्रवर्त्तन से कषायों का नाश, कषायों के नाश से स्वाध्याय की सिद्धि, स्वाध्याय की सिद्धि से आत्मध्यान की प्राप्ति और आत्मध्यान से मुक्ति मिलती है इसलिये ज्ञानपूर्वक कार्यों के करने से मुक्ति में साक्षात् हेतु जो आत्मध्यान रूप कार्य है, वह सिद्ध होता है अत: उसके कारणरूप ज्ञानपूर्वक कार्यों को भी मुक्ति का हेतु कह दिया है।।८५।।

संत्यसंमोह हेतूनि, कर्माण्यत्यंत शुद्धितः।
निर्वाण शर्मदायीनि, भवातीताध्व गामिनां।।८६।।
असंमोह युत कार्य होंय जो, वे अत्यंत शुद्ध हों ध्यान।
मोक्षमार्ग पर गमनकार को, मोक्ष सौख्य जो करें प्रदान।।८६।।

अर्थ—तथा जो कार्य असंमोहपूर्वक होते हैं वे अत्यंत शुद्ध होने के कारण मोक्षमार्ग पर गमन करने वाले जीवों को मोक्षसुख के प्रदान करने वाले होते हैं।

भावार्थ—जिन कार्यों की उत्पत्ति में प्रधान कारण असंमोह होता है वे कर्म अत्यंत शुद्ध होते हैं और मोक्षमार्ग पर गमन करने वाले मनुष्यों को वे निर्वाण कल्याण की प्राप्ति कराते हैं।।८६।।

भावेषु कर्मजातेषु, मनो येषां निरुद्यमं।
भवभोगविरक्तास्-ते, भवातीताध्व गामिनः।।८७।।

जिनको कर्म जनित भावों से, नहीं लालसा किसी प्रकार।
हैं विरक्त संसार भोग से, मोक्षमार्ग गामी शुभकार।।८७।।

अर्थ—जिन महानुभावों का चित्त कर्म जनित भावों में निरुत्सुक है—जो कर्म जनित भावों में लालसा नहीं रखते और संसार के भोगों से विरक्त हैं वे मोक्षमार्ग पर गमन करने वाले कहे जाते हैं।

भावार्थ—स्त्री धन धान्य आदि समस्त पदार्थ कर्म जनित हैं जैसे जीव के कर्म होते हैं उनके अनुसार उसे पुत्र आदि पदार्थों की प्राप्ति होती है। जो महानुभाव स्त्री पुत्र आदि पदार्थों को विनाशीक और अहितकारी मान उनके लिये लालायित नहीं होते और सर्वदा संसार के भोगों से विरक्त रहते हैं वे पुरुष भवातीताध्वगामी-मोक्षमार्ग पर गमन करने वाले गिने जाते हैं इसलिये उत्तम पुरुष को चाहिये कि वे पुत्र स्त्री आदि किसी भी सांसारिक पदार्थ को न अपनावें।।८७।।

एक एव सदा तेषां, पंथाः सम्यक्परायिणां।
व्यक्तीना-मिव सामान्यं, दशाभेदोऽपि जायते।।८८।।

होय सामान्य धर्म इक जैसा, और अवस्था होंय विशेष।
परमात्मा में भेद नहीं ये, परमात्मवाची हैं अवशेष।।८८।।

अर्थ—जिसप्रकार व्यक्तियों में सामान्य-समानताद्योतक धर्म एक होता है तो भी उसकी अवस्था में विशेषत्व की अपेक्षा भेद हो जाता है उसी प्रकार जो पुरुष सम्यग्दृष्टि हैं उनका सामान्यरूप से तो मार्ग-मोक्ष का मार्ग एक ही है तो भी कथंचित् विशेषत्व की अपेक्षा उसकी दशा में भेद हो जाता है इसलिये भिन्न भी हैं।

भावार्थ—जिसप्रकार समस्त मनुष्य आदि मनुष्यत्व आदि की अपेक्षा एक हैं तो भी क्षत्रियत्व, ब्राह्मणत्व आदि वा कृष्णत्व-गौरत्व आदि की अपेक्षा उनकी अवस्था में भेद होने से भिन्न हैं उसीप्रकार समस्त मोक्षगामियों का सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग तो एक ही है परंतु क्षायोपशमिक आदि के भेद से कथंचित् भिन्न भी है अर्थात् कोई सम्यग्दृष्टि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन आदि रूप मोक्षमार्ग पर गमन कर रहे हैं कोई औपशमिक रूप पर और

कोई क्षायिक रूप पर। इसलिये तो तीनों भिन्न-भिन्न मार्गानुगामी हैं परंतु वे सब ही सम्यग्दर्शन आदि रूप मार्ग पर गमन कर रहे हैं इसलिये एक मार्गानुगामी भी हैं।

निर्वाण संज्ञितं तत्त्वं, संसारातीत लक्षणं।
एक मेवाव बोद्धव्यं, शब्दभेदेऽपि तत्त्वतः।।८९।।
निर्वाणादिक भेद शब्द के, होकर भी वास्तव निर्वाण।
नामक तत्त्व एक है उसका, निजस्वरूप भव रहित प्रधान।।८९।।

अर्थ—मोक्ष निर्वाण आदि शब्दों के भेद होने पर भी वास्तविक रूप से निर्वाण नाम का तत्त्व एक ही है और उसका स्वरूप संसार से रहितपना है।

भावार्थ—मोक्ष के सिद्धि निर्वाण अव्याबाध स्थान, निर्वृति आदि अनेक नाम हैं तथा एक मनुष्य यदि उसके स्वरूप का सिद्धि के नाम से वर्णन करता है तो दूसरा मनुष्य उसके स्वरूप का मोक्ष के नाम से और तीसरा निर्वाण के नाम से वर्णन करता है परंतु यदि निश्चयनय से देखा जाय तो ये सब एक ही पदार्थ के पर्याय हैं क्योंकि निर्वाण निर्वृति आदि अनेक नामों के कहने पर भी उसके मूलतत्त्व-मोक्ष के स्वरूप में कुछ भेद नहीं है इसलिये निश्चयनय से तो उसका नाम एक ही है और व्यवहार से उसके बहुत से नाम हैं तथा उस मोक्ष का शुद्ध स्वरूप संसार से रहितपना है अर्थात् जिससमय यह जीवात्मा संसार के दु:खों से रहित होकर निराकुलतामय अचिंत्य सुख का अनुभव करता है उस समय मोक्षस्वरूप कहा जाता है।।८९।।

विमुक्तो निर्वृतः सिद्धः, परं ब्रह्माऽभवः शिवः।
अन्वर्थः शब्दभेदेऽपि, भेदस्तस्य न विद्यते।।९०।।
सिद्ध विमुक्त निवृत्त अभव शिव, परं ब्रह्म एकार्थक नाम।
शब्द भेद होकर परमातम, इन शब्दों युत हैं अभिराम।।९०।।

अर्थ—विमुक्त, निर्वृत, सिद्ध, परंब्रह्मा, अभव और शिव ये सब शब्द अन्वर्थ-समान अर्थ के वाचक हैं इसलिये शब्दों के भेद होने पर भी परमात्मा में भेद नहीं-ये सब शब्द एक ही परमात्मा के वाचक हैं।

भावार्थ—जिसने समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर ली हो वह विमुक्त है, निर्वृति को प्राप्त करने वाला निर्वृत, सिद्धि को प्राप्त करने वाला सिद्ध, विशुद्ध आत्मा का धारक परंब्रह्मा, जन्म मरण से रहित अभव और कल्याणस्वरूप शिव कहा जाता है। यद्यपि यहाँ पर

परमात्मा के नामों में भेद हैं परंतु मूल एक ही है अर्थात् जो परमात्मा विमुक्त है वही निर्वृत्त सिद्ध परंब्रह्मा अभव और शिव है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे नामों के भेद से परमात्मा में भेद न मानें और समस्त कर्मों से रहित एवं ज्ञान आदि गुणों के भंडार उस परमात्मा का विमुक्त आदि किसी भी नाम से आराधन करें।।९०।।

तल्लक्षणाविसंवादा, निराबाध-मकल्मषं।
कार्यकारणतातीतं, जन्ममृत्यु-वियोगतः।।९१।।
मोक्ष का लक्षण ज्ञात है जिनको, निराबाध सुख का भंडार।
कल्मष रहित निराकुलतामय, कारण कार्य रहित शुभकार।।९१।।

अर्थ–जो महानुभाव मोक्ष के लक्षण में विसंवाद रहित हैं–मोक्ष का जो लक्षण है वह जिन्हें यथार्थ मालूम है वे उसे निराबाध-बाधा रहित निराकुलतामय सुख का भंडार, अकल्मष-ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों से रहित और जन्म मरण से रहित होने के कारण कार्यकारणपने से रहित कहते हैं।

भावार्थ–मोक्षस्थान समस्त प्रकार की बाधाओं से रहित निराकुलतामय है, समस्त कर्म और उनके भेद प्रभेदों से रहित है, और जन्म मरण रहित होने के कारण कार्यरूप और कारणरूप भी नहीं है ऐसा, जिन पुरुषों को निर्दोष मोक्ष का लक्षण मालूम है, वे उसे कहते हैं।।९१।।

ज्ञाते निर्वाण तत्त्वेस्मिन्-नसंमोहेन तत्त्वतः।
मुमुक्षूणां न तद्युक्तौ, विवाद उपपद्यते।।९२।।
जो मुमुक्षु निर्भ्रांत वास्तविक, मोक्ष का लक्षण जिनको ज्ञात।
मोक्ष की युक्ती में वे ज्ञानी, किसी प्रकार न करें विवाद।।९२।।
सर्वज्ञेन यतो दृष्टो, मार्गो मुक्ति प्रवेशकः।
प्रांजलोयं ततो भेदः, कदाचिन्-नात्र विद्यते।।९३।।
मोक्षमार्ग सर्वज्ञ ने देखा, इसीलिए माना निर्दोष।
उसमें भेद नहीं हो सकता, कहा गया है गुण का कोष।।९३।।

अर्थ–जो पुरुष मुमुक्षु हैं–मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं वे जिस समय निर्भ्रांत हो वास्तविक रूप से मोक्ष का पूर्वोक्त स्वरूप जान लेते हैं उस समय उन्हें मोक्ष की युक्तियों के विषय

में किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न नहीं होता क्योंकि यह मोक्ष का मार्ग भगवान सर्वज्ञ ने देखा है इसलिये निर्दोष है और कभी उसमें भेद नहीं हो सकता।

भावार्थ—जब तक मोक्ष का वास्तविक स्वरूप नहीं जाना जाता तब तक उसके ज्ञान में अनेक प्रकार के वाद विवाद उपस्थित हो जाते हैं क़ितु जिस समय निर्भ्रांत हो मोक्ष के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाता है उस समय उसके विषय में जरा भी कोई विवाद नहीं उपस्थित होता क्योंकि भगवान सर्वज्ञ के बतलाये हुए मार्ग में रंचमात्र भी फर्क नहीं आ सकता।।९२-९३।।

विचित्रा देशना तत्र, भव्य चित्तानुरोधतः।
कुर्वति सूरयो वैद्या, यथा व्याध्यनुरोधतः।।९४।।
व्याधी के अनुकूल वैद्य ज्यों, करते औषधि उसी प्रकार।
सूरि ग्रंथ निर्मापित करते, भव्यों के मन के अनुसार।।९४।।

अर्थ—तथा जिस प्रकार वैद्य व्याधि के अनुकूल औषध करते हैं उसी प्रकार आचार्य भी भव्यों के चित्त के अनुसार नाना प्रकार के ग्रंथों का निर्माणकर उपदेश करते हैं।

भावार्थ—जिस समय वैद्य रोगी के रोग को देखता है उस समय उसी रोग के अनुकूल औषधि प्रदान कर उसे आराम कर देता है उसी प्रकार आचार्य भी भव्यों की जैसी रुचि देखते हैं उसी के अनुसार ग्रंथों का निर्माण कर भव्यों के चित्त को निर्दोष बना देते हैं—भव्यों को उपदेश देने में वे किसी प्रकार की वंचना नहीं करते इसलिये विद्वानों को इस बात का गाढ़ विश्वास रखना चाहिये कि आचार्यों द्वारा बनाये गये ग्रंथों में जो कुछ मोक्ष आदि के स्वरूप आदि वर्णन किये गये हैं वे सब यथार्थ हैं भिन्न-भिन्न नयों की अपेक्षा से हैं उनमें रत्ती भर भी फर्क नहीं क्योंकि आचार्यगण भगवान सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग के अनुगामी होते हैं और राग द्वेष की कालिमा से रहित होने के कारण उनका वंचक उपदेश नहीं होता।।९४।।

कारणं निर्वृतेरेतच्-चारित्रं व्यवहारतः।
विविक्त चेतन ध्यानं, जायते परमार्थतः।।९५।।
व्यवहार से मुक्ती का कारण, कहा गया व्यवहार चरित्र।
विविक्त चेतना आज मोक्ष का, निश्चय से जानो हे मित्र।।९५।।

अर्थ—व्यवहार से तो मोक्ष का कारण उपर्युक्त-अर्थात् व्यवहार चारित्र है और निश्चयनय से विविक्त चेतन ध्यान-निश्चयचारित्र मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—तप व्रत आदि का आचरण करना व्यवहारचारित्र है और जिसमें केवल आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान हो उसे निश्चयचारित्र कहते हैं। व्यवहारनय से व्यवहारचारित्र मोक्ष का कारण है और निश्चयनय से निश्चयचारित्र को मोक्ष का कारण कहा है।।९५।।

यो व्यावहारिकः पंथा, स भेद द्वय संगतः।
अनुकूलो भवेदेको, निर्वृतेः संसृतेः परः।।९६।।
मोक्ष के जो अनुकूल प्रथम है, द्वितिय अन्य से कथित प्रधान।
जो संसारानुकूल मार्ग है, ऐसा कहते जिन भगवान।।९६।।
निर्वृतेरनुकूलोऽध्वा, चारित्रं जिनभाषितं।
संसृतेरनुकूलो-ध्वा चारित्रं परिभाषितं।।९७।।
चारितधारी साधू होता, है कषाय इंद्रिय जयवान।
स्वाध्याय में है चित्त लगे हो, जिससे ध्यान और निर्माण।।९७।।

अर्थ—जो व्यवहार मार्ग बताया है उसके दो भेद हैं और उनमें एक भेद (एक मार्ग) मोक्ष के अनूकूल है और दूसरा संसार के अनुकूल है। जिस चारित्र का भगवान जिनेन्द्र ने प्रतिपादन किया है वह तो मोक्ष का अनुकूल मार्ग है और जिस चारित्र का प्रतिपादन दूसरों ने किया है वह संसार के अनुकूल मार्ग है।

भावार्थ—तप व्रत आदि का आचरण करना जो व्यवहार चारित्र बतलाया है वह दो प्रकार का है—एक तो जिनभाषित और दूसरा परिभाषित। उसमें जिनभाषित चारित्र के आचरण से ही मोक्ष मिलती है क्योंकि वह सर्वज्ञ के द्वारा देखा जाने के कारण सत्य है और जो परभाषित चारित्र है उससे संसार में ही घूमना पड़ता है क्योंकि वह रागी द्वेषियों द्वारा प्रतिपादित होने से मिथ्या है। इसलिये जिनभाषित चारित्र का आचरण ही श्रेयस्कर है।।९६-९७।।

चारित्रं चरतः साधो, कषायेंद्रिय निर्जयः।
स्वाध्यायोऽतस्ततो ध्यानं, ततो निर्वाण संगमः।।९८।।
सच्चारित शुभ ध्यान विरोधी, जिसके रहते आतम ध्यान।
न हो जिससे चारित को मुनि, सुविधि सहित हो आचारवान् ।।९८।।

अर्थ—जो साधु, भगवान जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित चारित्र का आचरण करता है उसके

कषाय और इंद्रियों का विजय होता है। कषाय और इंद्रियों के विजय से स्वाध्याय में चित्त लगता है। स्वाध्याय में चित्त लगने से ध्यान में प्रवृत्ति होती है और ध्यान के करने से निर्वाण का समागम मिलता है-मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—कषाय और इंद्रियों का वश न करना दु:ख की जड़ है जब तक कषाय और इंद्रियों का दमन नहीं किया जाता तबतक संसार में घूमना पड़ता है और नाना प्रकार के क्लेश भोगने पड़ते हैं किंतु जो साधुगण वीतराग भगवान द्वारा प्रतिपादित निर्दोष चारित्र का आराधन करते हैं वे क्रोध आदि कषाय और इंद्रियों को जीत लेते हैं। कषाय और इंद्रियों के वश हो जाने पर उनका चित्त स्वाध्याय की ओर ऋजु होता है। स्वाध्याय से वास्तविक आत्मस्वरूप का ज्ञान और उसके हो जाने से ध्यान में प्रवृत्ति होती है तथा ध्यान में प्रवृत्ति होने से समस्त कर्मों का नाश हो जाता है—उन्हें मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है इसलिये जो मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवश्य निर्दोष चारित्र का आराधन करें।।९८।।

(वंशस्थ छन्द)

इदं चरित्रं विधिना विधीयते, ततः शुभध्यानविरोधिरोधकं।
विविक्त मात्मान मनंत मीशते, न साधवो ध्यातुमृतेऽमुना यतः।।९९।।

सच्चरित्र शुभ ध्यान विरोधी, कार्य रोकने वाले जीव।
इसके बिना विराधनकारी, साधु कर्म से रहित अतीव।।
शुद्धातम का ध्यान नहीं जो, कर सकते हैं अतः विशेष।
सम्यक्चारित्र का अवश्य ही, विधि से आचार करें अशेष।।९९।।

अर्थ—सम्यक्चारित्र शुभध्यान के विरोधी जो कार्य है उनका रोकने वाला है और इसके बिना आराधन किये साधुगण समस्तकर्मों से रहित शुद्ध आत्मा का ध्यान नहीं कर सकते इसलिये सम्यक्चारित्र का अवश्य विधिपूर्वक आचरण किया जाता है।

भावार्थ—जब तक शुद्धध्यान की प्रगटता आत्मा के अंदर नहीं होती तबतक कर्मों से रहित विशुद्ध आत्मा का ध्यान नहीं होता, शुद्धध्यान की प्रगटता उसी समय हो सकती है जब कि उसके विरोधी कारणों का निरोध हो जाता है और उसके विरोधी कारणों का निरोध सम्यक्चारित्र से होता है इसलिये विशुद्ध आत्मा के ध्यान के प्रेमियों को चाहिये कि वे अवश्य सम्यक्चारित्र का आराधन करें।।९९।।

(स्त्रग्धरा छन्द)

रागद्वेष प्रपंच भ्रम मद मदन क्रोध लोभ व्यपेतो।
यश्चारित्रं पवित्रं चरति चतुधीर्लोक यात्रानपेक्षः।।
स ध्यात्वात्मस्वभावं विगलितकलिलं नित्यमध्यात्मगम्यं।
त्यक्त्वा कर्मारिचक्रं परमसुखमयं सिद्धिसद्म प्रयाति।।१००।।

पाप रहित अविनाशी एवं, आध्यात्म ध्यान युत आतमध्यान।
का ज्ञानी कर्मों का नाशक, मोक्ष महल पावे निर्वाण।।१००।।

इति श्री अमितगति आचार्य विरचित योगसार ग्रन्थे निर्ग्रन्थ संयम अष्टम अधिकारः।

अर्थ–राग द्वेष प्रपंच (छल छिद्र कपट) भ्रम (मिथ्याज्ञान अहंकार) काम क्रोध और लोभ आदि से रहित, संसार के परिभ्रमण की इच्छा से विमुख जो बुद्धिमान पुरुष पवित्र चारित्र का आचरण करता है वह समस्त प्रकार के पापों से रहित, अविनाशी और अध्यात्मज्ञान के विषयभूत आत्मा के स्वभाव का ध्यान कर एवं कर्मरूपी बैरियों का सर्वथा नाशकर परम सुखस्वरूप मोक्षमहल में प्रवेश करता है।

भावार्थ–जो मनुष्य राग द्वेष छल छिद्र कपट मिथ्याज्ञान अहंकार काम क्रोध लोभ आदि से रहित और संसार के परिभ्रमण से विमुख होकर सम्यक्चारित्र का आराधन करता है वही समस्त प्रकार के पापों से रहित, अविनाशी और अध्यात्मज्ञान के विषयभूत आत्मा के स्वभाव का ध्यान कर सकता है उसी के कर्म नष्ट हो सकते हैं और वही निराकुलतामय सुख के स्थान मोक्ष महल में निवास करता है इसलिये जिस महानुभाव को विशुद्ध अविनाशी आत्मा के स्वभाव के ध्यान की इच्छा है–जो समस्त कर्मों का नाश कर मोक्षमहल में विराजना चाहता है उसे चाहिये कि वह राग द्वेष आदि से मुख मोड़े और भले प्रकार सम्यक् चारित्र का आचरण करे।

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित श्री विशदसागराचार्य अनुवादित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथ में चारित्राधिकार समाप्त हुआ।।८।।

त्याग के बिना राग, मिट नहीं सकता। जल के बिना मल, छूट नहीं सकता।।
तप संयम के बिना, भगवान बनने वालो। साधु हुये बिना, मोक्ष मिल नहीं सकता।।

''प्रशस्ति''

आदिसागराचार्य की अनुपम, परम्परागत संत प्रधान।
विशद सिन्धु अनुवाद किए हैं, योगसार का महति महान।।
वर्षायोग सन् बीस सौ बाईस, किए आप सम्मेद शिखर।
तीर्थ वन्दना किए साथ में, कार्य किए आचार्य प्रवर।।

सप्त तत्त्व उपसंहार

दृष्टि ज्ञान स्वभावस्तु, सदानंदोस्ति निर्वृतः।
न चैतन्य स्वभावस्य, नाशो नाश प्रसंगतः।।१।।
दर्श ज्ञान स्वभाव के धारी, सदानंद निवृत्तीवान।
न चैतन्य स्वभाव नाश हो, आए प्रसंग मुक्तात्मक वान।।१।।

अर्थ—मुक्तात्मा (सिद्ध) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानस्वरूप-सम्यक्चारित्रस्वरूप स्वभाव के धारक हैं सदानंदमय हैं-सर्वदा निराकुलतामय आनंद के भोगने वाले हैं उनके चैतन्य स्वभाव का नाश नहीं होता क्योंकि यदि सम्यग्दर्शन आदि चैतन्य स्वभावों का नाश स्वीकार कर लिया जायेगा तो मुक्तात्मा का ही नाश हो जायेगा।

भावार्थ—पहले कह दिया गया है कि बहुत से सिद्धांतकारों का यह सिद्धांत है कि जिस समय जीवात्मा की मुक्ती (मोक्ष) हो जाती है उस समय उसके ज्ञान आदि चैतन्य गुणों का नाश हो जाता है परंतु यह बात युक्त नहीं क्योंकि वास्तविक दृष्टि से गुण गुणी में अभेद है जो गुणी है वह गुण हैं और जो गुण हैं वह गुणी है यदि मोक्ष अवस्था में चैतन्य गुणों का नाश माना जायेगा तो गुणी आत्मा ही न स्थिर रह सकेगा। यदि यह कहा जाय कि गुण गुणी का अभेद है ही नहीं, तो यह भी बात मिथ्या है क्योंकि गहरी दृष्टि से विचारने पर स्पष्ट रूप से ज्ञानी को गुण गुणी का अभेद मालूम पड़ जाता है इसलिये मोक्ष अवस्था में चैतन्यस्वभावों का नाश हो जाता है यह बात सर्वथा मिथ्या है किंतु मुक्तात्मा सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानस्वरूप और अनुपम आनंद का भोगने वाला सम्यक्चारित्रस्वरूप है।।१।।

सर्वथा ज्ञायते तस्य, न चैतन्यं निरर्थकं।
स्वभावत्त्वेऽस्वभावत्त्वे, विचारानुपपत्तितः।।२।।
चेतन का गुण नहीं निरर्थक, वैभाविक वह कर्म स्वभाव।
है या विभाव विचार युक्तियुत, नहीं ठहरता है यह भाव।।२।।

अर्थ—चैतन्य आत्मा का निरर्थक-कर्मजनित वैभाविक गुण नहीं है क्योंकि वह कर्म का स्वभाव है वा विभाव है यह विचार ही युक्तियुक्त नहीं ठहरता।

भावार्थ—पहले श्लोक में मुक्त जीव के ज्ञानादि चेतनगुण नहीं नष्ट होते इस विषय में यह उत्तर दे आये हैं कि वे ज्ञानादि जीव के स्वभाव हैं और स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता इसलिये वे सर्वदा बने रहते हैं। यदि वहां कोई यह शंका करे कि-अच्छा! हम ज्ञानादि को जीव का स्वभाव न मानकर विभाव मानेंगे तब तो उनका नाश होना चाहिये। तो उसका ग्रंथकार ने इस श्लोक से

यह समाधान दिया है कि-ज्ञानादि को जीव का स्वभाव न मानकर यदि विभाव मानोगे तो यह बतलाओ कि-यह कर्म का स्वभाव है या विभाव? यदि स्वभाव है तब तो कर्म चेतन ठहरते हैं और यह बात ठीक नहीं। यदि विभाव है तो फिर स्वभाव किसका? इसलिये जीव के कर्मजनित विभाव पर्याय ज्ञानादि गुण हैं यह विचार युक्त नहीं ठहरता।।२।।

निरर्थक स्वभावत्वे, ज्ञान-भावानुषंगतः।
न ज्ञानं प्रकृतेर्धर्मश्-चेतनत्वानुषंगतः।।३।।
चेतन गुण यदि रहे निरर्थक, माने तो कर्मों में ज्ञान।
माना जाएगा क्योंकि जैसा, कारण वैसा कार्य हो मान।।३।।
प्रकृतेश्चेतनत्वं स्या-त्मत्वं दुर्निवारणं।
ज्ञानात्मके न चैतन्ये, नैरर्थक्यं न युज्यते।।४।।
ज्ञान कर्म का धर्म नहीं है, यदि माने हो चेतनवान।
कर्म को चेतन मानेंगे तो, कर्मातम हों एक समान।।४।।

अर्थ–यदि चैतन्य को आत्मा निरर्थक स्वभाव-कर्मजनित विभाव पर्याय माना जायेगा तो कर्मों में ज्ञानत्व भी मानना पड़ेगा क्योंकि जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य भी होता है परंतु ज्ञान कर्म का धर्म नहीं है। यदि ज्ञान को कर्म का धर्म भी मान लोगे तो उसे चेतन भी मानना पड़ेगा क्योंकि ज्ञान, चैतन्यस्वरूप है। और यदि कर्म को चेतन भी मान लोगे तो फिर उस-कर्म में और आत्मा में कोई भेद ही न रह जायेगा-कर्म और आत्मा एक ही पदार्थ हो जायेंगे इसलिये ज्ञानात्मक आत्मा का चैतन्य निरर्थक स्वभाव-विभाव पर्याय कभी नहीं हो सकता।।३-४।।

नाभावो मुक्त्यवस्थाया-मात्मनो घटते ततः।
विद्यमानस्य भावस्य, नाभावो युज्यते यतः।।५।।
विद्यमान का नाश कभी न, अतः मोक्ष में आतमभाव।
होंय नहीं ज्यों धवल चांद में, कांती का होवे सद्भाव।।५।।
यथा चंद्रे स्थिता कांतिर्-निर्मले निर्मला सदा।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य, मेघादिजनितावृतिः।।६।।
चाँद की विकृति प्रकृति में हो, मेघ हेतु है उसी प्रकार।
ज्ञान आत्मा में रहता है, कर्म जनित हों सर्व विकार।।६।।
तथात्मनि स्थिता ज्ञप्तिर्-विशदे विशदा सदा।
प्रकृतिर्विकृतिस्तस्य, कर्माष्टक कृतावृतिः।।७।।

मेघ विनशते हो चन्द्र कांति शुभ, प्रगटित होय प्रकाश स्वरूप।
उसी प्रकार कर्म का बंधन, छूट जाए हे जीव! अनूप।।७।।
जीमूतापगमे चंद्रे, यथा स्फुटति चंद्रिका।
दुरितापगमे शुद्धा, तथैव ज्ञप्ति-रात्मनि।।८।।
उसी समय होता है अनुपम, दैदीप्यमान विकाशित ज्ञान।
जिसको पाके जग के प्राणी, करें निजातम का कल्याण।।८।।

अर्थ—विद्यमान पदार्थ का कभी भी नाश नहीं होता इसलिये मोक्ष अवस्था में आत्मा का अभाव (नाश) नहीं कहा जा सकता। जिसप्रकार निर्मल चंद्रमा में निर्मल कांति विद्यमान रहती है और उसकी प्रकृति एवं विकृति में कारण मेघ हैं उसी प्रकार निर्मल आत्मा में निर्मल ज्ञान की विद्यमानता रहती है और उसके प्रकार वा विकार कर्मजनित है-कर्मों से उत्पन्न हुये हैं तथा जिसप्रकार मेघ के नाश हो जाने पर चंद्रमा की कांति स्फुटरूप से प्रकाशमान हो जाती है।

भावार्थ—बौद्धों का सिद्धांत है कि मोक्ष अवस्था में आत्मा का अभाव हो जाता है क्योंकि उन्होंने समस्त पदार्थों को क्षणिक माना है उनके मत में पदार्थ हर एक क्षण में नष्ट होता रहता है और जो पदार्थ नष्ट होता है वह अपना संस्कार दूसरे में डालता जाता है इसलिये उस पदार्थ की संतान बनी रहती है एवं इसी युक्ति से उन्होंने दीपक बुझने के समान आत्मा के बुझने को मोक्ष माना है अर्थात् उनका सिद्धांत है कि जिस प्रकार दीपक की लौ प्रतिसमय निकलती रहती हैं किंतु जिस समय वे समाप्त हो जाती हैं उस समय दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार आत्मसंतान-ज्ञानसंतान भी प्रतिसमय पलटती रहती है और जिस समय वह नष्ट हो जाती है उस समय आत्मा की मोक्ष हो जाती है-मोक्ष अवस्था में आत्मा कोई पदार्थ नहीं रहता। परंतु यह सिद्धांत ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम तो कोई संतान पदार्थ है यही बात अप्रमाणिक है क्योंकि संतान की सिद्धि में कोई निर्दोष प्रमाण नहीं। दूसरे-यह नियम है कि जो पदार्थ विद्यमान रहता है उसका कभी नाश नहीं होता। आत्मा पदार्थ विद्यमान है इस कारण उसका भी कभी नाश नहीं हो सकता इसलिये मोक्ष अवस्था में आत्मा की नास्ति नहीं हो सकती। तथा नैयायिक आदि मोक्ष में ज्ञान की मौजदूगी नहीं मानते परंतु यह सिद्धांत भी ठीक नहीं क्योंकि जिस प्रकार निर्मल चंद्रमा में उसकी निर्मल कांति विद्यमान रहती है और मेघ के कारण उसका भेद वा विकार हो जाता है अर्थात् वह कहीं मटमैली कहीं स्वच्छ दिख पड़ती है उसी प्रकार विशुद्ध आत्मा में विशुद्धज्ञान विद्यमान रहता है और ज्ञानावरण आदि कर्म के संबंध के कारण उस ज्ञान के मतिज्ञान आदि भेद वा विकार उत्पन्न हो जाते हैं एवं जिस प्रकार मेघ पटल के नष्ट हो जाने पर चंद्रमा की कांति स्फुटरूप से छटकने लगती है उसी प्रकार जिस समय कर्मावरण का नाश हो जाता है उस समय शुद्ध ज्ञान की छटा

आत्मा के अंदर पूर्ण छटकने लगती है इसलिये इस बात को अच्छी तरह से जान लेना चाहिये कि विद्यमान पदार्थ का कभी नाश नहीं होता–आत्मा विद्यमान पदार्थ है इसलिये उसका कभी नाश नहीं हो सकता तथा ज्ञान भी विद्यमान पदार्थ है इसलिये मोक्ष अवस्था में उसका भी नाश नहीं हो सकता किंतु विरोधी कर्म के नाश हो जाने पर मोक्ष अवस्था में ज्ञान का असली स्वच्छ स्वरूप प्रकट हो जाता है।।६-७।।

धुनाति क्षणतो योगी, कर्मावरण-मात्मनि।
मेघस्तोम-मिवादित्ये, पवमानो महाबलः।।९।।
तीव्र गति से वायु मेघ को, कर देता है पूर्ण विनाश।
योगी शुद्ध ध्यान के द्वारा, कर्मावरण का करता नाश।।९।।

अर्थ–जिस प्रकार तीव्रगति से चलता हुआ पवन सूर्य पर से मेघमंडल को हटा देता है उसी प्रकार योगी भी अपने शुद्धध्यान द्वारा क्षणभर में आत्मा से कर्मावरणों को हटा देता है।

भावार्थ–सूर्य अत्यंत देदीप्यमान पदार्थ है किन्तु जिस समय वह मेघमंडल से आच्छन्न हो जाता है उस समय उसका प्रकाश ढ़क जाता है उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान आदि देदीप्यमान गुणों का धारक है किन्तु कर्मों से आच्छन्न होने के कारण इसके असली ज्ञान आदि गुण व्यक्त नहीं होते परन्तु तीव्र गति से चलने वाले पवन से मेघ पटल के नष्ट हो जाने पर जिस प्रकार सूर्य अपनी अखण्ड दीप्ति से चमचमा निकलता है उसी प्रकार जिस समय योगीगण अपने तीव्र योग-ध्यान से कर्मावरणों को नष्ट कर देते हैं उस समय उनकी आत्मा के ज्ञानादि गुण व्यक्त हो जाते हैं और उनसे वह जगमगा निकलता है।।९।।

विविक्तात्म परिज्ञानं, योगात्-संजायते यतः।
स योगो योगिभिर्-गीतो, योगनिर्धूत पातकैः।।१०।।
कर्मावरण विविक्त आत्म का, प्रशंसनीय है ज्ञान विशेष।
योग से सब पापों के नाशक, रहा योगियों का मत श्रेष्ठ।।१०।।

अर्थ–जिस योग के द्वारा कर्मावरणों से विविक्त आत्मा का ज्ञान हो वही योग प्रशंसनीय है ऐसा, योग के द्वारा समस्त पातकों का नाश करने वाले योगियों का मत है।

भावार्थ–योग का सामान्य अर्थ ध्यान है और वह आर्त रौद्र आदि भेद से चार प्रकार का है परंतु यहां पर वही उत्तम ध्यान समझा गया है जिसके द्वारा समस्त कर्मावरणों से रहित शुद्ध आत्मा का ज्ञान हो जाय तथा वे ध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं इसलिये योगियों ने इन्हीं ध्यानों को उत्तम और उपादेय ध्यान माना है आर्त रौद्र ध्यान को उत्तम नहीं बतलाया।।१०।।

निरस्त-मन्मथातंकं, योगजं सुख-मुत्तमं।
शमात्मकं स्थिरं स्वस्थं, जन्म-मृत्यु-जरापहं।।११।।
उत्तम ध्यान से सुख हो उत्तम, कामदेव यम का नाशी।
शांति स्वरूप स्थिर है आत्मिक, जन्म जरा का भी नाशी।।११।।

अर्थ—जो सुख उत्तम ध्यान से उत्पन्न है वही सुख उत्तम है क्योंकि वह कामदेवरूपी यमराज का नाश करने वाला है, शांतिस्वरूप है, स्थिर है, आत्मिक है एवं जन्म और बुढ़ापा का नाश करने वाला है।

भावार्थ—जिस सुख में कामदेव का मालिकपना न हो, जो उत्तम, शांति स्वरूप, स्थिर, आत्मिक और जन्म मरण एवं बुढ़ापा से रहित हो वही वास्तविक सुख है किंतु इस सुख से भिन्न सुख नहीं सुखाभास है तथा ऐसा सुख उत्तम ध्यान से ही प्राप्त होता है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे ऐसे अनुपम सुख के लिये अवश्य उत्तम ध्यान का आराधन करें।।११।।

सर्वं परवशं दुःखं, सर्व-मात्मवशं सुखं।
वदंतीति समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः।।१२।।
पराधीन होता है वह दुख, हो स्वाधीन कहा सुख जान।
इस प्रकार संक्षेप से सुख दुःख, का लक्षण कहते भगवान्।।१२।।

अर्थ—जो पराधीन हो वह दुःख है और जो स्वाधीन हो वह सुख है इस प्रकार यह संक्षेप से सुख दुःख का लक्षण है।।१२।।

ततः पुण्यभवा भोगा, दुःखं परवशत्वतः।
सुखं योगभवं ज्ञानं, स्वरूपं स्ववशं ततः।।१३।।
दुख से जो उत्पन्न भोग हैं, पराधीन वे हैं दुख रूप।
योग से जो उत्पन्न ज्ञान वह, वह स्वाधीन आत्म स्वरूप।।१३।।

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जो पुण्य से उत्पन्न भोग हैं वे पराधीन होने से दुख हैं और जो योग से उत्पन्न ज्ञान है वह आत्मा का स्वरूप और स्वाधीन होने से सुख है।

भावार्थ—बहुत से लोग पुण्य से उत्पन्न विषय भोगों को ही सुख मानते हैं परंतु वह उनकी बड़ी भारी भूल है क्योंकि वे पराधीन-इंद्रिय आदि के अधीन होने के कारण दुःखस्वरूप हैं सुख तो योग से उत्पन्न हुआ ज्ञान है क्योंकि वह आत्मिक और स्वाधीन है।।१३।।

ध्यानं विनिर्मलज्ञानं, पुंसां संपद्यते स्थिरं।
हेमं क्षीणमलं किं न, कल्याणत्वं प्रपद्यते।।१४।।

कीट कालिमा के घुलते ज्यों, शुद्ध स्वर्ण हो उसी प्रकार।
राग द्वेष आदिक विकार के, नशते ध्यान हो अपरंपार।।१४।।

अर्थ–जिसप्रकार हेम (स्वर्ण) कीट कालिमा आदि मैल के दूर हो जाने पर शुद्ध सुवर्ण हो जाता है उसी प्रकार मनुष्यों का ध्यान भी निर्मल और स्थिर ज्ञान रूप हो जाता है।

भावार्थ–यहाँ पर अशुद्ध सुवर्ण को हेम माना है जो जिसप्रकार अशुद्ध सुवर्ण कीट कालिमा आदि मैल से रहित हो जाने पर शुद्ध सुवर्ण हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य का ध्यान जिस समय शुद्ध चैतन्य अवस्था को धारण कर लेता है उस समय विशुद्ध ज्ञान हो जाता है क्योंकि ध्यान की दो पर्यायें हैं और दोनों चैतन्यस्वरूप हैं।।१४।।

गंधर्व नगराकारं, विनश्वर-मवास्तवं।
स्थावरं वास्तवं भोगं, बुध्यते मुग्धबुद्धयः।।१५।।
मुग्ध बुद्धि जो (फँसे हुए हैं) ममताधारी, वे गंधर्व के नगर समान।
रंग बिरंगे विनाशीक जो, भोग स्थिर सत् माने जान।।१५।।

अर्थ–जो पुरुष मुग्धबुद्धि हैं स्त्री पुत्र आदि की ममता में फँसे हुए हैं वे गंधर्वनगर के समान रंग बिरंगे विनाशीक और अवस्तुस्वरूप भोग को स्थिर और वास्तव मानते हैं।

भावार्थ–जिस प्रकार इंद्रजालियों द्वारा दिखाया गया गंधर्वनगर रंग बिरंगा, विनाशीक और अवस्तुस्वरूप होता है परंतु उसे मूर्ख लोग सच्चा मानते हैं उसी प्रकार भोग भी चित्र विचित्र विनाशीक और अवस्तुस्वरूप हैं परंतु मोह से मूढ़ पुरुष उन्हें स्थिर और वास्तविक मानते हैं।।१५।।

चित्तभ्रमकरस्तीव्र, रागद्वेषादिवेदनः।
संसारोयं महाव्याधिर्-नानाजन्मादिविक्रियः।।१६।।
चित्तभ्रांतकारी जग है यह, राग-द्वेष आदि वेदक।
युक्त व्याधियों से नाना जो, जन्मादि विक्रिया धारक।।१६।।
अनादिरात्मनोऽमुख्यो भूरिकर्मनिदानकः।
यथानुभव सिद्धात्मा सर्वप्राण भृतामयं।।१७।।
काल अनादी है अमुख्य, जो नाना कर्मों में कारण।
अनुभव सिद्ध सभी जीवों की, पर्यायों करते धारण।।१७।।

अर्थ–यह संसार चित्त को भ्रांत करने वाला है, तीव्र रागद्वेष आदि का भोग कराने वाला है, अनेक प्रकार की व्याधियों से युक्त है, नाना प्रकार की जन्म मरण आदि विक्रियाओं का धारक

है, अनादि है, अमुख्य है, नाना प्रकार के कर्मों में कारण है और समस्त जीवों की अनुभव सिद्ध एकेंद्रिय दो इंद्रिय आदि पर्यायस्वरूप है।

भावार्थ—यह संसार सर्वथा दु:ख का ही घर है क्योंकि इसमें रहने वाले मनुष्यों का चित्त सदा भ्रांत रहता है, तीव्र राग द्वेष आदि की वेदना भोगनी पड़ती अनेक प्रकार की व्याधि और जन्म मरण आदि दु:खों का सामना करना पड़ता है। तथा यह अनादि है, अप्रधान है-जीव का मुख्यस्वरूप नहीं है, नाना प्रकार के कर्मों का प्रदान करने वाला है और इसमें रहने वाले जीव कभी एकेंद्रिय कभी दो इंद्रिय आदि पर्यायों को धारण करते हैं इसलिये जीवों की अनुभव सिद्ध एकेंद्रिय आदि पर्यायों का धारक है।।१६-१७।।

सर्वजन्मविकाराणा-मभावे तस्य तत्त्वतः।
न मुक्तो जायतेऽमुक्तोऽमुख्योऽज्ञानमयस्तथा।।१८।।
जन्मादिक संसार है जब तक, तब तक होता जीव अमुक्त।
जन्मादिक नशते विकार यह, पूर्ण ज्ञानमय होवे मुक्त।।१८।।

अर्थ—जिस समय समस्त जन्मविकारों का और संसार का नाश हो जाता है उस समय जो वास्तविक रूप से मुक्त हो जाता है वह अमुक्त नहीं होता जो मुख्य-उत्तम हो चुका वह अनुत्तम और जो अखण्ड ज्ञानस्वरूप हो चुका वह अज्ञान वा अल्पज्ञान स्वरूप नहीं होता।

भावार्थ—जबतक जीव के जन्म आदि के विकार और संसार का संबंध रहता है तब तक वह मुक्त नहीं कहा जाता किंतु जिस समय जन्म आदि विकारों का संबंध और संसार का नाश हो जाता है उस समय जीव मुक्त उत्कृष्ट और अखण्ड ज्ञानस्वरूप हो जाता है इसलिये उस समय वह मुक्त हो जाने पर अमुक्त-संसारी, उत्कृष्ट हो जाने पर अनुत्कृष्ट और अखण्ड ज्ञानस्वरूप होने पर अल्प ज्ञानस्वरूप नहीं होता सदा वह मुक्त उत्कृष्ट और अखण्ड ज्ञानस्वरूप ही रहता है।।१८।।

यथेहामयमुक्तस्य, नामयः स्वस्थता परं।
तथा पातक मुक्तस्य, न भवः स्वस्थता परं।।१९।।
व्याधी रहित निरोगी हो ज्यों, पापों से जो जीव विमुक्त।
वह संसार में भ्रमण करे न, स्वस्वरूप में रहे संयुक्त।।१९।।

अर्थ—जिस प्रकार व्याधि से रहित पुरुष को व्याधि नहीं रहती वह स्वस्थ नीरोग ही रहता है उसी प्रकार जो पुरुष पापों से मुक्त है उसे संसार में नहीं घूमना पड़ता सदा वह स्व-स्वरूप में ही लीन रहता है।

भावार्थ—जब तक मनुष्य रोगी रहता है तब तक उसके रोग विद्यमान रहता है और जिस समय वह नीरोग हो जाता है उसमय उसके रोग नहीं रहता वह स्वास्थ्यलाभ कर लेता है उसी प्रकार जबतक जीव कर्मों से संयुक्त रहता है तब तक वह संसार में घूमता रहता है और जिस समय उसके कर्मावरण नष्ट हो जाते हैं उस समय उसे संसार में नहीं घूमना पड़ता वह स्व स्वरूप में लीन हो निराकुलतामय मोक्षसुख का अनुभव करता है।।१९।।

शुद्धज्ञाने मनो नित्यं, कार्येऽन्यत्र विचेष्टिते।
यस्य तस्याग्रहाभावान्-न भोगा भवहेतवः।।२०।।
भोगादिक में रत होकर भी, जिनका मन है ज्ञान निलीन।
आशक्ती से विरहित उसके, भोग न भव के हेतु प्रवीण।।२०।।

अर्थ—अन्य भोग भोगना आदि कार्यों के करने पर भी जिसका मन शुद्ध ज्ञान में लीन है उस मनुष्य के आसक्ति के अभाव से भोग संसार के कारण नहीं होते।

भावार्थ—जो मनुष्य शुद्ध ज्ञान में मन न लगाकर बड़ी लालसा से विषय भोगों को भोगता है उसे उन भोगों के भोगने से संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है किंतु जो विषयों का सेवन करता हुआ भी उनमें आसक्त न होकर अपने मन को शुद्ध ज्ञान में लीन रखता है उसे संसार में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता।।२०।।

मायां भो! मन्यतेऽसत्यं, तत्त्वतो यो महामनाः।
अनुद्विग्नो निराशंकस्-तन्मध्ये स न गच्छति।।२१।।
बुद्धिमान मृग तृष्णा को ज्यों, समझे अनृत रूप विशेष।
न संदेह उद्वेग में फँसते, किसी प्रकार से जो अवशेष।।२१।।
मायातोयोपमा भोगा, दृश्यंते येन वस्तुतः।
स भुंजानोपि निस्संगः, प्रयाति परमं पदं।।२२।।
भोगों को मृगतृष्णा सम जो, माने प्राणी मिथ्यारूप।
लिप्त नहीं होते भोगों में, पायें निराकुल निजस्वरूप।।२२।।

अर्थ—जिस प्रकार बुद्धिमान मृगतृष्णा को वास्तविक रूप से असत्य समझता है इसलिये किसी प्रकार का उद्वेग और संदेह न कर उसमें नहीं फंसता उसी प्रकार जो पुरुष भोगों को मृगतृष्णा के समान मिथ्या जानते हैं वे भोगने पर भी उनमें लिप्त नहीं होते इसलिये निराकुलतामय पद को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ–बालू के स्थान पर जो जल के रूप में चमकती हुई बालू दिख पड़ती है उसे मृगतृष्णा कहते हैं प्राय: मूर्ख लोग जब प्यासे घबड़ा जाते हैं उस समय प्यास की बाधा और जल की शंका से मृगतृष्णा की ओर दौड़ते हैं और जल न मिलने पर अत्यंत दु:खित होते हैं किन्तु जो बुद्धिमान होते हैं वे मृगतृष्णा का असली स्वरूप जानकर प्यासे होने पर भी न कुछ चित्त में घबड़ाहट लाते हैं और न उन्हें उसमें जल की शंका होती है इसलिये वे मृगतृष्णा की ओर दौड़ धूप नहीं करते उसीप्रकार जो मनुष्य भोगों को अच्छा समझते हैं वे तो उनमें लिप्त रहने के कारण संसार में घूमते और अनंत दु:ख भोगते हैं किन्तु जिन बुद्धिमान पुरुषों को यह ज्ञान है कि भोग मृगतृष्णा के समान असार हैं कभी उनमें आसक्त होने से सुख नहीं मिल सकता इसलिये किसी कारण से उन्हें भोगते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होते वे थोड़े ही काल में कर्मों के नष्ट हो जाने पर आनंदमय स्थान मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं।।२१-२२।।

भोगांस्तत्त्वधिया पश्यन्-नाभ्येति भवसागरं।
मायांभो जानता सत्यं, गम्यते तेन नाध्वना।।२३।।
मृगतृष्णा का सत्य समझ जो, नहीं दौड़ता है उस ओर।
भोगों का स्वरूप समझ त्यों, जाय न भव सिंधू की ओर।।२३।।

अर्थ–जिस प्रकार मृगतृष्णा का सत्यस्वरूप समझकर मनुष्य उसकी ओर नहीं दौड़ता उसी प्रकार जो पुरुष भोगों का वास्तविक स्वरूप जानता है वह भी संसाररूपी समुद्र की ओर नहीं झुकता सांसारिक कर्मों में रुचि नहीं लेता।

भावार्थ–जो मनुष्य मृगतृष्णा का स्वरूप नहीं समझता वह तो प्यास से व्याकुल हो मृगतृष्णा की ओर दौड़ता है और जो इस बात को जानता है कि मृगतृष्णा जल का स्थान नहीं वह उसकी ओर झांकता तक भी नहीं उसीप्रकार जो मनुष्य भोगों को हितकारी मानता है वह तो उनकी ओर झुकता और संसार में परिभ्रमण करता है किन्तु जिसको भोगों का वास्तविक स्वरूप मालूम पड़ जाता है और यह ज्ञान हो जाता है कि भोग महादु:खदायी हैं वह उनकी ओर जरा भी ऋजु नहीं होता भोगों की आशा में नहीं पड़ता है एवं उनकी ओर ऋजु न होने के कारण उसे संसार में परिभ्रमण भी नहीं करना पड़ता।।२३।। तथा–

स तिष्ठति भयोद्विग्नो, यथा तत्रैव शंकितः।
तथा निर्वृतिमार्गेऽपि, भोगमाया विमोहितः।।२४।।
हो संदिग्ध जो मृगतृष्णा में, भव से जो उद्विग्न सुचित्त।
मोक्षमार्ग में शंकित हो यह, चारितधर न पाए पवित्र।।२४।।

अर्थ—जिसप्रकार मृगतृष्णा के स्वरूप को ही संदिग्ध रीति से जानने वाला पुरुष जब दूर से मृगतृष्णा को देखता है तो यह मृगतृष्णा है वा जलस्थान है? ऐसा शंकित होकर 'यदि वहाँ जल न मिला तो व्यर्थ ही भटकना होगा, इसप्रकार भटकन के भय से उद्विग्न चित्त हो जाता है उसी प्रकार जो पुरुष यह वास्तविक मोक्ष मार्ग है या नहीं? इसप्रकार मोक्षमार्ग में शंकित है वह भी 'यदि कठिन चारित्र आदि का आचरण किया और मोक्ष न प्राप्त हुआ तो व्यर्थ क्लेश भोगना पड़ेगा' इस प्रकार के भय से उद्विग्न होकर भोग माया में मूढ़ हो जाता है।।२४।।

धर्मतोऽपि भवो भोगो, दत्ते दुःख परंपरां।
चंदनादपि संपन्नः, पावकः प्लोषते न किं।।२५।।

चंदन से उत्पन्न अग्नि ज्यों, सदा जलाए उसी प्रकार।
धर्म से जो उत्पन्न भोग दुख, सदा दिलाए बारंबार।।२५।।

अर्थ—जिस प्रकार चंदन से उत्पन्न भी अग्नि अवश्य जलाती है उसी प्रकार धर्म से उत्पन्न भी भोग अवश्य दुःखों को प्रदान करता है।

भावार्थ—यद्यपि चंदन शीतल पदार्थ है क्योंकि यदि शरीर में किसी प्रकार का संताप हो जाय तो उसके लेप से वह तत्काल दूर हो जाता है इसलिये उसके कार्य से भी शांति मिलनी चाहिये परंतु देखते हैं जब चंदन अग्नि में डाल दिया जाता है अर्थात् चंदन जलाकर अग्नि जलाई जाती है तो वह चंदन से जलाई गई भी अग्नि अपना जलाना स्वभाव नहीं छोड़ती वह अवश्य जलाने लगती है उसीप्रकार धर्म यद्यपि दुःखों को दूर करने वाला है और उससे उत्पन्न हुये कार्यों से सुख मिलना चाहिये परंतु धर्म से उत्पन्न हुये भोगों के भोगने से अनंत दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये भोग कैसे भी सुखदायी नहीं हो सकते।।२५।।

विपत्सखी यथा लक्ष्मीर्-नानंदाय विपश्चितां।
न कल्मषसखो भोगस्-तथा भवति शर्मणे।।२६।।

सखी लक्ष्मी आपत्ती की, ज्ञानी को ना सुखी बनाय।
भोग पाप का मित्र जीव को, न कल्याण में साथ निभाय।।२६।।

अर्थ—जिसप्रकार आपत्ति की सखी लक्ष्मी विद्वानों को सुखी नहीं बनाती उसी प्रकार पाप का मित्र भोग भी मनुष्यों को कल्याण का करने वाला नहीं होता।

भावार्थ—जिस प्रकार लक्ष्मी पास में रहने से अल्प सुख और उसके रक्षणादि से उत्पन्न महान् दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये उसकी प्राप्ति से विद्वान आनंद नहीं मनाते उसी प्रकार भोग

अल्प सुखदायी और महान् दु:ख के कारण पाप के उत्पन्न करने वाले होने से महादुखदायी होते हैं इसलिये वे भी कल्याणदायक नहीं होते अतएव ऐसे पाप के कारण भोगों को न भोगना ही श्रेष्ठ है।।२६।।

भोग संसार निर्वेदो, जायते पारमार्थिकः।
सम्यग्ज्ञान प्रदीपेन तन्नैर्-गुण्यावलोकने।।२७।।
सम्यग्ज्ञान रूप दीपक से, निर्गुणता का हो जब ज्ञान।
हो वैराग्य वास्तविक भोगों, एवं हो संसार से जान।।२७।।

अर्थ—जिस समय सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक से भोगों की निर्गुणता मालूम पड़ जाती है अर्थात् भोग जरा भी गुणकारी नहीं यह बात अचलरूप से हृदय पर अंकित हो जाती है उसी समय वास्तविक भोग और संसार से वैराग्य होता है।

भावार्थ—जबतक संसार और भोगों का असली स्वरूप नहीं जाना जाता तबतक उनके भोगने की लालसा बनी रहती है और उनसे कभी वास्तविक वैराग्य नहीं होता किन्तु जिससमय सम्यग्ज्ञान द्वारा उनका असली स्वरूप मालूम पड़ जाता है अर्थात् यह जान लिया जाता है कि भोगों के भोगने से जरा भी किसी गुण की प्राप्ति नहीं होती उस समय वास्तविक वैराग्य हो जाता है इसलिये जो पुरुष यह चाहते हैं कि भोग और संसार से हमें असली वैराग्य हो जाय उन्हें चाहिये कि वे सम्यग्ज्ञान का सहारा लें।।२७।।

निर्वाणे परमा भक्तिः, पश्यतस्-तद्गुणं परं।
चित्रदुःख महाबीजे, नष्टे सति विपर्यये।।२८।।
सब प्रकार के दुख का कारण, नष्ट होय जब मिथ्याज्ञान।
होय विमुखता पूर्ण रूप से, मोक्ष के गुण का हो तब भान।।२८।।
ज्ञानवंतः सदा बाह्य, प्रत्याख्यान विशारदाः।
ततस्तस्य परित्यागं, कुर्वते परमार्थतः।।२९।।
परम भक्ति हो जाए तब वह, ज्ञानी होवे त्याग प्रवीण।
मिथ्याज्ञान त्यागता है वह, स्वयं वास्तविक निज में लीन।।२९।।

अर्थ—जिस समय नाना प्रकार के दु:खों का प्रधान कारण मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है—उससे सर्वथा विमुखता हो जाती है, उस समय मोक्ष के गुणों का ज्ञान हो जाने से मनुष्य की मोक्ष में परम भक्ति हो जाती है इसलिये जो पुरुष ज्ञानी और बाह्य पदार्थों के त्याग में प्रवीण हैं वे

वास्तविक रूप से मिथ्याज्ञान का त्याग कर देते हैं।

भावार्थ—इस संसार में मिथ्याज्ञान नानाप्रकार के दु:खों का कारण है जबतक यह आत्मा में विद्यमान रहता है तबतक इस संसार का नाश नहीं होता और अपना असली स्वरूप मालूम नहीं पड़ता इसलिये जो ज्ञानवान पुरुष अपने से बाह्य पदार्थों का त्याग करने में प्रवीण हैं वे अनंत दु:खदायी और अपने से बाह्यस्वरूप अज्ञान का भी त्याग कर देते हैं।।२८-२९।।

न ज्ञानी लिप्यते पापैर्-भानु मानिव तामसैः।
विषयैर्विध्यते ज्ञानं, न सन्नद्धः शरै-रिव।।३०।।
सूर्य लिप्त ना होय तिमिर से, पाप से हो ना ज्ञानी लिप्त।
कवच युक्त ना बिंधे बाण से, ज्ञान विषय से रहे विलिप्त।।३०।।

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य अंधकार से लिप्त नहीं होता उसीप्रकार ज्ञानी भी पापों से लिप्त नहीं होता तथा जिसप्रकार कवच (बख्तर) पहना हुआ मनुष्य वाणों से वेधा नहीं जाता उसी प्रकार ज्ञान भी विषयों से नष्ट नहीं होता।

भावार्थ—जिसप्रकार तेजस्वी सूर्य को मलिन अंधकार नहीं दबा सकता उसीप्रकार पाप भी ज्ञानी को लिप्त नहीं कर सकता अर्थात् अज्ञान से होने वाला कर्मबंध ज्ञानी के नहीं होता तथा जिस समय मनुष्य संग्राम के अंदर कवच पहन लेता है उस समय तीक्ष्ण भी बाण जिस प्रकार उसके शरीर को वेध नहीं सकते उसीप्रकार जिससमय मनुष्य को दृढ़ आत्मज्ञान हो जाता है उससमय बलवान भी विषयभोग उस ज्ञान को नष्ट नहीं कर सकते।।३०।।

अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं, ज्ञानं मोह तमोऽपहं।
पुरुषार्थकरं ज्ञानं, ज्ञानं निर्वृति साधनं।।३१।।
ज्ञान स्थान अनुष्ठानों का, मोह तिमिर का करे विनाश।
जो पुरुषार्थ कराने वाला, मोक्ष का है जो कारण खास।।३१।।

अर्थ—तथा वह ज्ञान अनुष्ठान का स्थान है, मोहरूपी अंधकार नाश करने वाला है पुरुषार्थ का करने वाला और मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक किये गये पूजन आदि कार्य उत्तम फल के देने वाले होते हैं अज्ञानपूर्वक नहीं, इसलिये ज्ञान, पूजन, भक्ति, स्तुति अज्ञान पूर्वक नहीं, आदि अनुष्ठानों का स्थान है, मोहरूपी अंधकार का नाशक है, चारों पुरुषार्थ की सिद्धि करने वाला है और मोक्ष का कारण है अर्थात् सम्यग्ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।।३१।।

विकारा निर्विकारत्वं, यत्र गच्छंति चिंतिते।
तत्तत्वं तत्त्वतश्चिंत्यं, चिंतांतर निराशिभिः।।३२।।
तत्त्व ज्ञानि चिंताओं विरहित, तत्त्वों का शुभ करे विचार।
तत्त्व के चिंतन से विकार भी, तत्त्व ज्योति है वह अविकार।।३२।।
विविक्त मांतरं, ज्योतिर्-निराबाध मनामयं।
यदेतत्तत्परं तत्त्वं, तस्यापर-मुपद्रवः।।३३।।
निराबाध निर्मल विविक्त जो, रहा निराकुल सुख भंडार।
दुःख अनामय तत्त्व नहीं वह, भ्रमण कराए यह संसार।।३३।।

अर्थ—अन्य चिन्ताओं को न करने वाले विद्वानों को चाहिये कि वे वास्तविक रूप से उसी तत्त्व का विचार करें जिस तत्त्व के चिन्तवन करने से विकार निर्विकारपने को प्राप्त हो जांय और वह तत्त्व अन्तरङ्ग ज्योति है जो कि विविक्त-समस्त कर्म और उनकी प्रकृतियों से रहित निर्मल है, निराबाध-समस्त प्रकार की बाधाओं से मुक्त निराकुलतामय सुख का भंडार है और अनामय-समस्त प्रकार के रोग आदि दुःखों से रहित उत्कृष्ट है एवं उससे अन्य समस्त तत्त्व तत्त्व नहीं, दुःख हैं अर्थात् शुद्ध आत्मज्योति को छोड़कर अन्य तत्त्व के अवलंबन से अनंत दुःखों का सामना करना पड़ता है।

भावार्थ—यद्यपि संसार में बहुत से तत्त्व हैं परंतु उत्तम तत्त्व शुद्ध आत्मा ही है क्योंकि शुद्ध आत्मतत्त्व के आराधन करने से काम क्रोध मान आदि विकार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं इसलिये यह समस्त विकारों का नाश करने वाला है तथा समस्त कर्म और उनकी प्रकृतियों से रहित होने के कारण निर्मल है, निराकुलतामय सुख का भंडार और रोग आदि दुःखों से रहित है इसलिये जो उत्तम पुरुष वास्तविक तत्त्व का स्वरूप चिंतवन करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अन्य समस्त प्रकार की चिन्ताओं से रहित होकर इसी परम तत्त्व का चिंतन करें, अन्य तत्त्व की ओर झांककर भी न देखें क्योंकि अन्य तत्त्व दुःखस्वरूप हैं उनके आराधन से नाना प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है।।३२-३३।।

न कुत्राप्याग्रहस्-तत्त्वे, विधातव्यो मुमुक्षभिः।
निर्वाणं साध्यते यस्मात्-समस्ताग्रह वर्जितैः।।३४।।
मोक्षाभिलाषी हैं जो वे सब, तत्त्वग्रह से रहित विशेष।
सर्वाग्रह से विरहित हैं जो, मोक्ष सिद्ध कर सके अशेष।।३४।।

अर्थ—जो पुरुष मोक्षभिलाषी हैं—निराकुलतमामय स्थान मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें

किसी भी तत्त्व में आग्रह न करना चाहिये क्योंकि जो पुरुष समस्त प्रकार के आग्रहों से रहित हैं वे ही मोक्ष सिद्ध कर सकते हैं अन्य नहीं।

भावार्थ–आग्रह का अर्थ विवाद है वह विवाद चाहे शुभ पदार्थ में हो चाहे अशुभ पदार्थ में हो, मोक्ष की प्राप्ति का सर्वथा प्रतिबंधक है इसलिये जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें किसी पदार्थ में विवाद न करना चाहिये क्योंकि समस्त प्रकार के विवादों से रहित मनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं।।३४।।

कर्त्ताहं निर्वृतेः कृत्ये, ज्ञानं हेतुः सुखं फलं।
नैकोऽपि विद्यते तत्र, विकल्पः कल्पनातिगे।।३५।।
मोक्ष कार्य में कर्त्ताकारण, ज्ञान और सुख फल न तत्व।
क्योंकि तत्त्व विकल्प रहित है, ध्याने से हो आतम सत्व।।३५।।

अर्थ–मैं कर्त्ता हूँ मोक्ष कार्य है, ज्ञान कारण है और सुख, फल है इत्यादि कल्पना मोक्ष तत्त्व में नहीं क्योंकि वह विकल्पातीत है–समस्त प्रकार के विकल्पों से रहित है।

भावार्थ–जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता तब तक मैं मोक्षरूपी कार्य को करता हूँ इसलिये मैं कर्त्ता और मोक्ष कार्य है। उसकी ज्ञान से उत्पत्ति होती है इसलिये ज्ञान कारण और सुख फल-कार्य है इत्यादि कल्पना मौजूद रहती हैं परन्तु जिस समय मोक्ष प्राप्त हो जाता है उस समय कर्ता कार्य आदि की कल्पना नहीं रहती क्योंकि वह विकल्पातीत अवस्था है–भेद कल्पना उसमें रहती ही नहीं।।३५।।

आत्मव्यवस्थिता यांति, नात्मत्वं कर्मवर्गणाः।
व्योम रूपत्वमायांति, व्योमस्थाः किमु पुद्गला।।३६।।
नभ स्थित पुद्गल परमाणू, होंय नहीं आकाश स्वरूप।
कर्म वर्गणाओं में परणति, होय नहीं निज आतम रूप।।३६।।

अर्थ–जिसप्रकार आकाश में स्थित पुद्गल परमाणु आकाश स्वरूप नहीं होते उसीप्रकार जो कर्मवर्गणायें आत्मा में स्थित हैं वे भी आत्मस्वरूप परिणत नहीं होती।

भावार्थ–भिन्न-भिन्न स्वरूप के धारक पदार्थ चाहे किसी प्रकार भी आपस में संबद्ध हो जाय कभी वे अपने अपने स्वभाव को छोड़कर दूसरे के स्वभावस्वरूप नहीं होते। देखो! जिसप्रकार पुद्गल के परमाणु मूर्तिक हैं और आकाश अमूर्तिक पदार्थ है इसलिये अधाराधेय भाव से संबद्ध होने पर भी वे आकाश के रूप अमूर्तिक नहीं होते उसीप्रकार यद्यपि बहुत से कर्म आत्मा के साथ संबद्ध हैं परंतु वे आत्मस्वरूप परिणत नहीं होते अर्थात् आत्मा का जैसा चैतन्य और अमूर्तिक

स्वभाव है वैसा कर्मों का चैतन्य और अमूर्तिक स्वभाव नहीं होता–वे तो हर एक अवस्था में जड़ और मूर्तिक ही रहते हैं।।३६।।

स्थावराः कार्मणाः संति, विकारास्तेऽपि नात्मनः।
शश्वच्छुद्धस्वभावस्य, सूर्यस्येव घनादिजाः।।३७।।
मेघादिक से हो विकार जो, सूर्य से हों वे कभी नहीं।
कर्म जनित स्थावरादित्यों, आतम के ना होंय कहीं।।३७।।

अर्थ–जिसप्रकार निरंतर शुद्ध तेजस्वभाव के धारक सूर्य के मेघ आदि से उत्पन्न विकार आत्मिक नहीं गिने जाते उसीप्रकार पृथिवी आदि स्थावर कर्मजनित विकार हैं वे आत्मा के नहीं गिने जाते।

भावार्थ–सूर्य प्रचंड दीप्ति का धारक अत्यंत शुद्ध पदार्थ है और उसमें मेघ आदि के कारण बहुत से विकार उत्पन्न होते हैं परंतु जिसप्रकार वे सूर्य के न गिने जाकर मेघ आदि के गिने जाते हैं उसीप्रकार पृथिवी जल तेज वायु और वनस्पति रूप स्थावर कर्मों के विकार हैं इसलिये वे आत्मा के विकार नहीं हो सकते।।३७।।

रागादयः परीणामाः, कल्मषोपाधि संभवाः।
जीवस्य स्फटिकस्येव, पुष्पोपाधि भवा मताः।।३८।।
शुद्ध स्फटिक में राग आदि सब, पुष्प उपधि से होंय विकार।
रागादिक परिणाम जीव के, पाप से होते बारंबार।।३८।।

अर्थ–जिसप्रकार निर्मल स्फटिक में राग-लाल पीले आदि विकार पुष्प की उपाधि से उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार जीव के भी राग आदि परिणाम कल्मष-पापरूप उपाधि से उत्पन्न हैं।

भावार्थ–स्फटिक रत्न अत्यंत स्वच्छ पदार्थ है उसमें लाल-पीला आदि कोई विकार नहीं परंतु जिस समय उसके सामने हरे पीले आदि पुष्प रख दिये जाते हैं तो वह हरे पीले पुष्पों के संबंध से हरा पीला रूप परिणत हो जाता है उसी प्रकार आत्मा अत्यंत शुद्ध पदार्थ है उसमें कैसा भी राग आदि विकार नहीं परंतु उसमें जो पापरूप उपाधि विद्यमान है उससे वह राग द्वेष आदि स्वरूप परिणत हो जाता है।।३८।।

परिणामाः कषायाद्या, निमित्तीकृत्य चेतनां।
मृत्पिंडेनेव कुंभाद्या, जन्यंते कर्मणाऽखिलाः।।३९।।

ज्यों मृतपिण्ड से घट आदिक की, उत्पत्ति हो उसी प्रकार।
कषाय आदि परिणाम जीव के, हों कर्मों के बंधनकार।।३९।।

अर्थ–जिसप्रकार मिट्टी के पिंड से घट शरावा आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है उसीप्रकार कषाय आदि परिणाम भी चेतना के निमित्त से कर्मों से उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ–जिसप्रकार घट आदि पदार्थों की उत्पत्ति में उपादन कारण मिट्टी और चाक कुंभकार आदि निमित्त कारण हैं उसीप्रकार आत्मा में जो क्रोध आदि कषायों की उत्पत्ति होती हैं उनका उपादान कारण कर्म है और चेतना निमित्त कारण है इसलिये क्रोध आदि आत्मा के कार्य नहीं, कर्मों के कार्य हैं।।३९।।

आत्मनो ये परीणामाः मलतः संति कश्मलाः।
सलिलस्येव कल्लोलास्-ते कषाया निवेदिताः।।४०।।
कल्लोलें जल में होती ज्यों, कर्मोदय से उसी प्रकार।
मलिन होंय परिणाम जीव के, वे कषाय हैं अपरंपार।।४०।।

अर्थ–जिसप्रकार जल में कल्लोल उत्पन्न होती हैं उसीप्रकार कर्म के उदय से जो आत्मा में मलिन परिणाम उत्पन्न होते हैं वे कषाय हैं।

भावार्थ–जिसप्रकार पवन के द्वारा जल में कल्लोलें उदित होती हैं और जल को खलबला डालतीं है उसी प्रकार कर्म के उदय से जो आत्मा में मलिन परिणाम उत्पन्न होते हैं वे भी आत्मा को उसके स्वरूप से विचलित कर खलबला देते हैं और उन मलिन परिणामों का ही नाम कषाय है।।४०।।

कालुष्याभावतोऽकर्म, कालुष्यं कर्मतः पुनः।
एकनाशे द्वयोर्नाशः, स्यादबीजांकुर यरिव।।४१।।
कालुषता से कर्म उपजते, कर्मों से कालुषता होय।
बीजांकुर (सम) वत् एक नाश से, दूजा नश जाता है सोय।।४१।।

अर्थ–कालुष्य के अभाव से कर्मों का अभाव होता है और कर्म से कालुष्य की उत्पत्ति होती है इसप्रकार बीज और अंकुर के समान एक के नाश से दोनों का नाश हो जाता है।

भावार्थ–जिसप्रकार बीज से अङ्कुर और अङ्कुर से बीज की उत्पत्ति होती है तथा अङ्कुर के अभाव में बीज का अभाव और बीज के अभाव में अङ्कुर का अभाव हो जाता है उसी प्रकार

कालुष्य से कर्म, कर्म से कालुष्य होते हैं इसलिये कालुष्य के अभाव में कर्मों का अभाव और कर्मों के अभाव में कालुष्य का अभाव हो जाता है।।४१।।

यदास्ति कलुषाभावो, जीवस्य परिणामिनः।
परिणामास्तदा शुद्धाः, स्वर्णस्येवोत्तरोत्तराः।।४२।।
हों परिणाम स्वभाव जीव के, कालुषता का पूर्ण अभाव।
स्वर्ण समान उत्तरोत्तर उसके, होय शुद्धि का आर्विभाव।।४२।।

अर्थ—परिणमन स्वभाव के धारक इस जीव के जिससमय कालुष्य का अभाव हो जाता है उस समय सुवर्ण के समान उत्तरोत्तर इसके परिणाम शुद्ध होते चले जाते हैं।

भावार्थ—स्वभाव से शुद्ध भी सुवर्ण जिसप्रकार कीट कालिमा आदि के संबंध से मलिन रहता है किंतु ज्यों ज्यों उसकी कीट कालिमा आदि दूर होते जाते हैं त्यों त्यों वह उत्तरोत्तर शुद्ध होता चला जाता है और जिस समय उससे कीट कालिमा आदि सर्वथा जुदे हो जाते हैं उस समय वह सर्वथा शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार स्वभाव से विशुद्ध भी आत्मा कालुष्य के संबंध से मलिन रहता है किंतु ज्यों ज्यों इसके कालुष्य का नाश होता जाता है त्यों त्यों यह भी विशुद्ध होता जाता है तथा जिस समय कालुष्य का सर्वथा नाश हो जाता है उस समय यह सर्वथा विशुद्ध हो जाता है इस प्रकार वस्तु तत्त्व का विचार करना चाहिए।।४२।।

कल्मषाभावतो जीवो, निर्विकारो विनिश्चलः।
निर्वातनिस्तरंगाब्धि, समानत्वं प्रपद्यते।।४३।।
जीव कलुषता रहित होय जब, निर्विकल्प हो निश्चल रूप।
पवनाभाव में लहरों विरहित, सिंधू होता शांत स्वरूप।।४३।।

अर्थ—जिस समय यह जीव कालुष्य से रहित होता है उस समय यह निर्विकार और निश्चल हो जाता है इसलिये पवन के अभाव में तरंग रहित शांत समुद्र की उपमा धारण करता है।

भावार्थ—जिस समय पवन चलता है उस समय उसके तीव्र झकोरों से समुद्र का जल उथल-पुथल हो निकलता है और उससे समुद्र चंचल खलबला उठता है उसी प्रकार जब तक आत्मा में क्रोध आदि दुर्भावों की विद्यमानता रहती है तबतक उसमें राग द्वेष आदि नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते रहते हैं और उनसे वह सदा चंचल बना रहता है किंतु जिस समय इसके क्रोध आदि दुर्भाव नष्ट हो जाते हैं उस समय इस आत्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता और विकारों के अभाव में यह विनिश्चल अवस्था को धारण कर लेता है।

अक्षज्ञानार्थतो भिन्नं, यदंत्र-वभासते।
तद्रूपमात्मनो ज्ञातृ, ज्ञातव्यमविपर्ययं।।४४।।
अंतर में प्रतिभाषित है जो, इंद्रियज्ञान से भिन्न सुज्ञान।
वह आतम अभ्रांत रूप है, ज्ञानी जाने उसको मान।।४४।।

अर्थ—इंद्रियज्ञान से भिन्न जो ज्ञान अंतरंग में प्रतिभासमान मालूम पड़ता है वही अभ्रांत आत्मा का स्वरूप है और उसे ज्ञानवान मनुष्य ही जान सकते हैं।

भावार्थ—ऊपर कह दिया गया है कि ज्ञान आत्मा का वास्तविक स्वरूप है वहाँ पर शंका होती है कि किस ज्ञान को आत्मा का स्वरूप मानना चाहिये क्योंकि इंद्रियजन्य ज्ञान और आत्मिकज्ञान के भेद से ज्ञान दो प्रकार का माना है उसका खुलासा यहाँ ग्रंथकार ने किया है कि जो ज्ञान इंद्रियजन्य ज्ञान से भिन्न हो, संशय-विपर्यय और अनध्यवसाय दोषों से रहित और अंतरंग में प्रतिभासमान हो वही ज्ञान आत्मा का वास्तविक स्वरूप है अन्य नहीं।।४४।।

यत्रासत्यखिलं ध्वांत-मुद्योतः सति चाऽखिलः।
अस्त्यपि ध्वांतमुद्योतस्-तज्ज्योतिः परमात्मनः।।४५।।
तिमिर होय जिसके अभाव में, विद्यमान में होय प्रकाश।
तिमिर प्रकाश रूप प्रतिभाषे, वह परमात्म का रहा प्रकाश।।४५।।

अर्थ—जिसप्रकाश के अभाव में समस्त अंधकार ही अधंकार और जिसकी विद्यमानता में सब प्रकाश ही प्रकाश प्रतीत होता है और अंधकार भी प्रकाशस्वरूप मालूम पड़ता है वह प्रकाश परमात्मा चेतन ज्योति रूप है।

भावार्थ—संसार में यद्यपि सूर्य आदि के प्रकाश मौजूद हैं परंतु जैसा उत्तम प्रकाश (ज्ञान) परमात्मा का है वैसा किसी का भी नहीं है क्योंकि जबतक यह परमात्मप्रकाश-दिव्यज्ञान आत्मा में प्रकट नहीं होता तबतक सब ओर अंधकार ही अंधकार प्रतीत होता है—स्पष्टरूप से किसी भी अर्थ का ज्ञान नहीं होता किंतु जिससमय यह प्रकट हो जाता है उस समय सब ओर प्रकाश ही प्रकास दृष्टिगोचर हो जाता है अर्थात् मूर्तिक अमूर्तिक सब पदार्थ झलकने लगते हैं तथा जो पदार्थ पहले नहीं जान पड़ते थे उन्हें भी जान लिया जाता है।।४५।।

सर्वे भावाः स्वभावेन, स्वस्वभाव व्यवस्थिताः।
न शक्यंतेऽन्यथा कर्तुं, ते परेण कदाचन।।४६।।
जीवाकाश समान सुनिर्मल, है अमूर्त अविनाशी रूप।
है सम्बन्ध परस्पर जो पर, द्रव्यों से है पर स्वरूप।।४६।।

नान्यथा शक्यते कर्तुं, मिलद्भिरिव निर्मलः।
आत्माकाश मिवामूर्तः, परद्रव्यैर्-नश्वरः।।४७।।
हैं स्वभाव से निज स्वरूप में, स्थित जग के सभी पदार्थ।
नहीं अन्यथा रूप कभी हों, पाकर के भी अन्य पदार्थ।।
अविनाशी जो हैं अमूर्त शुभ, निर्मल जो आकाश समान।
द्रव्य परस्पर सम्बन्धित भी, नहीं अन्यथा हों यह मान।।४७।।

अर्थ—समस्त पदार्थ स्वभाव से ही अपने स्वरूप में स्थित हैं वे कभी परपदार्थ से अन्यथा रूप नहीं किये जा सकते अर्थात् कभी परपदार्थ उन्हें अपने रूप में परिणत नहीं कर सकता। आत्मा आकाश के समान निर्मल अमूर्तिक और अविनाशी है इसलिये परस्पर में संबद्ध हुये भी परद्रव्यों से कभी वह अन्यथा रूप नहीं किया जा सकता अर्थात् जड़ कर्मरूप द्रव्य के संबंध से वह कभी जड़स्वरूप परिणत नहीं हो सकता।

भावार्थ—पदार्थों के स्वभाव जुदे-जुदे होते हैं और सब पदार्थ अपने अपने स्वभावों में स्थित रहते हैं इसलिये ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो दूसरे के स्वरूप को अपने स्वरूप में परिणत करले। आकाश निर्मल अमूर्तिक और अविनाशी पदार्थ है उसमें बहुत से परपदार्थ पुद्गल के परमाणु आदि विद्यमान रहते हैं परंतु वे आकाश को अपने स्वरूप परिणत नहीं कर सकते अर्थात् पुद्गल का जैसा मूर्तिक स्वभाव है वैसा आकाश का नहीं होता उसीप्रकार आत्मा भी निर्मल अमूर्तिक और अविनाशी पदार्थ है तथा उससे अनंती कर्मवर्गणाओं का संबंध रहता है परंतु वे आत्मा को अपने स्वरूप परिणत नहीं कर सकतीं अर्थात् कर्मों का जो मूर्तिक स्वभाव है वैसा आत्मा का नहीं हो सकता।।४६-४७।।

देहात्मनोः सदा भेदो, भिन्नज्ञानोपलंभतः।
इंद्रियैर्ज्ञायते देहो, नूनमात्मा स्वसंविदा।।४८।।
देहातम का ज्ञान जीव को, भिन्न-भिन्न ज्ञानों से होय।
इंद्रिय ज्ञान से देह ज्ञान हो, स्वानुभव से आतम को सोय।।४८।।

अर्थ—शरीर और आत्मा का ज्ञान भिन्न-भिन्न ज्ञानों से होता है इसलिये शरीर और आत्मा का आपस में वास्तविक भेद है क्योंकि इंद्रियजन्य ज्ञान से शरीर जाना जाता है और स्वसंवेदन-स्वानुभव ज्ञान से आत्मा का ज्ञान होता है।

भावार्थ—बहुत से मनुष्यों का सिद्धांत है कि शरीर ही आत्मा है, शरीर से भिन्न आत्मा

कोई पदार्थ नहीं परंतु यह बात ठीक नहीं। क्योंकि शरीर जड़ पदार्थ है और आत्मा चेतन पदार्थ है वे कभी एक नहीं हो सकते तथा इनके स्वरूप का ज्ञान भी भिन्न-भिन्न ज्ञानों से होता है अर्थात् इंद्रियजन्य ज्ञान से शरीर जाना जाता है और अहं अहं-मैं मैं इस स्वसंवेदन ज्ञान से आत्मा का ज्ञान होता है इसलिये ये दोनों भिन्न हैं क्योंकि यदि दोनों एक होते तो एक ही प्रकार के ज्ञान से दोनों का ज्ञान हो सकता था।।४८।।

न कर्म हंति जीवस्य, न जीवः कर्मणो गुणान्।
बध्यघातकभावोऽस्ति, नान्योन्यं जीवकर्मणोः।।४९।।
कर्म जीव के जीव कर्म के, गुण का नाश न करता जान।
जीव कर्म का बध्य घातिया, हो संबंध नहीं यह जान।।४९।।

अर्थ—न तो कर्म जीव गुणों को नष्ट करता है और न जीव ही कर्म के गुणों को नष्ट करता है इसलिये जीव और कर्म का आपस में बध्यघातक संबंध नहीं।

भावार्थ—न्यायशास्त्र में बध्यघातकभाव, [१]सहा नवस्थानलक्षण और [२]प्रतिबध्य प्रतिबंधकभाव ये तीन प्रकार के विरोध माने गये हैं। बध्यघातक विरोध में बध्य का अर्थ मरने वाला और घात का का अर्थ मारने वाला है यह विरोध अहि नकुल, अग्नि जल आदि में देखने में आता है अर्थात् नेवला सर्प को मार देता है इसलिये सर्प बध्य और नेवला घातक कहा जाता है तथा जल अग्नि को बुझा देता है इसलिये अग्नि बध्य और जल घातक होता है यहाँ पर जीव और कर्म में यह विरोध देखने में नहीं आता क्योंकि यदि कर्म, जीव के गुणों को नष्ट करता अथवा जीव कर्म के गुणों को नष्ट करता तब तो जीव और कर्म में बध्यघातकभाव नामक विरोध होता। सो तो है नहीं, इसलिये जीव और कर्म में बध्यघातकभाव विरोध नहीं हो सकता।।४९।।

यदा प्रति परीणामं, विद्यते न निमित्तता।
परस्परस्य विश्लेषस्-तयोर्-मोक्षस्तदा मतः।।५०।।
इक दूजे के परिणामों में, न निमित्तता हो (विचार) जिस काल।
संबंधों की होय भिन्नता, इसका नाम है मोक्ष विशाल।।५०।।

---

१. एक फल में एक स्थान पर दो प्रकार के रूप नहीं रह सकते इसलिये एक जगह न रहने वाले दो रूपों का सहानवस्थानलक्षण विरोध है।

२. चंद्रकांतमणि के सामने आते ही अग्नि का जलना बंद हो जाता है इसलिये चंद्रकांतमणि और अग्नि का आपस में प्रतिबध्यप्रतिबंधनभाव विरोध है।

अर्थ—जिस समय एक दूसरे के परिणाम के प्रति एक दूसरे की निमित्तता नहीं रहती उस समय उन दोनों की जो सर्वथा जुदाई है उसका नाम मोक्ष है।

भावार्थ—पुद्गल के ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि परिणामों में आत्मा के राग आदि परिणाम निमित्त कारण हैं और आत्मा के राग आदि परिणामों में पुद्गल के ज्ञानावरण आदि परिणाम निमित्त कारण हैं तो जिस समय पुद्गल आत्मा के परिणामों में कारण नहीं पड़ता और आत्मा पुद्गल के परिणामों में कारण नहीं पड़ता अर्थात् जब कि पुद्गल और आत्मा की सर्वथा जुदाई हो जाती है उस समय मोक्ष होता है।।५०।।

येन येनैव भावेन, युज्यते यंत्रवाहकः।
तन्मयस्तत्र तत्रापि, विश्वरूपो मणिर्यथा।।५१।।
जैसे-जैसे भाव आत्मा, के होते उनके अनुकूल।
वह परिणत होता जाता है, जैसा स्फटिक मणि है मूल।।५१।।

अर्थ—आत्मा के जैसे–जैसे भाव होते हैं उन्हीं के अनुकूल वह परिणत होता जाता है जैसा कि स्फटिकमणि।

भावार्थ—स्फटिकमणि के सामने जैसा हरा पीला पुष्प वा अन्य कोई पदार्थ आ जाता है तो वह जिस प्रकार उसी के रूप परिणत हो जाता है अर्थात् हरे पुष्प आदि पदार्थ के संबंध से हरा और पीले पुष्प आदि पदार्थ के संबंध से पीला हो जाता है उसीप्रकार इस आत्मा के भी जैसे-जैसे शुभ अशुभ परिणाम होते हैं उन परिणामों के अनुसार यह भी परिणत होता चला जाता है अर्थात् यदि आत्मा के परिणाम शुभ रूप होते हैं तो शुभरूप परिणत हो जाता है और यदि इसके अशुभ रूप परिणाम होते हैं तो अशुभरूप परिणत हो जाता है।।५१।। इसलिये–

येनात्म भावनाभ्यासे, स नियोज्यो विपश्चिता।
तेनात्म-मयतां याति, निर्वृत्याऽपरभावतः।।५२।।
ज्ञानी जन आतम स्वरूप की, करें भावना का अभ्यास।
पर पदार्थ से हटकर जिससे, निज स्वरूप का हो अभास।।५२।।

अर्थ—जो पुरुष विद्वान हैं–अपने हित अहित को भले प्रकार समझते हैं उन्हें चाहिये कि वे आत्मा को आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यास में लगायें जिससे परपदार्थों से हटकर उनकी आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हो जाय।

भावार्थ—स्फटिक मणि के समान जब कि आत्मा जैसी भावनाकर परिणमाया जाता है वैसा ही परिणत हो जाता है तब विद्वानों को यह अवश्य चाहिये कि वे उसे अपने शुद्धस्वरूप की ओर परिणमावें और परपदार्थों की तरफ कुछ भी ख्याल न करें जिससे उनकी आत्मा शुद्ध हो जाय और मुक्त हो सके।।५२।।

युज्यते रजसा नात्मा, भूयोऽपि विरजीकृतः।
पृथक्कृतं कुतः स्वर्णं, पुनः कीटेन युज्यते।।५३।।
कीट कालिमा के नशते ज्यों, पुनः होय ना कीट संयुक्त।
मुक्त जीव कर्मों से विरहित, होवे ना कर्मों से युक्त।।५३।।

अर्थ—जिस प्रकार एक बार अग्नि की ज्वाला द्वारा कीट कालिमा आदि से सर्वथा रहित किया हुआ सुवर्ण फिर से कीट कालिमा से युक्त नहीं होता उसी प्रकार जो आत्मा कर्मों से एकबार रहित हो चुका है वह पुन: कर्मों से संयुक्त नहीं होता।

भावार्थ—ऊपर कह दिया गया है कि आत्मा की मलिनता में कारण राग द्वेष आदि भाव हैं जब तक आत्मा में इनकी मौजूदगी रहती है तब तक कभी वह शुद्ध नहीं होता और उनके अभाव में शुद्ध हो जाता है एवं जिस प्रकार कीट कालिमा आदि से सर्वथा रहित हो जाने पर सुवर्ण फिर उससे संयुक्त नहीं होता सर्वथा शुद्ध ही बना रहता है उसी प्रकार वह शुद्ध शुद्ध आत्मा भी राग द्वेषरूप कारणों के अभाव में फिर कर्ममलों से मलिन नहीं होता।।५३।।

दंड चक्र कुलालादि सामग्री संभवेऽपि नो।
संपद्यते यथा कुंभो, विनोपादान कारणं।।५४।।
उपादान कारण विरहित ज्यों, चक्रदण्ड आदिक कुंभकार।
मिलने पर भी घट न बनता, जीवों का भी उसी प्रकार।।५४।।

मनो वचो वपुः कर्म सामग्रीसंभवेऽपि नो।
संपद्यते तथा कर्म, विनोपादान कारणं।।५५।।
उपादान से रहित जीव के, मन वच काय क्रिया को पाय।
कर्म रूप उत्पन्न नहीं हो, कर्मबंध कालुष्य कराय।।५५।।

कालुष्यं कर्मणो ज्ञेयं, सदोपादान कारणं।
मृद्द्रव्य-मिव कुंभस्य, जायमानस्य योगिभिः।।५६।।

मिट्टी कुम्भ की उत्पादक है, कर्मों का भी उसी प्रकार।
जीवों के कालुष्य भाव हैं, उपादान कारण अनुसार।।५६।।

अर्थ—दंड चाक और कुंभकार आदि सामग्री-कारणों के रहने पर भी जिस प्रकार बिना उपदान कारण के घट उत्पन्न नहीं हो सकता उसीप्रकार मन वचन काय की क्रियारूप सामग्री के रहने पर भी बिना उपादानकारण के कर्म भी नहीं उत्पन्न हो सकते तथा जिसप्रकार उत्पन्न होने वाले कुंभ की उपादान कारण मिट्टी है उसीप्रकार कर्म का उपादान कारण कालुष्य है।

भावार्थ—हर एक कार्य की उत्पत्ति में दो प्रकार के कारण माने गये हैं एक उपादान कारण, दूसरा निमित्तकारण। निमित्त कारण तो बाह्य कारण है और उपादानकारण अंतरंग कारण है। घट की उत्पत्ति में दंड चाक और कुंभकार आदि निमित्त कारण हैं और मिट्टी उपादान कारण है उसी प्रकार कर्म की उत्पत्ति में निमित्त कारण मन-वचन-काय की क्रिया है और कालुष्य उपादान कारण है तथा जिसप्रकार दंड चाक कुंभकार आदि निमित्तकारणों के मौजूद रहते भी उपादान कारण मिट्टी के बिना घट नहीं उत्पन्न होता उसीप्रकार मन वचन और काय की क्रिया के होने पर भी जबतक उपादान कारण कालुष्य नहीं रहता तबतक कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती।।५४-५६।।

यथा कुंभमयो जातु, कुंभकारो न जायते।
सहकारितया वुंभं, कुर्वाणोऽपि कथंचन।।५७।।
घट को करता हुआ कथंचित्, सहकारी स्वरूप से जान।
कुंभकार घट रूप न परिणत, होता नहीं है वैसे मान।।५७।।
कषायादिमयो जीवो, जायते न कदाचन।
कुर्वाणोऽपि कषायादीन, सहकारितया तथा।।५८।।
कषायादिक सहकारी कारण, करता हुआ भी जीव विशेष।
कषायादि स्वरूप न परिणत, होते हैं ज्ञानी अवशेष।।५८।।

अर्थ—जिसप्रकार कथंचित् सहकारी स्वरूप से घट को करता हुआ भी कुंभकार घटस्वरूप परिणत नहीं होता उसी प्रकार सहकारीरूप से कषाय आदि को करता हुआ भी जीव कषायादि स्वरूप परिणत नहीं होता।

भावार्थ—यह नियम है कि उपादान कारण ही कार्यस्वरूप परिणत होता है निमित्त कारण नहीं। घट की उत्पत्ति में जिस प्रकार निमित्त कारण कुंभकार है उसी प्रकार कषाय आदि दुर्भावों की उत्पत्ति में निमित्तकारण आत्मा है तथा जिस प्रकार घट की उत्पत्ति में निमित्त कारण होकर

घट को बनाता हुआ भी कुंभकार घटस्वरूप परिणत नहीं होता उसी प्रकार कषाय आदि दुर्भावों की उत्पत्ति में निमित्तकारण होकर कषाय आदि दुर्भावों को करता हुआ भी आत्मा कषायस्वरूप परिणत नहीं होता।

यः कर्म मन्यते कर्माऽकर्म वाऽकर्म सर्वथा।
स सर्वकर्मणां कर्ता, निराकर्ता च जायते।।५९।।
कर्मों को निज कर्म मानते, हैं अकर्म का सदा अकर्म।
वह कार्यों का कर्त्ता एवं, नाशी हो वस्तू का धर्म।।५९।।

अर्थ–जो बुद्धिमान पुरुष सर्वथा कर्म को और अकर्म को अकर्म मानता है वह समस्त कर्मों का कर्त्ता-उपार्जन करने वाला भी उनका निराकर्ता नाश करने वाला होता है।

भावार्थ–जो मनुष्य वस्तु के असली स्वरूप को जानता है यह वह यदि किसी समय हेय पदार्थ को अपना भी ले तो कुछ समय बाद उसके स्वरूप के ज्ञान के रहने के कारण उसको छोड़ भी देता है किंतु जिसको उसका स्वरूप भी नहीं मालूम है, वह उसको ग्रहण कर उसे अहितकारी न समझने के कारण कैसे छोड़ सकता है? जो पुरुष कर्म को कर्म और अकर्म को अकर्म समझता है वह यदि कर्मों का उपार्जन करता है तो कुछ समय के बाद उन्हें दुखकारी समझ छोड़ भी देता है किंतु जिस पुरुष को यह ज्ञान ही नहीं कि कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? वह कर्मों को उपार्जन करता हुआ भी उन्हें दु:खदायी न समझने के कारण कैसे छोड़ सकता है? इसलिये विद्वानों को कर्म वा अकर्म का स्वरूप भले प्रकार समझना चाहिये, और कर्मों से मुक्त होने का उपाय करते रहना चाहिये।।५९।।

विषयैर्-विषयस्तोपि, निरासंगो न लिप्यते।
कर्दमस्थो विशुद्धात्मा, स्फटिकः कर्दमै-रिव।।६०।।
कीचड़ में स्फटिक पड़े न, होता है कीचड़ स्वरूप।
रहित ममत्व विशुद्धातम भी, होती नहीं है भोगों रूप।।६०।।

अर्थ–जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ भी स्फटिकमणि कीचड़ से लिप्त नहीं होता कीचड़स्वरूप परिणत नहीं होता उसीप्रकार विषय भोग करता हुआ भी विशुद्धात्मा ममत्व रहित होने के कारण विषयों से लिप्त नहीं होता।

भावार्थ–स्फटिकमणि का स्वभाव स्वच्छ है उसे चाहे कैसी भी गाढ़ कीचड़ में क्यों न पटक दिया जाय कीचड़ उसके स्वरूप को नष्ट नहीं कर सकती उसीप्रकार जो पुरुष विशुद्धात्मा

है–कुछ-कुछ कर्ममलों के नाश से जिसकी आत्मा निर्मल बन चुकी है वह यद्यपि किसी कारण से विषय भोगों को भोगता है परंतु मन में लालसा न रखने के कारण विषयों से लिप्त नहीं होता– उसकी आत्मा विशुद्ध की विशुद्ध ही बनी रहती है।।६०।।

देह चेतनयोर्-भेदो, दृश्यते येन तत्त्वतः।
न संगो जायते तस्य, विषयेषु कदाचन।।६१।।
जिस ज्ञानी को तन चेतन का, होय वास्तविकता से ज्ञान।
ऐसे ज्ञानी महानुभाव को, विषयाभिलाषा हो ना मान।।६१।।

अर्थ–जिस महानुभाव को शरीर और चेतन का वास्तविक भेद मालूम पड़ जाता है उस महानुभाव की कभी विषयों में लालसा नहीं होती।

भावार्थ–जबतक शरीर और चेतन का भेदविज्ञान नहीं होता-शरीर को ही आत्मा मान लिया जाता है तबतक शरीर को सुख देने के लिये रात दिन विषयभोगों के भोगने में लालसा बनी रहती हैं किन्तु जिस समय यह ज्ञान हो जाता है कि शरीर पृथ्वी आदि भूतों का बना जड़ है और आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप का धारक है इसलिये दोनों कभी एक नहीं हो सकते उस समय विषय भोगों में जरा भी लालसा नहीं होती किंतु उनसे सर्वथा विरक्ति हो जाती है।।६१।।

भावः शुभोऽशुभः शुद्धस्-त्रेधा जीवस्य जायते।
यतः पुण्यस्य पापस्य, निर्वृते-रेव कारणं।।६२।।
भाव शुभाशुभ शुद्ध जीव के, बतलाए हैं तीन प्रकार।
पुण्य पाप शुभ मोक्ष के कारण, क्रमशः होते मंगलकार।।६२।।

अर्थ–शुभ अशुभ और शुद्ध भावों के भेद से जीव के भाव तीन प्रकार के हैं और वे क्रम से पुण्य पाप और मोक्ष के कारण हैं अर्थात शुभ भावों से पुण्य, अशुभ भावों से पाप और शुद्ध भावों से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भावार्थ–जिनेन्द्र का पूजन, मुनियों को दान, जीवों की रक्षा, शास्त्र का स्वाध्याय, आदि करना शुभ भाव हैं। चोरी करना, जुआ खेलना, जीवों को पीड़ा देना, परद्रव्यों को हजम करने का भाव रखना आदि अशुभ भाव हैं और समस्त कर्ममलों से रहित शुद्ध आत्मा का विचार करना शुद्ध भाव है। जो जीव अपने भाव शुभ रखते हैं उन्हें पुण्य की प्राप्ति होती हैऔर पुण्य से चक्रवर्ती आदि पदों के मिलने के कारण नानाप्रकार के सुख भोगने में आते हैं। जो जीव अपने भाव अशुभ रखते हैं उनके पाप का संचय होता है और पाप से वे तिर्यंच आदि कुगतियों में जाकर तीव्र दुःख

भोगते हैं तथा जिन जीवों के परिणाम शुद्ध रहते हैं–जो सदा शुद्धात्मा का ध्यान करते रहते हैं उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है अर्थात् वे समस्त कर्मों का सर्वथा नाशकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ पर निराकुलतामय सुख का आस्वादन करते हैं।।६२।। इसलिये–

ततः शुभाऽशुभौ हित्वा, शुद्धं भाव मधिष्ठितः।
निर्वृतो जायते योगी, कर्मागम निवर्तकः।।६३।।
भाव शुभाऽशुभ त्याग सर्वथा, शुद्ध भाव धारी हो जाय।
उसके सब कर्मों का आस्रव, रुक जाए मुक्ती को पाय।।६३।।

अर्थ–जो योगी शुभ अशुभ भावों का सर्वथा त्यागकर शुद्ध भावों को धारण करता है उसके समस्त कर्मों का आगमन रुक जाता है और वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ–अशुभ परिणाम तो सर्वथा दु:खकारक हैं अर्थात् जिन मनुष्यों के परिणाम अशुभ रहते हैं उन्हें कभी सुख नहीं मिलता। शुभ परिणाम यद्यपि कुछ अच्छे हैं परंतु निराकुलतामय सुख वे भी प्रदान नहीं करते अर्थात् शुभ परिणामों से यद्यपि पुण्य की उत्पत्ति होती है और पुण्य से चक्रवर्ती आदि उत्तमोत्तम पद मिलते हैं किंतु जिससमय पुण्य क्षीण हो जाता है उस समय नरक आदि गतियों में घूमना पड़ता है और अनेक प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं अत: शुद्ध परिणाम ही सर्वोत्कृष्ट हैं क्योंकि उनसे मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये जो योगीगण समस्त कर्मों से रहित होना चाहते हैं और निराकुलतामय सुख का भोग करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे शुभ अशुभ दोनों प्रकार के परिणामों का सर्वथा त्यागकर शुद्ध परिणामों को धारण करें जिससे उन्हें निराकुलतामय मोक्षसुख की प्राप्ति हो जाय।।६३।।

विनिवृत्यार्थतश्-चित्तं, विधायाऽत्मनि निश्चलं।
न किंचिच्चिंतयेद्योगी, निरस्ता खिल कल्मषः।।६४।।
कल्मष रहित योगी संसारिक, द्रव्यों से हो निवृत चित्त।
निश्चल आतम में स्थिर हो, अन्य कहीं कुछ ध्याएँ न मित्र!।।६४।।

अर्थ–समस्त कल्मषों का नाश करने वाला योगी सांसारिक पदार्थों से अपना चित्त हटाकर निश्चलरूप से अपनी आत्मा में लगावे और 'शुद्धात्मा के स्वरूप के सिवाय' कुछ भी विचार न करे निज चेतन आतम में ही तल्लीन रहे।

भावार्थ–जिसप्रकार स्त्री पुत्र आदि बाह्य पदार्थों से हटकर चित्त आत्मा में निश्चलरूप से लग जाता है और सिवाय शुद्धात्मा के स्वरूप के कुछ भी विचार नहीं किया जाता उस समय

समस्त कल्मषों का नाश हो जाता है इसलिये योगियों को चाहिये कि वे सिवाय शुद्ध आत्मा के स्वरूप के किसी भी अन्य स्वरूप का विचार न करें।।६४।।

स्वार्थ व्यावर्तिताक्षोऽपि, विषयेषु दृढ़स्मृतिः।
सदास्ति दुःस्थितो दीनो, लोकद्वय विलोपकः।।६५।।
जो आतम परमार्थ विमुख है, है विषयों का स्मृतिवान।
सदा सुखी हो द्वय लोकों का, नाशी है जो अतिशयवान।।६५।।

अर्थ—जिसकी आत्मा परमार्थ से विमुख है और जो विषयों का दृढ़रूप से स्मरण करता रहता है वह सदा दुखी और दोनों लोकों का नाश करने वाला होता है।

भावार्थ—जो मनुष्य परमार्थ-निराकुलतामय मोक्षसुख से विमुख होकर विषयों का स्मरण करता रहता है वह कभी सुखी और उन्नत नहीं हो सकता, दुखी और दीन ही रहता है तथा उसका न यह लोक सुधरता है न परलोक। किंतु जो पुरुष परमार्थ के आराधक हैं और विषयों की ओर जरा भी नहीं झांकते वे सदा सुखी और उन्नत रहते हैं इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे विषयों से सर्वथा विमुख होकर परमार्थ की ओर अपनी दृष्टि को लगावें।।६५।।

भोगं कश्चिदभुंजानो, भोगार्थ कुंरुते क्रियां।
भोगमन्यस्तु भुंजानो, भोगच्छेदाय शुद्ध धीः।।६६।।
नहीं भोगते हुए भोग की, करते हैं जो क्रिया विशेष।
कोई ज्ञानी भोग भोगकर, प्रयत्न नाश का करें अशेष।।६६।।

अर्थ—बहुत से मनुष्य संसार में ऐसे हैं जो भोगों को न भी भोगते हुये भोगों के भोगने के लिये क्रिया करते हैं और बहुत से बुद्धिमान मनुष्य ऐसे हैं जो भोग तो भोगते रहते हैं परंतु प्रयत्न उनके नाश के लिये ही करते रहते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष अज्ञानी हैं और भोगांतराय कर्म के तीव्र उदय से जिनको अभीष्ट भोगों की प्राप्ति नहीं हुई है वे यद्यपि उपलब्ध भोग नहीं करते परंतु उनके भोगने की तीव्र लालसा रहने के कारण सदा उनके लिये प्रयत्न करते रहते हैं किन्तु जो जीव विशुद्ध आत्मा के धारक ज्ञानी हैं और शुभ कर्म के उदय से जिन्हें उत्तमोत्तम भोग प्राप्त हैं वे उन्हें भोगते हुए भी परिणाम में दुःखदायी मान उनके छोड़ने का सदा प्रयत्न करते रहते हैं।।६६।।

स्वार्थव्यावर्तिताक्षोऽपि, निरुद्ध विषयस्मृतिः।
सर्वदा सुस्थितो जीवः, परत्रेह च जायते।।६७।।
है परमार्थ विमुख जो आतम, विषयों की स्मृति से हीन।
इह परलोक में सुखी जीव वह, होता है निज गुण में लीन।।६७।।

अर्थ—जिस पुरुष की आत्मा परमार्थ से विमुख रहने पर भी विषयों की स्मृति से रहित है वह पुरुष इस लोक परलोक दोनों लोकों में सुखी रहता है।

भावार्थ—संसार में विषयभोग बड़े ही दुःखकारी हैं जो मनुष्य इनके फंद में फँसा रहता है वह दोनों लोक में दुखी रहता है किंतु जो इनसे सर्वथा विरक्त रहता है वह परमार्थ की ओर दृष्टि को न भी लगाता हुआ सर्वत्र सदा सुख पाता है इसलिये विद्वानों को चाहिये वे विषयभोगों की ओर जरा भी ऋजु न हों।।६७।।

रागी भोग-मभुंजानो, बध्यते कर्मभिः स्फुटं।
विरागः कर्मभिर्-भोगं, भुंजानोऽपि न बध्यते।।६८।।
विषय भोग न कर भी रागी, हों कर्मों के बंधनकार।
विषयभोग कर स्वयंविरागी, कर्म बंध विरहित शुभकार।।६८।।

अर्थ—जो पुरुष रागी हैं वे विषयभोगों के न भोगने पर भी कर्मों से बंधते हैं किन्तु जो विरागी हैं–किसी भी पदार्थ में रागभाव नहीं रखते वे विषयभोगों को भोगते हुये भी कर्मों से नहीं बंधते।

भावार्थ—ऊपर कह दिया गया है कि कर्मों के बंध में प्रधान कारण राग और द्वेष हैं जबतक इनकी विद्यमानता आत्मा में रहती है तबतक सदा कर्मों का बंध होता रहता है इसलिये जो पुरुष विषयभोगों को तो भोगते नहीं परंतु उनमें सदा रागभाव रखते हैं अर्थात् सदा जिनका यह विचार रहता है कि कब विषयभोग मिलें और कब उन्हें भोगे उनके सदा कर्मबंध होता रहता है और जो पुरुष विरागी हैं–विषयभोगों के भोगने में जरा भी राग नहीं करते उनके कर्मों का बंध नहीं होता इसलिये विद्वानों को चाहिये कि भोगों में किसी प्रकार का राग न करें।।६८।।

विषयं पंचधा ज्ञान, बुध्यमानो न बध्यते।
त्रिलोकं केवली किं न, जानानो बध्यतेऽन्यथा।।६९।।
ज्ञानी पंचविषय का ज्ञाता, बँधे न कर्मों से यह जान।
यदि बँधे तो तीन लोक में, केवलि बंध करें यह मान।।६९।।

अर्थ—ज्ञानी पुरुष पाँचों प्रकार के विषयों को जानता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता यदि ज्ञानी भी कर्मों से बँधेगा तो तीन लोक को जानने वाले भगवान केवली के भी कर्मबंध मानना पड़ेगा।

भावार्थ—कर्मबंध में ज्ञान कारण नहीं, रागद्वेष आदि विभाव भाव कारण हैं इसलिये स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द पांचों प्रकार के विषयों को जानकर भी ज्ञानी पुरुष कर्मों से नहीं बंधता। यदि यह कहोगे की कर्मबंध में कारण ज्ञान भी है जितना-जितना पदार्थों का विशेष-विशेष ज्ञान होता जाता है उतना-उतना कर्मबंध भी बढ़ता जाता है सो ठीक नहीं क्योंकि इस रूप से भगवान केवली के भी कर्म बंध स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि वे विशेषज्ञानी हैं-संसार के जितने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थ हैं वे समस्त उनके ज्ञान में सदा प्रतिभासित होते रहते हैं इसलिये मानना पड़ेगा कि जिसको स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान है किंतु उनमें राग नहीं उसके कर्मबंध नहीं होता और जिसके ज्ञान नहीं परंतु राग है उसके कर्मबंध होता है।।६९।।

विमूढो नून-मक्षार्थ-मगृह्णानोऽपि बध्यते।
एकाक्षाद्या निबध्यंते, विषयाग्रहिणो न किं।।७०।।

इंद्रिय विषय ग्रहण न कर भी, विषयों से बँधता है मूढ़।
एकेंद्रियादि विषय न भोगें, फिर भी बंध करे जो गूढ़।।७०।।

अर्थ—जो पुरुष मूढ़ हैं-मोह से मत्त हो रहा है इंद्रिय विषयों को न भी ग्रहण करे तथापि कर्मों से बंधता है क्योंकि विषयों को न भोगने वाले भी एकेंद्रिय आदि जीवों के कर्मों का बंध होता है।

भावार्थ—इंद्रियों के पाँचभेद हैं-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र। इनमें से किसी जीव के केवल एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है, किसी के स्पर्शन और रसना ये दो ही, किसी के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन, किसी के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार और किसी के पांचों ही। तो जिसप्रकार जिस जीव के केवल एक ही इंद्रिय है उसके शेष चारों इंद्रियों का और जिसके दो आदि इंद्रियां हैं उसके तीन आदि इंद्रियों का अभाव होने से उन इंद्रियों का विषयभोग तो नहीं होता परंतु कर्मबंध अवश्य होता है उसी प्रकार जो मिथ्यात्वी अज्ञानी है उसके इंद्रिय विषयों का भोग न होने पर भी कर्मबंध अवश्य होता है।।७०।।

राग-द्वेष निवृत्तस्य, प्रत्याख्यानादिकं वृथा।
राग-द्वेष प्रवृत्तस्य, प्रत्याख्यानादिकं वृथा।।७१।।

राग-द्वेष विरहित हैं उनको, प्रत्याख्यानादि हैं व्यर्थ।
राग-द्वेष आदिक युत के भी, प्रत्याख्यान आदि हैं व्यर्थ।।७१।।

अर्थ—जो पुरुष राग और द्वेष से रहित हैं उनके लिये प्रत्याख्यान आदि व्यर्थ हैं और जो पुरुष राग और द्वेष आदि से युक्त हैं उनके लिये भी प्रत्याख्यान आदि व्यर्थ हैं।

भावार्थ—व्रत तप आदि जितनी शुभ क्रियाओं का आराधन किया जाता है वह राग द्वेष की निवृत्ति के लिये किया जाता है इसलिये जिसके राग और द्वेष का अभाव है उसके प्रत्याख्यान आदि का करना व्यर्थ है और जो पुरुष राग द्वेष से पूर्ण है सदा जिसकी आत्मा रागी और द्वेषी बनी रहती है उसके लिये भी प्रत्याख्यान-व्रत आदि का आचरण करना व्यर्थ है क्योंकि राग द्वेष की मौजूदगी में व्रत तप आदि का पालन कार्यकारी नहीं, उनसे मुक्ति न होकर संसार ही होता है इसलिए जो पुरुष विद्वान हैं व्रत तप आदि आचरण कर अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे अवश्य राग द्वेष का सर्वथा त्याग कर दें।।७१।।

सर्वत्र यः सदोदास्ते, न च द्वेष्टि न रज्यते।
प्रत्याख्याना-दतिक्रांतः, स दोषाणा-मशेषतः।।७२।।
रागद्वेष से विरहित हैं जो, उदासीन सर्वत्र स्वभाव।
प्रत्याख्यान के द्वारा दोषों, से विरहित हों उनके भाव।।७२।।

अर्थ—जो महानुभाव सर्वत्र उदासीन भाव रखता है तथा न किसी पदार्थ में द्वेष करता है और न राग, वह महानुभाव प्रत्याख्यान के द्वारा समस्त दोषों से रहित हो जाता है।

भावार्थ—स्त्री पुरुष धन धान्य आदि समस्त पदार्थों में उदासीन भाव रख, इष्ट पदार्थों में राग और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष न कर जो महानुभाव व्रत तप आदि प्रत्याख्यान का पालन करता है वह मनुष्य समस्त दोषों से रहित हो जाता है।।७२।।

रागिणः सर्वदा दोषाः, संति संसारहेतवः।
ज्ञानिनो वीतरागस्य, न कदाचन ते पुनः।।७३।।
रागी को संसार के कारण, दोष सदा होते उत्पन्न।
वीतरागी ज्ञानी जो उनके, दोष नहीं होते तत्जन्य।।७३।।

अर्थ—जो पुरुष रागी हैं उनके सदा संसार के कारण दोष उत्पन्न होते रहते हैं और जो वीतराग ज्ञानी हैं उनके कोई दोष उत्पन्न नहीं होता।

भावार्थ—संसार के कारण राग द्वेष आदि भाव हैं इसलिये वे सदा जिसके हुआ करते हैं उसे सदा संसार में ही घूमना पड़ता है और जो पुरुष ज्ञानवान वीतराग हैं उनके राग आदि दोष उत्पन्न नहीं होते इसलिये उन्हें संसार में नहीं घूमना पड़ता किंतु समस्त कर्मों का सर्वथा नाश कर वे निर्वाण धाम में जा विराजते हैं और वहां पर निराकुलतामय सुख का अनुभव करते हैं।।७३।।

जीवस्यौदयिको भावः, समस्तो बंधकारणं।
विमुक्तिकारणं भावो, जायते पारिणामिकः।।७४।।

जीवों के सब भाव औदयिक, कर्म बंध के कारण जान।
पारिणामिक हैं भाव मोक्ष के, कारण अतिशयकारी मान।।७४।।

अर्थ—जीव के समस्त औदयिक भाव कर्म बंध के कारण हैं और परिणामिक भाव मोक्ष के कारण हैं।

भावार्थ—जो भाव कर्मों के उदय से हों उन्हें औदयिक कहते हैं तथा वे मनुष्यगति, देवगति, नरकगति और तिर्यञ्च गति ये चार गति, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग, नपुंसक लिङ्ग ये तीन वेद, मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयत इसप्रकार इक्कीस हैं जब तक इन कर्मों का जीव के उदय रहता है तब तक सदा इसके कर्मों का बंध होता रहता है परंतु अभव्यत्व को छोड़कर जीवत्व, भव्यत्व आदि जो जीव के परिणामिक भाव हैं वे कर्मों की उदय आदि की उपेक्षा नहीं रखते उनसे कर्मबंध नहीं होता वे मोक्ष के कारण हैं।।७४।।

विषयानुभवं बाह्यं, स्वात्मानुभव-मांतरं।
विज्ञाय प्रथमं हित्त्वा, स्थेय-मन्यत्र सर्वतः।।७५।।

विषय जन्य सुख बाह्य आत्म के, अनुभवमय अंतर सुख जान।
बाह्य सुखों को त्याग सर्वथा, अंतरंग सुख पाएँ महान्।।७५।।

अर्थ—जो सुख विषयजन्य है वह बाह्य सुख है और आत्मा के अनुभव से जन्य है वह अंतरंग सुख है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे बाह्य सुख का सर्वथा त्याग कर अंतरंग सुख में स्थिति करें।

भावार्थ—सुख दो प्रकार का है एक बाह्य, दूसरा अंतरंग। जिस सुख की उत्पत्ति स्पर्श रस आदि इंद्रियों के भोगों के भोगने से होती है वह बाह्य सुख है और जो विशुद्ध आत्मा के अनुभव से प्राप्त होता है वह आत्मिक-अंतरंग सुख है। इनमें बाह्य सुख दुखकारी है क्योंकि उससे पीछे अनंत दुःख भोगने पड़ते हैं और विनाशीक है इसलिये वह त्यागने योग्य है तथा अंतरंग सुख अविनाशी है और उस सुख की प्राप्ति से आत्मा सुखमय हो जाती है इसलिये वह ग्रहण करने योग्य है।।७५।।

ज्ञानं वैषयिकं पुंसः, सर्वं पौद्गलिकं मतं।
विषयेभ्यः परावृत्त-मात्मीय-मपरं पुनः।।७६।।
पौद्गलिक है ज्ञान वैषयिक, इंद्रिय रहित आत्मिक ज्ञान।
प्राप्त करें जो जग के प्राणी, ध्याएँ वीतराग विज्ञान।।७६।।

अर्थ–जो ज्ञान वैषयिक है इंद्रियजन्य है वह समस्त पौद्गलिक है और जो ज्ञान विषयों से परावृत्त है–इंद्रियों से जन्य नहीं है वह आत्मिक ज्ञान है।

भावार्थ–यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान चैतन्यस्वरूप है वह पुद्गलस्वरूप नहीं हो सकता तथापि ज्ञान की वैभाविक परिणति होने के कारण और उसकी उत्पत्ति में पुद्गलरूप इंद्रियां कारण हैं इसलिये उसे व्यवहार से पुद्गलस्वरूप कह दिया है जैनसिद्धांत में मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से ज्ञान-सम्यग्ज्ञान पांच प्रकार का माना गया है उसमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इंद्रियजनित हैं इसलिये ये कथंचित्-व्यवहार नय से पौद्गलिक हैं। अवधि मन: पर्यय और केवलज्ञान आत्मसापेक्षी हैं–उनमें इंद्रियों की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती इसलिये ये आत्मिक ज्ञान हैं। उनमें भी वास्तविक आत्मिकज्ञान केवलज्ञान है क्योंकि अवधि और मन: पर्ययज्ञान का विषय विकल है-सीमा को लिये हुए है और केवलज्ञान का विषय सकल है स्थूल सूक्ष्म यावत् पदार्थ केवलज्ञान से जान लिये जाते हैं।।७६।।

गवां यथा विभेदेऽपि, क्षीरभेदो न विद्यते।
पुंसां तथा विभेदेऽपि, ज्ञानभेदो न विद्यते।।७७।।
भेद गायों में होने पर भी, दूध में होता भेद नहीं।
पुरुषों में भी भेद होय पर, ज्ञान में न हो भेद कहीं।।७७।।

अर्थ–गौओं के आपस में भेद रहने पर भी जिस प्रकार दूध में भेद नहीं रहता-काली पीली सब गायों का दूध श्वेत और मिष्ट ही होता है उसीप्रकार पुरुषों के भेद रहने पर भी ज्ञान में भेद नहीं-सदा उसका जानना स्वभाव स्थिर ही रहता है।

भावार्थ–यद्यपि गौ काली पीली खंडी मुंडी आदि अनेक प्रकार की होती हैं परंतु उन सबका दूध श्वेत और मिष्ट रहता है यह कभी नहीं होता कि उनका दूध भी काला पीला लाल हो जाय उसी प्रकार पुरुष भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के भेद से वा काना कुबड़ा बूचा आदि के भेद से अनेक प्रकार के होते हैं परंतु उनके ज्ञानों में भेद नहीं आता सबके ज्ञानों में जानना रूप शक्ति विद्यमान रहती है।।७७।।

विज्ञाय दीपतो द्योत्यं, यथा दीपो व्यपोह्यते।
विज्ञाय ज्ञानतो ज्ञेयं, तथा ज्ञानं व्यपोह्यते।।७८।।
ज्यों पदार्थ को ज्ञान दीप से, उसका कर देते परित्याग।
ज्ञान से जान पदार्थ ज्ञानका, भी कर देते हैं परित्याग।।७८।।

स्वरूप-मात्मनः सूक्ष्म-मव्यपदेश-मव्ययं।
तत्र ज्ञेयं परं सर्वं, वैकारिक-मपोह्यते।।७९।।
ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, सूक्ष्म और व्यपदेश विहीन।
अविनाशी आतम में रहता, वैकारिक हो इंद्रियाधीन।।७९।।

अर्थ—यद्यपि जिसप्रकार दीपक से पदार्थ को जानकर उसका (दीपक का) त्याग कर दिया जाता है उसी प्रकार ज्ञान से पदार्थ को जानकर ज्ञान का भी त्याग कर दिया जाता है—तथापि जो ज्ञान आत्मा का स्वरूप सूक्ष्म व्यपदेश रहित और अविनाशी है वह तो आत्मा में विद्यमान रहता है और जो वैकारिक ज्ञान है इंद्रियों के साहाय्य से उत्पन्न होता है उसका त्याग कर दिया जाता है।

भावार्थ—एक तो शुद्ध ज्ञान रहता है और दूसरी उसकी पर्यायें होती हैं। जो शुद्ध ज्ञान होता है वह आत्मा का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म भेदरहित अर्थात् सिवाय अखंड ज्ञान के जिसका कोई अन्य भेद नहीं हो सकता ऐसा और अविनाशी है तथा सदा वह आत्मा में विद्यमान रहता है इसलिये जिसप्रकार दीपक से पदार्थों का ज्ञान कर उसे छोड़ दिया जाता है उस प्रकार ज्ञान से पदार्थों को जानकर जिस ज्ञान को छोड़ा जाता है वह यह ज्ञान नहीं किंतु जो ज्ञान इंद्रिय आदि की सहायता से होने वाला विकृत है वह ज्ञान है। अर्थात् विकृतज्ञान से पदार्थों को जानकर जिस समय स्वस्वरूपज्ञान का अवलंबन करते हैं उस समय विकृतज्ञान छूट जाता है।।५८-७९।।

(शालिनी छन्द)

स्कंधच्छेदे पल्लवाः संति भूयो, मूलच्छेदे शाखिनस्ते तथा नो।
देशच्छेदे संति भूयो, विकारा मूलच्छेद जन्मनस्ते तथा नो।।८०।।
ज्यों स्कंध नष्ट होते तरु, में पल्लव होते उत्पन्न।
मूल नाश होते पल्लव फिर, हों उत्पन्न नहीं कोई अन्य।।
एक देश संसार नाश से, हो विकार उत्पत्तीवान।
नाश होय संसार (पूर्णतः) सर्वथा, न विकार हो कोई आन।।८०।।

अर्थ—जिसप्रकार वृक्ष के स्कंधभाग के नष्ट हो जाने पर फिर पल्लव उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु मूल से उसके नष्ट हो जाने पर फिर पल्लव नहीं होते उसी प्रकार संसार के एक देशरूप से नष्ट होने पर तो फिर विकार उत्पन्न हो जाते हैं परंतु जिससमय संसार का सर्वथा नाश हो जाता है उस समय कोई विकार उत्पन्न नहीं होता।

भावार्थ—देखने में आता है कि वृक्ष का बीच से स्कंध काट देने पर फिर उसमें पल्लव ऊग आते हैं और बढ़ते-बढ़ते वे इतने बढ़ जाते हैं कि किसी समय पूर्ववृक्ष के समान ही विशालरूप धारण कर लेते हैं उसी प्रकार संसार के एक देश को नष्ट भी कर दिया अर्थात् शुभकर्म के उपार्जन करने वाले तप आदि के करने से अशुभ पर्याय का नाशकर मनुष्य आदि उत्तम गति और उत्तम गोत्र आदि में जन्म भी धारण कर लिया तो भी वहां पापवर्धक क्रियाओं के आचरण करने से फिर अनेक गतियों में घूमना पड़ता है और अनेक प्रकार के घोर से घोर दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये शुभ अशुभ दोनों का नाश करना कार्यकारी है।।८०।।

(स्त्रग्धरा छन्द)

देशच्छेदे? (दश्च) चरित्रं भवति भवततेः कुर्वतश्चित्ररूपं
मूलच्छेदे? (दो) विविक्तं वियदिव विमलं ध्यायति स्वस्वरूपं।
विज्ञायेत्थं विचिंत्यं सदमितगतिभिस्तत्त्वमंतः समग्र्यं
संप्राप्तासन्नमार्गा न परमिह पदप्राप्तये यांति मार्गं।।८१।।

आत्मध्यान से भिन्न चरित धर, भव संतति का देशच्छेद।
आत्म स्वरूप ध्यान से होता, भव्य जीव के मूलच्छेद।।
ऐसा सोच ज्ञान के धारक, अंतर स्थित आतम का ध्यान।
करें भव्य जो सुलभ निकट पथ, प्राप्त होय इच्छित स्थान।।८१।।

अर्थ—आत्मध्यान से भिन्न चारित्र के आचरण करने से जीव के संसार की परंपरा का देशच्छेद-एकदेश नाश होता है और आकाश के समान निर्मल कर्ममल से रहित आत्मस्वरूप का ध्यान करने से उस संसार का मूलच्छेद-सर्वथा नाश हो जाता है ऐसा विचारकर जो श्रेष्ठ ज्ञान के धारक महानुभाव हैं उन्हें चाहिये कि वे अपने अंतरंग में ही विराजमान आत्मतत्त्व का ध्यान करें क्योंकि जिन महापुरुषों को अपने अभीष्ट स्थान की प्राप्ति का सुलभ सन्निकट मार्ग मिल जाता है वे अन्य मार्ग पर गमन नहीं करते।

भावार्थ—पहले श्लोक में यह बतला आये हैं कि देशच्छेद होने पर तो फिर ज्यों का त्यों संसार हो जाता है और मूलच्छेद होने पर सर्वथा नहीं होता। अब इस श्लोक में देशच्छेद में कारण

तो चित्ररूप चारित्र कहा है और मूलच्छेद में शुद्धात्मध्यान बतलाया है इसलिये जिस प्रकार समीप का सीधा सच्चा मार्ग मिल जाने से कोई क्लिष्ट दूर के झूँठे मार्ग पर नहीं जाता उसी प्रकार अपने अंतरंग में ही विराजमान आत्मा के स्वरूप का ध्यान करने से ही जब संसार का नाश करने वाला मोक्षमार्ग मिल जाता है तब अन्य चारित्र का विद्वानों को आचरण न कर आत्मध्यान करना चाहिये और विशद मोक्ष के राही बनना चाहिए।।

(शार्दूल विक्रीडित छन्द)

दृष्ट्वा बाह्यमनात्मनीन-मखिलं मायोपमं नश्वरं,
ये संसार महोदधिं बहुविधक्रोधादि नक्राकुलं।
तीर्त्वा यांति शिवास्पदं शिवमयं ध्यात्वात्मतत्त्वं स्थिरं
तेषां जन्म च जीवितंच सफलं स्वार्थैकनिष्ठात्मनां।८२।।

जो विषयादि के बाह्य पदार्थों, को अनात्म इन्द्र जाल समान।
विनाशीक झूठे क्रोधादिक, नाना नक्रों व्याप्त प्रधान।।
यह संसार समुद्र तैरकर, निश्चल विशुद्ध आत्मस्वरूप।
ध्याकर मोक्ष प्राप्त करते जो, जीवन जन्म सफल निजरूप।।८२।।

अर्थ—महानुभाव विषय आदि समस्त बाह्य पदार्थों को अनात्मस्वरूप, इंद्रजाल की माया के समान झूठे और विनाशी के देखकर क्रोध आदि नानाप्रकार के नाकों से व्याप्त संसार रूपी महासमुद्र को तैरकर और निश्चल विशुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यानकर कल्याणमय मोक्षस्थान को प्राप्त करते हैं उन्हीं स्वरूप में स्थिति रखने वालों का जन्म और जीवन सफल है अन्य का नहीं।

भावार्थ—जबतक विषय आदि बाह्य पदार्थों में यह ज्ञान नहीं होता कि वे निज नहीं, पर हैं इंद्रजाल से बनाये हुये नगर आदि के समान झूठे और विनाशीक हैं तब तक संसार से उदासीनता नहीं होती। जब तक संसार से उदासीनता नहीं होती तबतक क्रोधादि कषायों के जीतने में प्रवृत्ति नहीं होती। जब तक क्रोधादि नहीं जीते जाते तब तक आत्मा के शुद्धस्वरूप का चिन्तवन नहीं किया जा सकता और बिना शुद्धात्मा के स्वरूप के चिन्तवन के निराकुलतामय मोक्षसुख नहीं प्राप्त हो सकता इसलिये जो महापुरुष विशुद्ध आत्मस्वरूप के भक्त हैं अपनी आत्मा को समस्त कर्मों से रहित विशुद्ध बनाना चाहते हैं और अपना जीवन सफल करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे विषय आदि बाह्य पदार्थों को पर, झूठे और विनाशीक मानकर, क्रोध आदि दुर्भावों के स्थान संसार का सर्वथा त्याग कर दें और विशुद्ध आत्मतत्त्व का भले प्रकार चिन्तवन करें।।८२।।

दृष्ट्वा सर्वं गगननगरस्वप्नमायोपमानं, निस्संगात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारं।
ब्रह्मप्राप्त्या परमकृतं स्वेषु चात्मप्रतिष्ठं, नित्यानंदं गलितकलिलं सूक्ष्ममत्यक्षलक्ष्यं।।८३।।

अमतिगति यति ने सांसारिक द्रव्यों को आकाश नगर।
इन्द्रजाल है द्रव्य स्वप्न सम, ब्रह्म प्राप्ति को लिए प्रखर।।
योगसार यह ग्रंथ रचा है, परम पवित्र है आत्म स्वरूप।
आत्मानंद प्रदायक अनुपम, सूक्ष्म अतीन्द्रिय आतमरूप।।८३।।

अर्थ—यति अमितगति ने समस्त सांसारिक पदार्थों को आकाश का नगर, स्वप्न के पदार्थ, और इंद्रजाल में दिखाये हुये पदार्थों के समान देखकर ब्रह्म प्राप्ति के लिये इस योगसार ग्रन्थ का निर्माण किया है जो कि परमपवित्र है आत्मस्वरूप का सदा आनंद प्रदान करने वाला निर्दोष सूक्ष्म और अतींद्रिय-आत्मा के दृष्टिगोचर है।

भावार्थ—योगसार का अर्थ शुद्धात्मा भी है और यह योगसार ग्रन्थ भी है तथा जिस प्रकार शुद्धात्मा उत्कृष्ट है, स्व स्वरूप में प्रतिष्ठित है, नित्यानंद स्वरूप, समस्त कर्ममलों से रहित, अत्यंत सूक्ष्म, और अतींद्रिय ज्ञानी सर्वज्ञ ही उसके स्वरूप को जान सकते हैं अन्य नहीं ऐसा है उसी प्रकार यह योगसार ग्रन्थ भी उत्कृष्ट है, आत्मस्वरूप का बतलाने वाला है नित्य आनंद प्रदान करने वाला निर्दोष और गहन है एवं विशेष ध्यान देने से इसका स्वरूप समझ में आता है सो ऐसे इस परम पवित्र योगसार ग्रन्थ का संसार के समस्त भोगों को आकाश में बादलों से बने हुये नगर के समान, स्वप्न में देखे हुये पदार्थ और इंद्रजाल से दिखाये हुये पदार्थों के समान झूठे और असत्य मानकर उनसे विरक्त होने के लिये और चिदानंद चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के लिये यतिराज अमितगति ने निर्माण किया है।।८३।।

(बैतालीए छन्द)

योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानसः।
स्वस्वरूपमुपलभ्य सोऽचितं सद्म याति भवदोषवंचितं।।८४।।

अर्थ—निर्मल चित्त का धारक होकर जो महानुभाव एकाग्रचित्त से इस योगसार ग्रन्थ को पढ़ता है वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होकर परम पवित्र और संसार के समस्त दोषों से रहित मोक्षरूपी महल को प्राप्त करता है।

भावार्थ—योगसार ग्रन्थ के अभ्यास से पदार्थों का वास्तविक ज्ञान होता है पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से संसार से विराग और शुद्धात्मा में प्रेम होता है और उससे समस्त कर्मों का नाश और मोक्ष की प्राप्ति होती है।।८४।।

इसप्रकार श्रीमान् अमितगति आचार्यविरचित श्री विशदसागराचार्य अनुवादित योगसार (अध्यात्मतरंगिणी) ग्रंथ में नवमाधिकार समाप्त हुआ।।९।।

❑❑